ISSN-2394-2355

समास

आशीष नन्दी
हिरेन भट्टाचार्य
कुमार शहानी
रमेशचन्द्र शाह
वागीश शुक्ल
मोतीलाल शास्त्री
जे. कृष्णमूर्ति
सागरमय घोष
ख़ालिद जावेद
जय गोस्वामी
रामशंकर द्विवेदी
ध्रुव शुक्ल
अमित दत्ता
मोनालिसा जेना
सुधाकर यादव
रश्मि रामानी
रिज़वानुल हक़
मिथिलेशशरण चौबे
गोरख थोराट
किशोर कुमार जैन
अपराजिता डेका
दुष्यन्त
पूनम अरोड़ा
राहत सुल्ताना

समास, प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी द्वारा द रज़ा फाउण्डेशन, सी-४/१३६, सफदरजंग डेवलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित। मुद्रक : भण्डारी ऑफसेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.) सम्पादक : उदयन वाजपेयी
Samas, A literary Quarterly Magazine, Language : Hindi, Published by Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation, C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016 Edited by Udayan Vajpeyi.

यहाँ से काटिए

समास की सदस्यता ग्रहण करें

सम्पादक
समास
नयी दिल्ली

प्रिय महोदय,
समास के एक वर्ष (४ अंक+डाक व्यय) ४००/- तीन वर्ष (१२ अंक) १२४०/- पाँच वर्ष (२० अंक) २२००/- रुपये का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ। या यह धनराशि 'समास' के खाते (स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया-६५१६७३२८५०७) में जमा करवाकर नीचे लिखे ईमेल पर सूचित कर दें। (अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के ४०/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफोन नं. .....
ईमेल : .....

(चेक/ड्राफ्ट- समास के नाम पर बनाएँ जो नयी दिल्ली में देय हो और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें)

प्रबन्धक - संजीव चौबे
रज़ा फाउण्डेशन, सी-4
139, सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16
ईमेल - <razafoundation.delhi@gmail.com>
टेलीफ़ोन : 9425674851, 9810166953

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/8 ब्रिटिश पाउण्ड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 पाउण्ड

समास

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

द रज़ा फाउण्डेशन |THE RAZA FOUNDATION

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 2018
वर्ष-१, अंक-१
टाईटल कोड : DELHIN28638

त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी,
द रज़ा फाउण्डेशन, सी-४/१३६ सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16
फ़ोन- +91–11–46526269
सम्पादक : उदयन वाजपेयी

सहयोग : संगीता गुन्देचा
आवरण : अखिलेश का रेखांकन

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ 90/45 तुलसी नगर, भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन : +91-755-2556940, +91-9753882343
ईमेल - <udayanvajpeyi@gmail.com>

Samas, A literary Quarterly Magazine
Editor : Udayan Vajpeyi
Language : Hindi

Published by : Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation,
C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016

मूल्य : 80 रुपये

कम्पोज़िंग : मनोज कुमार डेकाटे
मुद्रण : भण्डारी ऑफ़सेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

समास

सम्पादकीय

बातचीत

आधुनिक भारत की आधारशिलाएँ ०१
आशीष नन्दी से उदयन वाजपेयी की बातचीत

कविताएँ

खुदा की आत्मकथा - कुमार शहानी ४६
असल अनन्त - अमित दत्ता ५०
मैं जहाँ भी रहूँ - मोनालिसा जेना ७८
हिरेन भट्टाचार्य की कविताएँ ६०
कविताएँ - पूनम अरोड़ा ६६

कहानियाँ

आख़िरी दावत - ख़ालिद जावेद ११४
ज़िन्दों के लिए एक ताज़ियतनामा - ख़ालिद जावेद १३५
संशोधन या काटाकूटी - जय गोस्वामी १५७

निबन्ध

भारतीय उपन्यास की अवधारणा - वागीश शुक्ल १८८
कैसे प्रकाशित हुई पथेर पाँचाली - सागरमय घोष २०५
चित्रमय भारत - सुधाकर यादव २१७

व्याख्यान

सम्वत्सरमूला-अग्नीषोमविद्या - मोतीलाल शास्त्री २६६
अद्वैत का विस्तार और संसार - ध्रुव शुक्ल ३००

डायरियाँ

नोटबुक्स - जे. कृष्णमूर्ति ३१०

समीक्षा

दो समीक्षाएँ - मिथिलेशशरण चौबे ३५५

लेखक परिचय

३६८

सम्पादकीय

इस वर्ष मार्च की शुरुआत में देश के अत्यन्त गहन दार्शनिक नवज्योति सिंह का देहावसान हो गया। उनकी जाने की उम्र नहीं थी। वे अपने अन्तिम समय तक दर्शन में अपने काम को आगे बढ़ाने का प्रयास करते रहे। वे उन बिरले आधुनिक दार्शनिकों में थे जिन्होंने पूरी गम्भीरता से अपने शिष्यों की एक पीढ़ी को तैयार किया। उनके सभी शिष्य अलग-अलग क्षेत्रों में चिन्तनशील हैं। यह इसलिए हो सका क्योंकि नवज्योति ने अपने दार्शनिक चिन्तन का कई दिशाओं में विस्तार किया था। उनका काम मुख्यतः वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र में था पर उन्होंने इस दार्शनिक परम्परा के सहारे कला और साहित्य के दार्शनिक आधार विकसित करने का जो प्रयास किया, वह शायद ही कहीं हुआ है। उन्होंने कला और साहित्य को देश-काल से उनके सम्बन्ध के आधार पर विभाजित कर उनकी आन्तरिकता को समझने की कोशिश की थी। उन्होंने यह कहा कि कलाएँ या तो क्रमिक होती हैं या संक्रमिक। क्रमिक कलाओं का उदाहरण संगीत, साहित्य, सिनेमा, नृत्य आदि हैं। संक्रमिक कलाएँ उन्हे कहा जाता है जो समय में नहीं खुलती बल्कि जो एक क्षण में ही पूरी-की-पूरी प्रेक्षक के सामने होती हैं। वे इन कलाओं में चित्रकला, शिल्प, वास्तु आदि की गणना करते थे। पिछले आठ वर्षों में उन्होंने इन दो तरह की कलाओं के अपने अस्तित्वगत नियमों की समझ को प्रस्तावित किया था। यह बड़े आश्चर्य और दुःख का विषय है कि उनके जीवनकाल में उनकी केवल एक पुस्तक प्रकाशित हो सकी। यह पुस्तक उनसे 'समास' के सम्पादक की उस बातचीत का पुस्तकाकार हो जाना है जो तीन वर्ष पहले 'समास-६' में प्रकाशित हुई थी। यह तथ्य कि नवज्योति सिंह के स्तर के श्रेष्ठ भारतीय दार्शनिक की पुस्तक प्रकाशित नहीं हो पायी और इस तरह उनके दार्शनिक अन्वेषणों से सामान्य और विशिष्ट पाठकों का आत्मीय सम्बन्ध नहीं बन पाया, हमारी समकालीन संस्कृति के एक ऐसे पक्ष को उजागर करता है जिस पर हमें चिन्तन करने की आवश्यकता है। यह याद रहे कि नवज्योति ने अपना दार्शनिक विवेचन बहुत हद तक पारम्परिक शास्त्र चिन्तन के दायरे में रहकर किया था। शायद यही कारण रहा हो कि उनका चिन्तन हमारे विश्वविद्यालयों के पश्चिमी दार्शनिक स्कूलों से अभिभूत दर्शन विभागों में अपरिचित ही बना रहा। सम्भवतः हममें अपनी परम्परा में नवीन सृजन करने और उसे लक्षित कर पाने की सामर्थ्य जाती रही है। वरना न सिर्फ़ दर्शन विभागों में बल्कि कला और साहित्य के संस्थानों में भी नवज्योति के चिन्तन का गम्भीरता से अध्ययन किया जाना चाहिए था। हमें यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि हमारी इस बौद्धिक जड़ता के क्या-क्या कारण हैं। ऐसा ही कुछ सलूक कुछ वर्ष पहले तक जीवित अद्वितीय इतिहासकार धर्मपाल के साथ भी हुआ है। मुझे लगता नहीं कि भारत का एक भी ऐसा विश्वविद्यालय होगा जहाँ धर्मपाल को पढ़ाया जाता या उन पर गम्भीर शोध किया जा रहा हो।

इसका मुख्य कारण जो मुझे सूझ पड़ता है, वह यह है कि शायद हमें अपनी विचार सामर्थ्य पर भरोसा ही नहीं रहा है। हम इतने समय तक अपने विचारों से कटे रहे हैं कि अब वे विचार भी हमें अजनबी जान पड़ने लगे हैं, जो हमारी दैनन्दिन जीवनचर्या में सहज रूप से लक्षित किये जा सकते हैं। औपनिवेशिक काल में हमारी तमाम ज्ञान परम्पराओं का जो विसंस्थानीकरण हुआ था, वह कमोबेश आज तक क़ायम है। हमारे शिक्षाविदों ने हमारी अपनी ज्ञान परम्पराओं की उतनी ही अवहेलना की है जितनी अँग्रेज़ी शासन ने अपनी विशिष्ट नीति के चलते की थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमें उनका पुर्नवास करना चाहिए था, जिसका अर्थ यह नहीं है कि हम यह पुर्नवास बिना अपने आलोचकीय दृष्टि के करते। उसके स्थान पर हमने इन दृष्टियों का आधुनिक विचारों के आलोक में पुनर्विन्यास किया और उन्हे अपने से और दूर कर लिया। होना यह चाहिए था कि हमारी शिक्षा संस्थाएँ भारत की पारम्परिक ज्ञान परम्पराओं के अन्य ज्ञान परम्पराओं से संवाद का स्थल बनती। अगर हम वैसा कर सके होते तो हम अपनी ज्ञान विधाओं और अन्य आधुनिक ज्ञान विधाओं को अलग-अलग खानों में रखने के स्थान पर उन्हे एक दूसरे से बात करता हुआ पा सकते थे। इससे ये सभी धाराएँ कहीं अधिक समृद्ध हो सकी होतीं और हम अपनी ज्ञान परम्पराओं को, उन्हे जाने बिना पूजा-अर्चना करने की जगह भीतर से कहीं अधिक उर्जस्वित कर सके होते। इस स्थिति में हमारे दैनन्दिन कर्म और विचारों के बीच की वह खाई, जो हमें सक्रिय होने से रोके रखती है, किसी हद तक मिट सकी होती। अगर आज भारतीय ज्ञान परम्पराओं की ओछी व्याख्याओं के सहारे हिंसा की जा रही है, तो इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि हमने अब तक अपनी इन दृष्टियों को अपने शैक्षिक कार्यक्रमों से दूर रखा हुआ है।

७ जुलाई, २०१८

उदयन वाजपेयी

आधुनिक भारत की आधारशिलाएँ

आशीष नन्दी से उदयन वाजपेयी की बातचीत

वर्ष १९३७ को भागलपुर में जन्मे आशीष नन्दी देश के श्रेष्ठ विचारकों में एक हैं। वे राजनैतिक मनोविश्लेषक, समाजशास्त्री और आधुनिकता के समर्थ आलोचक हैं। आशीष नन्दी ने कलकत्ते में चिकित्सा शिक्षा को बीच में ही छोड़कर नागपुर के हिसलॉप महाविद्यालय से समाज विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद उन्होंने अहमदाबाद के डी.एम. संस्थान से क्लिनिकल मनोविज्ञान में शोध किया है। उसके बाद वे दिल्ली आ गये और वहाँ लम्बे समय तक विकासशील समाज अध्ययन पीठ में फैलो और बाद में उसके निदेशक रहे। आशीष नन्दी ने पिछले अनेक दशकों में उपनिवेशोत्तर भारतीय समाज की आत्म पहचान के तत्त्वों को रेखांकित करने का एक ऐसा सैद्धान्तिक उपक्रम किया है जो अपने आप में अनूठा है। उन्होंने महात्मा गाँधी, सती प्रथा, वैकल्पिक विज्ञान, फ्रॉयड, राष्ट्रवाद, लोकप्रिय सिनेमा, क्रिकेट आदि विविध विषयों पर अद्वितीय लेखन किया है। वे सम्भवतः भारत के सबसे अधिक पढ़े और सुने जाने वाले विचारक हैं। उनकी लिखी इन्टिमेट एनिमी (आत्मीय शत्रु) अब कालजयी ग्रन्थ मानी जाती है। इसके अलावा भी उनकी पन्द्रह से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं। आशीष दा दिल्ली में अपनी पत्नी उमा जी के साथ रहते हैं।

यह बातचीत फरवरी २०१८ के आख़िरी हफ़्ते में तीन दिन तक हुई है। आशीष दा के घर के सामने दो घने पेड़ हैं। उनके बीच से होकर सीढ़ियाँ जाती हैं जो आशीष दा के दरवाज़े पर खत्म होती है। भीतर उनका कमरा पुस्तकों से भरा हुआ है। एक गोल टेबल के पास बैठकर जब हम बात कर रहे होते, खिड़की के बाहर पत्तों से छनकर आती दोपहर की धूप हमारे ऊपर गिरती रहती। आशीष दा उन बिरले विचारकों में है जो निरन्तर सोचने की प्रक्रिया में जीते हैं इसीलिए वे जितना सोचा हुआ बोलते हैं उतना ही बोलते हुए सोचते भी हैं। शायद यही कारण है कि उनसे की गयी कोई भी बातचीत हमेशा ही नयी महसूस होती है।

उदयन– आपने कोलकाता के अपने आरम्भिक जीवन में साहित्य की कौन-सी पुस्तकें पढ़ीं थीं और उनके सहारे आपकी अपने परिवेश की क्या समझ बनी थी, अपने शहर की और देश की समझ ? जीवन के आरम्भ में साहित्य ने आपके भीतर किस तरह की कल्पनाओं को जन्म दिया था।

आशीष नन्दी– यह बता पाना बहुत मुश्किल है। मैं सबकुछ पढ़ता था, दीवानों की तरह पढ़ता था। एक विशेष सीमा के बाद मध्यवर्गीय परिवारों में कुछ बन्दिशें होती हैं। मेरा परिवार बहुत पढ़ा-लिखा था। सभी पढ़ते थे। सभी प्रतिभावान छात्र रहे थे अलावा पिता के। मेरी माँ अत्यन्त प्रतिभावान थी। मेरी दो बुआओं में से एक

बहुत होशियार थीं, दूसरी भी होशियार ही थी पर उनकी प्रतिभा अनपहचानी ही रह गयी क्योंकि उनकी प्रतिभा चित्रकला में थी। वे अवनीन्द्रनाथ टैगोर की छात्रा थीं। उनके केवल दो चित्र बचे, किसी दिन तुम्हें मैं दिखाऊँगा। तुम यह देख पाओगे कि उनमें बंगाल स्कूल की छाप है। उन चित्रों के कौशल से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कितनी प्रतिभावान थीं। पर मैं कुछ और कह रहा हूँ, वह यह है कि पढ़ना हमारे यहाँ सामान्य बात थी जैसा कि बंगाल के सभी मध्यवर्गीय घरों में थी। हमारे घर में पुस्तकालय था, स्कूल में भी था, जहाँ से हम किताबें ले सकते थे और हमें ऐसा करने प्रोत्साहित भी किया जाता था। मेरे पिता वाय.एम.सी.ए. के सचिव थे, वहाँ के पुस्तकालय से भी हम किताबें ले सकते थे। हम लोग ब्रिटिश काउंसिल लायब्रेरी और अमेरिकन सेण्टर के पुस्तकालय के भी सदस्य थे। किताबों का पढ़ना चलन में था। कोलकाता के कॉफ़ी हॉउस भी संस्कृति के अड्डे थे। वहाँ प्रेसीडेन्सी कॉलेज के छात्र आया करते थे। मेरे भाई उसमें पढ़ते थे। मैं मेडिकल कॉलेज में पढ़ता था जो कॉफ़ी हॉउस से कुछ दूर था। इस किस्म के परिवेश में यह कहना मुश्किल है कि आपकी आधारभूत पढ़ाई किन पुस्तकों की हुई है। उस पढ़ने में चुनने का विवेक नहीं था, मैं सबकुछ पढ़ता था। अधिकतर पढ़ाई स्कूल में होती थी। जब शिक्षक कुछ पढ़ा रहे होते, मैं मेज़ के नीचे रखकर उपन्यास पढ़ता रहता था, उससे मेरे पढ़ने की गति कमाल की हो गयी। मैं पूरा उपन्यास लगभग दिनभर में पढ़ लेता था।

वैसे पढ़ने की मेरी आरम्भिक स्मृति भागलपुर की है। हमें भागलपुर के उसी स्कूल में दाखिल कराया गया था जिसमें हमारी माँ पढ़ाती थी। कोलकाता पर जापानियों ने हमला कर दिया था, इसलिए हमें सुरक्षित रहने भागलपुर जाना पड़ा था। हमारी नानी वहाँ थीं, माँ के तीन बल्कि चार भाई डॉक्टर थे। हमारा एक तरह से डॉक्टरों का परिवार था।

उदयन– आपका जन्म भी भागलपुर में ही हुआ था ?

आशीष दा– माँ की माँ के यहाँ। वह अपने पहले बच्चे के जन्म के लिए भी वहीं गयी थीं, यही रिवाज था, पूर्वी भारत में।

उदयन– मध्यभारत में भी यही है। आप कह रहे थे कि आप लोग युद्ध के दौरान भागलपुर चले आये थे।

आशीष दा– मेरी बुआएँ नागपुर में रहती थीं। वे नागपुर से भागलपुर आयीं। उनमें से एक नागपुर के विख्यात उर्सुला स्कूल की प्राचार्य थी। दूसरी बुआ वहाँ के बंगाली स्कूल की। उन दिनों नागपुर में बहुत सारे बंगाली परिवार रहा करते थे। बहरहाल, वे हमसे मिलने भागलपुर आयीं और हमारी माँ उन्हें स्कूल दिखाने ले गयीं। जब वे हमारी कक्षा में आयीं, सारे छात्र उठकर खड़े हो गये, मैं बैठा रहा। मैं बहुत भारी क़िताब पैरों पर रखकर पढ़ रहा था। वह किताब 'महाभारत' थी। मैं उसमें इतना डूबा हुआ था कि मैं खड़ा नहीं हुआ। वैसा

हो जाना मेरे लिए शर्मनाक हो गया क्योंकि न सिर्फ़ मैं कक्षा में कुछ और पढ़ते हुए पकड़ा गया, मैं उठ भी नहीं पाया था। मैं बांग्ला की वह मोटी किताब पढ़ रहा था। पर तब मैं बहुत छोटा था।

उदयन– तब आपकी क्या उम्र रही होगी ?

आशीष दा– पाँच-छः साल से अधिक नहीं।

उदयन– तब तो आप बहुत छोटे थे....

आशीष दा– शायद तभी सभी लोग हँस पड़े थे। किसी ने भी उसे गम्भीरता से नहीं लिया। उन दिनों बांग्ला भाषियों में कुछ खास रिवायतें हुआ करती थी। वे अब लगभग नहीं है या बहुत कम बाकी हैं। मिसाल के तौर पर हमें अपनी वर्षगाँठ पर उपहार में किताबें मिलती थीं और हमें भी अपने दोस्तों को उनकी वर्षगाँठ पर किताबें देने को कहा जाता था। मुझे मेरे माता-पिता ने मेरे जन्मदिन का उपहार में टैगोर की सम्पूर्ण रचनावली दी थी। तब शायद मैं चालीस बरस का था और दिल्ली आ गया था। मैंने उन्हें दफ़्तर में रखा था, घर पर इतनी जगह नहीं थी। मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूँ कि मेरे चारों ओर पढ़ने का वातावरण था। हम बिना सोचे अन्धाधुन्ध पढ़ा करते थे। ढेरों उपन्यास, कहानियाँ और कविताएँ। यह दिलचस्प है कि मुझे नाटक पढ़ने का भी शौक था जो अभी हाल तक बना रहा। नाटकों में विशेष बात यह है कि वहाँ रंगमंच पर एक तरह के मानुषी संवाद के सहारे पूरा संसार उपस्थित हो जाता है जो अन्य जगहों पर वर्णन के सहारे आता है। नाटक की यह बात आकर्षक है। इससे मुझे सिनेमा को समझने का भी रास्ता मिला। यह अवश्य है कि सिनेमा में आप अतीत में जा सकते हैं और वहाँ आप वास्तविकता को भी थोड़ा-बहुत दिखा सकते हैं। पर नाटकों में आपको मानुषी संवाद पर ही निर्भर रहना पड़ता है। मैं कविताएँ बहुत पढ़ता था, हालाँकि मेरे दोस्त ज़्यादातर उपन्यास पढ़ते थे।

उदयन– आप कॉफ़ी हाऊस में बैठने के विषय में बता रहे थे...

आशीष दा– जिस कॉफ़ी हॉउस में हम बैठते थे, वहाँ हमारे वरिष्ठ मित्र हमसे कहा करते थे कि तुमने शरच्चन्द्र तो बहुत पढ़ लिया, अब ताराशंकर और माणिक बैनर्जी को पढ़ो। मैंने दरअसल १६ वर्ष की उम्र तक शरच्चन्द्र का लिखा सबकुछ पढ़ लिया था। उनका बनाया संसार आपको पकड़ लेता है। टैगोर के उपन्यास कहीं आपके बौद्धिक प्रश्नों से बिन्धे हुए थे इसलिए वे उस उम्र में कम प्रभावित करते हैं। बाद में मैं उनकी ओर लौटा क्योंकि मेरी उनके उठाये प्रश्नों में गहरी रुचि थी, उदाहरण के लिए उनके तीन राजनैतिक उपन्यासों में उठाये प्रश्नों में। लेकिन बात ये है कि कोलकाता कॉफ़ी हॉउस में यह होता था कि कोई कहे, 'फलाँ को भूल जाओ, तुम तो अस्तित्ववादियों को पढ़ो' या 'अच्छा तुमने अस्तित्ववादियों को पढ़ लिया है तो तुम टी.एस. एलियट को पढ़ो, क्योंकि तुम्हें यह पता होना चाहिए कि तुम किसके खिलाफ विद्रोह कर रहे हो।' वे कहते कि तुम्हें स्टीफन

स्पेण्डर, डब्ल्यू.एच. ऑडन और सिसिल डे- लेविस को पढ़ना चाहिए। यह सुनकर मैं उन्हें पढ़ना शुरू कर देता। फिर मैंने कोलकाता छोड़ दिया और नागपुर आ गया। मैंने वहाँ आकर दूसरी तरह से पढ़ाई करना शुरू किया और मैंने उससे कुछ पाया भी। कोलकाता में मैं वह पढ़ता था जो मुझे कहा जाता था। मुझे तेज़ी से पढ़ना होता था। मैं टी.एस.एलियट के नाटकों को ठीक से नागपुर में समझ पाया क्योंकि मैं उन्हें वहाँ सुकून से अपनी गति से पढ़ सका। मैं संस्कृत में भी रुचि लेने लगा। इसके पहले तक वह मुझे नापसन्द थी। हालाँकि मैंने संस्कृत दसवीं कक्षा तक पढ़ी थी, मैं उसमें बहुत अच्छा नहीं था पर फिर भी उसे जानता था। मेरा भाई मनीष उसमें बेहद होशियार था। मेरे पिता भी संस्कृत पढ़े थे, वे बहुत गर्व से यह बताते थे कि उनके शिक्षक उन पर इस कारण बहुत खुश रहते थे, कुछ-कुछ इसलिए भी कि उन दिनों संस्कृत नीचे की ओर जा रही थी और एक ईसाई बालक उसमें गहरी रुचि ले रहा था। मेरे पिता से उनके शिक्षक संस्कृत में सवाल पूछते थे और वे उसी में जवाब देते थे। वे यह बात हमें बड़े गर्व से बताते थे।

उदयन- क्या आप कॉफ़ी हॉउस में किन्हीं खास लोगों के साथ बैठते थे, क्या उन लोगों से आपकी किसी हद तक पक्की दोस्ती हो गयी थी ?

आशीष दा- वहाँ मेरे बहुत दोस्त नहीं थे, कुछ इसलिए भी कि मैं मेडीकल कॉलेज में पढ़ता था। कॉफ़ी हाउस में अधिकांश लोग प्रेमीडेंसी कॉलेज के होते थे। एक व्यक्ति मेरे निकट थे और जो बाद तक भी वैसे ही रहे आये : अम्लान दत्ता। वे ग़ैर मार्क्सवादी थे और मैंने तब भी यह देखा था कि उनके साथ कैसा बर्ताव किया जाता था और मैंने यह सोचा था कि विचारधारा में ऐसा कुछ ज़रूर है जो ग़लत है क्योंकि वह किसी युवक को बौद्धिक तर्कों का कायरता से जवाब देने प्रेरित कर सकती है। मसलन जब हम कॉफी हॉउस में बैठे होते, कोई हमारे पास से निकलता हुआ, अम्लान दत्ता की तरफ़ अपनी कोहनी को इस तरह बढ़ा देता कि उसकी चाय मेज़ पर फैल जाती। वे कभी इसका जवाब नहीं देते थे। इससे कोहनी मारने वाले को निराशा ही होती होगी। ऐसी हरकत करने वालों में कई मर्तबा छात्र हुआ करते थे। यह चीज़ मुझे चुभती थी। वहाँ उत्पल दत्त भी आया करते थे और भी ऐसे कई लोग वहाँ आते थे, जो बाद में प्रसिद्ध हुए। अम्लान के साथ होती हरकतों पर मेरे भाई मनीष को भी पीड़ा होती थी। वह उन दिनों मार्क्सवादी था। मेरे दोनों भाई वही थे। लेकिन वे ऐसे अपने मित्रों के कारण हो गये थे।

उदयन- क्या आप भी कभी मार्क्सवादी रहे हैं ?

आशीष दा- जब मैं मेडीकल कॉलेज में था, दो-एक बरस के लिए उनके क़रीब था। यह भी शायद साथियों के कारण ही था। तीन बरस बाद मैं नागपुर चला गया। नागपुर में मेरे पढ़ने की दिशा बदल गयीः मैं वहाँ रहकर संस्कृत के नाटक भी पढ़ने लगा जो द्विभाषी संस्करणों में आते थे। उनमें से कुछ संस्कृत-बांग्ला संस्करण थे। वहाँ महाभारत मैंने अँग्रेज़ी अनुवाद में पढ़ा। लेकिन कालिदास मैंने बांग्ला अनुवाद में पढ़ा, हालाँकि

मैं संस्कृत पढ़ लेता था पर कालिदास की भाषा महाभारत से कहीं अधिक कठिन है। मैंने पाया कि महाभारत की संस्कृत अपेक्षाकृत सरल और सपाट है। सर्वोच्च न्यायालय में मुझ पर दो मुक़दमें दायर हो जाने के बाद हैदराबाद के दार्शनिक रघुराम राजू ने मुझसे कहा था कि जब कोई महाभारत और सिग्मण्ड फ्रायड से शुरू करता है तो उसके साथ यह तो होना ही था। क्योंकि यह संयोग ख़तरनाक है। नागपुर में मैंने बहुत सीखा क्योंकि मैं अपनी इच्छा से धीमे-धीमे पढ़ता था। वहाँ रहते हुए मैंने चार साल तक फ्राँसीसी भाषा भी सीखी। मैंने वह एक बेहद दिलचस्प परिवार से सीखी थी। वह खोबरागड़े परिवार था, पति मैक्सिको के स्वतन्त्रता संग्राम में सेनानी थे, पत्नि मैक्सिकी थीं और वे तीन-चार लोगों को फ्राँसीसी सिखाकर कुछ अतिरिक्त आमदनी कर लेती थीं। वे बहुत अच्छी शिक्षक थीं। मैंने तीन-चार पुस्तकें सीधे फ्राँसीसी में भी पढ़ी थी, उनमें से एक काम्यू की 'द आउट साइडर' भी थी। काम्यू को मैं कोलकाता कॉफ़ी हॉउस के कारण अँग्रेज़ी में पढ़ चुका था। इस तरह पढ़ना मेरे लिए आसान भी था क्योंकि तब मुझसे यह कोई नहीं कह रहा था, जैसा कि कॉफ़ी हॉउस में होता था कि मैं जल्दी से काम्यू को पढ़कर सार्त्र को पढ़ना शुरू कर दूँ क्योंकि वे असली मार्क्सवादी हैं, काम्यू तो बुर्जुआ हैं। नागपुर में मैंने सिमन दी बुआ को भी पढ़ा, जिसकी कोलकाता कॉफ़ी हॉउस में चर्चा नहीं होती थी। तब फेमिनिज़्म फैशन नहीं बना था।

उदयन- फ्रायड को पढ़ना कब शुरू हुआ ?

आशीष दा- फ्रायड से मेरा परिचय नागपुर में ही होना शुरू हो गया था क्योंकि मैंने मनोविज्ञान को एक विषय के रूप में चुन लिया था लेकिन मनोविज्ञान मेरे पाठ्यक्रम का एक छोटा-सा भाग था। पर मैं फ्रायड से चमत्कृत था। वे एक ऐसे चिन्तक थे जो मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व के विषय में बता रहे थे। वे व्यक्तित्व की किसी एक परत के विषय में बताकर कोई सख़्त सिद्धान्त प्रस्तावित नहीं कर रहे थे, जो मनोवैज्ञानिक पाठ्यक्रम किया करते थे। बल्कि फ्रायड मनुष्य समूचे व्यक्तित्व के बारे में विचार करने की महत्वाकांक्षा रखते थे। यह मुझे चमत्कृत करता था। उन्हें पढ़ने पर मेरे जीवन की दिशा बदल गयी। अकादेमिक पाठ्यक्रमों में फ्रायड की उपस्थिति कम ही थी, हमारे शिक्षकों को उन्हें पढ़ाने में बहुत रुचि भी नहीं थी। जब अहमदाबाद के डी.एम. संस्थान को ऐसे शोध सहायकों की आवश्यकता हुई जो नॉन क्लिनिकल परीक्षण, क्लिनिकल परामर्श और मनोविश्लेषण के अलावा शोध भी करेंगे और जिन्हें यह स्थान पाने शोध प्रस्ताव भेजने होंगे, मैंने एक प्रस्ताव भेज दिया। मुझे वह स्थान मिल गया। मुझे यह भी पता चला कि उन लोगों का झुकाव मनोविश्लेषण की ओर है। वह मेरे लिए बड़ी चीज़ थी। संयोग से वह पश्चिमी जगत के बाहर वैसा काम करने वाला सबसे बेहतर संस्थान था।

उदयन- आप कह रहे हैं कि वह मनोविश्लेषण का इस गोलार्ध का सम्भवतः सबसे बेहतर संस्थान था..

आशीष दा- बिल्कुल। उनका लन्दन की टेविस्टॉक क्लिनिक से सम्बन्ध था जिसमें मनोविश्लेषण के बेहतरीन लोग काम कर रहे थे। एरिक एरिकसन गाँधी पर अपना काम शुरू कर रहे थे, वे हर वर्ष एक सेमेस्टर

या छह महीनों के लिए वहाँ आया करते थे।

उदयन– आपको एरिक एरिकसन पढ़ाया करते थे ?

आशीष दा– सीधे-सीधे नहीं पर वे हर प्रेस कान्फ्रेन्सेस में उपस्थित रहते थे। उन्हें हमारे काम में दिलचस्पी थी क्योंकि इससे उन्हें भारतीय व्यक्तित्व का आभास मिलता था और वह गाँधी पर उनके काम के लिए उपयोगी था। इससे उन्हें गाँधी के अन्य लोगों से सम्बन्धों को समझने में कुछ सहायता मिलती होगी।

उदयन– नागपुर में आप मनोविज्ञान में एम.ए. करने आये थे ?

आशीष दा– नहीं, मैंने मेडीकल कॉलेज की पढ़ाई को आधा ही छोड़ दिया था और नागपुर आ गया था। मुझे इसीलिए पहले बी.ए. करना पड़ा। एम.ए. करने के बाद मैं अहमदाबाद चला गया और वहाँ चार साल रहा। लेकिन मेरा वहाँ से सम्बन्ध इससे अधिक रहा क्योंकि मैं वहाँ रहकर पीएच.डी. कर रहा था, जो मेरे दिल्ली आ जाने तक पूरी नहीं हुई थी। मैं १९६१ में नागपुर से अहमदाबाद गया था और वहाँ १९६५ तक रहकर दिल्ली गया। दिल्ली आकर मैंने श्रीराम सेण्टर में रिसर्च मेथड (शोध-पद्धति) में काम किया। चूँकि मैं विज्ञान पढ़ चुका था इसलिए शोध पद्धति में काम करना मुझे आसान था। उसके लिए मुझे टेक्ट्स नहीं पढ़ना पड़ता था। उन दिनों मनोविज्ञान क्वाण्टिफिकेशन करने की ओर बढ़ रही थी, इस तरह वह परिष्कृत अनुशासन होकर मेथड की ओर झुकी थी। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) ने मुझे इसलिए चुना था क्योंकि मैं श्रीराम सेण्टर में मेथड का विशेषज्ञ था : नमूने (सेम्पल) कैसे लिये जाते हैं, उन पर किस तरह से सांख्यीकीय परीक्षण किये जाते हैं और किस तरह के सांख्यीकीय परीक्षण नहीं किये जाते। मैं इसी काम के लिए सेण्टर गया था। वहाँ मैं शोध पद्धति के अलावा कथ्य का विश्लेषण भी करने लगा। उसके लिए आपको गुणात्मक (क्वालिटेटिव) आँकड़ों को पढ़ना पड़ता है और कई बार उसे क्वाण्टिफाई (विभक्त) करने की भी आवश्यकता होती है, विशेषकर केस स्टडीज के लिए। यह बहुत बारीक काम है। आपको आँकड़ों की व्याख्या भी करनी होती है और यह अन्य चिकित्सकीय विश्लेषणों की तरह ही किन्हीं लोगों के लिए जीवन-मृत्यु का प्रश्न होता है। उन्हें यह बताना कि वे इस्कृत्ज़ोफेनिक (विक्षिप्त) हैं या उनकी वैसी कुछ-कुछ प्रवृत्तियाँ हैं, बहुत दायित्वपूर्ण काम है। क्लिनिकल गेज़ (चिकित्सकीय दृष्टि) मेरा अत्यन्त महत्वपूर्ण औज़ार बन गया। यह इसलिए क्योंकि इससे मुझे इन लोगों को समझने का एक अलग रास्ता मिलता है, और साथ ही इसके कारण आपमें सहने और बिना हिचक सामना करने की सामर्थ्य बढ़ जाती है। यह बहुत कारगर गुण है क्योंकि आप किसी भी 'ईविल' को बिना उसका सामना किये, बिना यह समझे कि वह व्यक्ति वैसा क्यों कर रहा है, जान नहीं सकते। आपको उसके भीतर की प्रक्रिया को समझना होता है। यह चिकित्सकीय कर्म जैसा है। अगर कैंसर एक 'ईविल' स्थिति है तो क्या आप उसे समझेंगे नहीं, इसी तरह अगर कोई विक्षिप्त व्यक्ति कोई ऐसी भाषा बोल रहा है जो आप समझ नहीं पा रहे तो क्या इसका अर्थ यह है कि आप उसे बूझ नहीं पाएँगे। उसे समझना आपका कर्त्तव्य है।

उदयन– उन्हे समझने के लिए आप क्या किया करते थे ?

आशीष दा– उन्हे समझने के अपने दायित्व को निभाने के लिए ही मैं उनसे लम्बी बातचीत किया करता था। यानि मेरे सारे साक्षात्कार लम्बे हुआ करते हैं। कई बार वे कुछ हफ़्तों या महीनों तक चलते हैं, इस रास्ते मुझे सम्बन्धित व्यक्ति के जीवन के बारे में बहुत-सी सामग्री मिल जाती है। इसके साथ ही मुझे उसके सोचने का ढंग, उसका अपना पक्ष पता चल जाता हैः उसे क्या पसन्द है, क्या नहीं; वह किससे घृणा करता है, किससे नहीं। उसे किससे डर लगता है, किससे नहीं। कौन-सी चीज़ें उसके भीतर की हिंसा को बाहर लाती हैं, कौन-सी नहीं। उसे किस चीज़ से ग्लानि होती है, किससे नहीं। और इसी तरह की तमाम दूसरी चीज़ें। जब बाल ठाकरे की मृत्यु हुई, मैंने लिखा था कि वे बाल-अपराधी की तरह थे। इस पर एक वरिष्ठ पत्रकार जो पहले इण्डियन एक्सप्रेस में काम करते थे, बहुत नाराज़ हो गये और बोले कि इस आदमी ने बम्बई को कम से कम तीस साल तक आतंकित किया है और अब जब वो मर गया है, आप उसे 'बाल-अपराधी' कह रहे हैं। मैंने कहा, मैं इसी तरह उनके इतिहास को देखता हूँ क्योंकि वे किसी चीज़ पर विश्वास नहीं करते थे, उनका पूरी तरह नकारवादी दृष्टिकोण था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे हिन्दुत्व में विश्वास करते थे, उसका स्वांग ज़रूर भरते थे।

उदयन– क्लिनिकल गेज़ (दृष्टि) होने के कारण ही आप उन्हें वैसा देख सके वरना आज उनको समझने के स्थान पर आप उन पर अपना फैसला सुनाते पर उससे भविष्य में क्या लाभ होता?

आशीष दा– क्लिनिकल दृष्टि ने मुझे अलग ढंग के व्यक्तित्वों को समझने में बहुत सहायता की। इस सबसे यह सवाल मेरे मन में उठा था कि ऐसा क्यों है कि भारत में विचारधारा की पैठ केवल चमड़ी तक होकर रह जाती है। एक बार समाजशास्त्र के विद्वान आचार्य पी.सी. जोशी ने मुझे केरल के एक कम्युनिस्ट कार्यकर्ता की कहानी बतायी थी, जो दो-तीन दिन उनके घर आकर ठहरा था। जोशी कलकत्ता को अच्छी तरह से जानते हैं, शायद उनकी पत्नी बंगाली हैं। वह कम्युनिस्ट कार्यकर्ता उनसे बोला कि कलकत्ता अब केरल के मार्क्सवादियों का तीर्थ स्थान बन गया है। वह कलकत्ते में होने वाले कम्युनिस्ट पार्टी के सर्वोच्च अधिवेशन में भाग लेने के पहले श्री जोशी की मदद से कलकत्ता घूमने आया था। वह यह समझना चाहता था कि बंगाल में कम्युनिस्ट पार्टी की इतनी पकड़ कैसे बन सकी। वह बंगाल के प्रति प्रशंसा से भरा हुआ था। वह व्यक्ति बंगाल आकर एक महीना रहा और कम्युनिस्ट सम्बन्धों के कारण कस्बों में, शहरों में घूमता रहा, यह समझने कि कम्युनिस्ट पार्टी कैसा काम कर रही है। यह उन दिनों की बात है, जब कम्युनिस्ट पार्टी एक हुआ करती थी। कलकत्ता लौटकर वह दिल्ली जाने से पहले जोशी से मिला। वह बहुत उदास था। वह बोला कि अगर साफ़-साफ़ कहूँ तो मुझे लगा कि केरल का पारम्परिक गाँधीवादी भी बंगाल के कम्युनिस्टों से ज़्यादा मार्क्सवादी है। आप देखिए स्वप्न दासगुप्ता (जो अब भाजपा के निकट है) तीस-पैंतीस वर्षों तक ट्रॉटस्कीवादी रहा है, चन्दन मित्रा भी पच्चीस-तीस वर्षों तक भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) में रहा है और वह झट से भाजपा में शामिल हो गया। मैंने यह पाया कि

हर जगह विचारधाराओं की पैठ बड़ी ही सतही होती है। यह मेरे दोस्तों के साथ भी है। यह इसलिए है कि वे आस्था के स्तर तक नहीं पहुँच पाती। आस्थाएँ सशक्त होती हैं इसीलिए धर्म बचे हुए हैं पर विचारधारा की बहुत बारीक परत ही लोगों पर चढ़ती है जो वे सार्वजनिक जीवन के लिए चढ़ाये रखते हैं।

उदयन– खासकर सेक्यूलर परिवेश में...

आशीष दा– सेक्यूलर परिवेश में उन्हें लगता है कि ऐसा करना उचित है। एक तरह के लोगों के बीच वह अच्छा होता है। लालू प्रसाद यादव भी इसी तरह की बात का मज़ाक करते हैं। उन्होंने किसी से एक बार पूछा था कि क्या आपको लगता है कि विकास की बात करके आप चुनाव जीत सकते हैं ? लेकिन वही बोलकर मोदी जीत गये। पर लालू की पीढ़ी के कई लोग इसी विकास को निरर्थक मानकर चलते थे। वे चुनाव के कोई और गणित मानते थे। लेकिन विकास की बात एक तरह के लोगों के बीच बोलना आवश्यक होता है लेकिन ज़मीन पर वह कारगर नहीं होती इसीलिए भाजपा निचले स्तर पर किसी और तरह की गतिविधि करती है, जहाँ गोरक्षा, रामजन्म भूमि आदि विकास की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो उठते हैं। यह समझ मुझे इस तरह के बहुत-से व्यक्तियों से बात करने पर आयी।

उदयन– आप यह क्यों कहते हैं कि आपके मन में सभी विचारधाराओं के प्रति असम्मान है। आपने यह कहा कि वे बारीक परत की तरह होती हैं और तब भी वे स्वयं को आस्थाओं की प्रस्तुत करती हैं। क्या उनका आस्थाओं से कोई लेना-देना नहीं होता ?

आशीष दा– अगर मेरे पास समय रहा होता, मैं इस विषय पर पूरी पुस्तक लिखता। मैं लालू प्रसाद या मुलायम सिंह यादव जैसे लोगों से साक्षात्कार करना चाहता, क्योंकि उनके पास विचारधारा है। यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पास विचारधारा नहीं है, उसमें कुछ तत्व समाजवादी विचारधारा से आते हैं, कुछ तत्व उन्होंने अपने माता-पिता से लिए होंगे, उनके बचपन के अनुभव आदि। अगर आप चाहें तो आप उनकी प्रकट विचारधारा (जो वे कहा करते हैं) के नीचे प्रवाहित एक और अनकही विचारधारा के विभिन्न तत्वों की पुनर्रचना कर सकते हैं। वे इसे न समझेंगे और न स्वीकार करेंगे, पर वह अलग बात है। वह अनकही विचारधारा ही उनकी असली विचारधारा है। वही उनके क्रियाकलापों का ठोस आधार है। उसे समझना अलग ही उपक्रम है जिसके लिए मुझे अब तक समय नहीं मिल सका।

उदयन– पर तब उसे विचारधारा नहीं कहा जा सकता।

आशीष दा– उसे तुम मूल्यों का समुच्चय कह सकते हो। लेकिन वह किसी विशेष अर्थ में विचारधारा भी है क्योंकि उसे अक्सर किसी धार्मिक विश्वदृष्टि के साथ अभिव्यक्त किया जाता है। सीपीएम के सुभाष चक्रवर्ती, जो पश्चिम बंगाल मन्त्रीमण्डल के सदस्य थे, दुर्गा पूजा व्यवस्थापक समिति के सदस्य थे। ऐसा होता है। यह

सीधे-सीधे कहा नहीं जाता, जो शायद पाखण्ड लग सकता है पर यह पाखण्ड है नहीं क्योंकि वे अपनी असली विचारधारा को व्यक्त नहीं कर पाते। उन्हें खुद ही पता नहीं होता कि उनकी असली विचारधारा क्या है। लेकिन अगर उसे सैद्धान्तीकृत किया जा सके तो शायद उससे कोई नयी दृष्टि निकल सकती है जिसे कोई महान व्यक्ति मुखरित भी कर सकेगा। यह नहीं भूलना चाहिए कि गाँधी ने लगभग यही किया। लोग कहा करते हैं कि गाँधी गाँधीवादी नहीं थे, यह ठीक है पर उनकी एक शैली थी, एक ढंग था और इस सबसे ऊपर उनकी एक विश्वदृष्टि थी जिसे हम पूरी तरह स्वीकार करना नहीं चाहते।

उदयन- भारत में आप अपनी विचारदृष्टि या मूल्य समुच्चय उस तरह व्यक्त नहीं कर पाते जिस तरह शायद आप उसे करने की इच्छा रखते हों, इसका कारण कहीं हमारे मानस के सुदीर्घ औपनिवेशीकरण में तो नहीं है क्योंकि वे मूल्य समुच्चय उन स्रोतों से आते हैं जो औपनिवेशिक न होकर उसके समानान्तर बहती अपनी सांस्कृतिक धारा से हम तक आये हों।

आशीष दा- बिल्कुल। वे मूल्य अक्सर माता-पिता से मिलते हैं, वे हमारे सीमा बोध से भी आ सकते हैं, समुदायों से आ सकते हैं या उसके परे एक अलग कर्त्तव्य बोध से। जब हम अयोध्या में राम जन्मभूमि विवाद के सन्दर्भ में काम कर रहे थे, वहाँ लोग कहा करते थे, अयोध्या में साम्प्रदायिक दंगे नहीं हो सकते। चाहे वहाँ कर-सेवा हो या न हो। वह एक अद्‌भुत आख्यान है। अयोध्या की सभी देवमूर्तियों (विग्रहों) के कपड़ों के बनाने वाले मुसलमान थे। हज़ार मन्दिरों के सभी कपड़े मुसलमान ही बनाया करते थे। वहाँ के कुछ मन्दिर मुसलमानों के थे। उनमें से एक से मैंने लम्बा साक्षात्कार भी किया था। देवताओं के सभी आभूषण भी मुसलमान बनाया करते थे। सभी पर्दे और कपड़े मुसलमान ही सिलते थे। मन्दिरों में इस्तेमाल होने वाले सभी फूल मुसलमान उगाते थे, उन्हीं की स्त्रियों के हाथों की गूँथी मालाएँ अयोध्या के देवी-देवताओं को पहनायी जाती थी। असली अयोध्या वो है। अब ये किसको समझाएँ।

अयोध्या के कई बड़े मन्दिर मसलन हनुमान गढ़ी नवाबों की भेंट हैं और उनकी इन भेटों के दस्तावेज़ों को पूरे गर्व के साथ दिखाया जाता है। यहाँ तक कि राम जन्मभूमि के सामने की ज़मीन भी किसी नवाब की दी हुई है जो रामभक्त हो गये थे। अयोध्या के नवाब भी कुछ अलग ही थे।

उदयन- अभी हाल मेरी मुलाकात गोवा में क्लॉद अल्वरेज़ से हुई। वे बता रहे थे कि उनके अपने बचपन और उसके पहले जनगणना के दौरान ईसाई लोग अपना परिचय 'हिन्दू ईसाई' की तरह देते थे, उसी तरह मुसलमान 'हिन्दू मुसलमान' थे। यह कहते हुए वे अपने को ब्रितानी मुसलमान आदि से अलगा रहे होते थे, दूसरे शब्दों में हिन्दू यह एक भौगोलिक क्षेत्र का परिचायक था, वह कोई मज़हब नहीं था। अगर हमारे देश का औपनिवेशीकरण न हुआ होता तो यह वाक्य कि 'इस जगह हिन्दू रहते हैं', इतना एकांगी वक्तव्य न हुआ होता जैसा वह आज हो गया है।

आशीष दा– उसे उसी तरह पढ़ाया बल्कि सोचा जाता था, लेकिन इसमें बदलाव जान-बूझकर किया गया है। सावरकर का सबसे बड़ा योगदान भारत पर 'नेशन' की अवधारणा को आरोपित करना है। भारत कभी भी 'नेशन' नहीं था। टैगोर ने यह बात सीधे-सीधे कह दी थी। वे अपने लेखन में देश प्रेम के लिए लगभग पन्द्रह बंगाली शब्दों का प्रयोग करते हैं पर 'नेशन' को वे नेशन ही लिखते हैं। बंगाली में नेशन का अनुवाद नहीं हो सकता। किसी भी भारतीय भाषा में नहीं हो सकता।

उदयन– भारत के 'नेशन' न होने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि यहाँ की भाषाओं में उसका पर्याय नहीं है। स्वयं 'राष्ट्र' शब्द का आशय 'नेशन' से बिल्कुल अलग है पर उसे खींच-तानकर 'नेशन' के पर्याय के रूप में बिठाने के मूर्खतापूर्ण पर हिंस्र प्रयास होते रहे हैं। पर उनका कोई आधार भारत के सामुदायिक जीवन में नहीं हैं।

आशीष दा– भारत समुदायों का समुच्चय रहा है। यह बात परोक्षतः गाँधी के लेखन में भी आती है हालाँकि वे 'नेशन' 'नेशलिज़्म' आदि के बारे में कहते हैं। यह देश कुछ अलग तरह का संयोजन रहा है। यह देखने के लिए आपको बहुत दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। दस-पन्द्रह साल पहले की बात है, एन.डी. टेलीविज़न लाहौर में किसी से बात कर रहा था। उस समय शायद कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति लाहौर गया हुआ था। जब वहाँ किसी बौद्धिक से कोई सवाल पूछा गया, उसने जवाब में कहा, 'हम 'अरबी मुसलमान' नहीं हैं, 'हिन्दू मुसलमान' हैं। यह वो पाकिस्तान के शहर लाहौर में बैठकर २१वीं शताब्दी के पहले दशक में बोल रहा था। देश के लोगों के बीच विभाजन का झुकाव चुनावी आवश्यकताओं के कारण राजनेताओं आदि का लाया हुआ है। भारत में मध्यवर्ग पाँच गुना बढ़ गया है, पर यह पारम्परिक रूप से स्थापित मध्यवर्ग नहीं है। यह पैसे का मध्यवर्ग है, मूल्यों का नहीं। झूठमूठ में भी नहीं।

उदयन– आप यह कह रहे हैं कि हिन्दू शब्द का अर्थ उसके भीतर से ही बदल गया है, यह अब 'नेशन' के अर्थ में हिन्दू बना दिया गया है।

आशीष दा– सावरकर ने यह बात साफ़-साफ़ कही है। इस पर मैंने एक लम्बा लेख भी लिखा था। वे यूरोप से बहुत प्रभावित थे। वे पूरी तरह से पश्चिमीकरण के समर्थक थे। वे मानते थे कि भारत को 'नेशनेलिटी' की ज़रूरत है। अगर वह नेशन स्टेट बनना चाहता है तो उसे वही होना चाहिए। किसी और तरह की राजसत्ता का उन्हें ज्ञान नहीं था। नेशन स्टेट बनाने के लिए नेशनलिज़म चाहिए। चूँकि हिन्दू जैसे वे रहे हैं, नेशन नहीं रहे इसलिए उन्हें सावरकर के अनुसार अभियान्त्रिकी के सहारे वैसा बनाना होगा, इसलिए उनका सैन्यकरण करना होगा। उन्हें संगठित करना होगा। उनमें क्रोध का भाव लाना होगा। उनमें छोड़ दिये जाने का भाव लाना होगा। जिन्ना इस सिक्के का दूसरा पहलू बन जाते हैं, वे कहते हैं कि मुसलमान एक दूसरा 'नेशन' हैं। यह उपनिवेशवाद का प्रभाव है जो दोनों पर पड़ता है। सावरकर बहुत पहले से ही यह कहते आ रहे थे कि हिन्दू और मुसलमान

दो अलग 'नेशन' हैं।

उदयन– क्या 'हिन्द स्वराज' में गाँधी सावरकर और उनके साथियों श्यामकृष्ण वर्मा आदि से संवाद कर रहे थे ?

आशीष दा– कुछ हद तक। गाँधी सावरकर को बहुत गम्भीरता से नहीं लेते थे लेकिन वे उनसे मिले थे।

उदयन– गाँधी जी सावरकर को महत्वपूर्ण नहीं मानते थे...

आशीष दा– वे उन्हें गम्भीरता से नहीं लेते थे। वे मानते थे कि वे यूरोपी ढंग के सोचने वालों में हैं। सावरकर की गाँधी की आलोचना भी यूरोपीय ही है। उन्होंने कहा था कि गाँधी अन्धविश्वासों से घिरे हैं, दूसरा, वे राजनीति में अहिंसा, असहयोग आन्दोलन, उपवास जैसी फ़िजूल की चीज़ें खींच लाये हैं। उनके अनुसार वह सब बकवास थी। निकारागुआ में जब सेन्दनिस्ता का शासन था, वहाँ के प्रधानमन्त्री किसी कारण उपवास पर बैठ गये थे। ईसाईयत में यह परम्परा पुरानी है।

उदयन– गाँधीजी ने इसे ईसाईयत से भी लिया होगा, उनके ब्रह्मचर्य का भी स्रोत सम्भवतः मध्ययुगीन ईसाईयत ही था।

आशीष दा– अहिंसा के लिए आपको मध्ययुग में ही जाना होगा। मध्ययुग अपने इन्क्वजिशन्स के लिए जाना जाता है। लेकिन आप उन्हें, उदाहरण के लिए सेण्ट फ्रांसिस के कारण याद नहीं रखते, जिन्होंने जानवरों तक से हिंसक व्यवहार को प्रश्नांकित किया था। ज्ञानोदय काल (एनलाइटेनमेण्ट पीरियड) में भी अहिंसा की वकालत करने वाला कोई नहीं था। हिंसा को बहुत आसानी से ज्ञानोदय के मूल्यों में शामिल किया जा सकता है। यह हुआ भी है। ज्ञानोदय स्वातन्त्र्य का मूल्य माना जाता था लेकिन जो समाज ज्ञानादेय (एनलाइटेनमेण्ट) के मूल्यों से अपरिचित थे जो कास्मोपोलिटन नहीं थे, उन्हें कमतर मनुष्य माना जाता था, यही मेकॉले के वक्तव्य का आशय था जिसमें कहा गया था कि यूरोपीय पुस्तकों का एक शेल्फ़ समूचे भारतीय वांगमय पर भारी है।

उदयन– आपने कहा है कि गाँधी जी और टैगोर 'नेशन' के इस विचार को भारत के सन्दर्भ में प्रश्नांकित कर भारत के विषय में एक अलग ही दृष्टिकोण प्रस्तावित कर रहे थे जिस पर पिछले कई दशकों से कभी राजनैतिक व्यवस्था ने ध्यान नहीं दिया।

आशीष दा– यह नहीं भूलना चाहिए कि उन्हें इसका आभास था, मुगलों को निश्चय ही था, अँग्रेज़ों को था इसीलिए विकेन्द्रीकरण की बात आयी। अँग्रेज़ों का न्यूनतम प्रतिनिधित्व का विचार यहीं से आया था। भारत में कभी भी पचास हज़ार से अधिक अँग्रेज़ नहीं थे, ज़रा सोचो पैंतीस करोड़ के देश पर शासन करने केवल पचास हज़ार लोग। बाद में वे पचास हज़ार थे और पचपन करोड़ के देश में। वे जानते थे कि इस देश में राजसत्ता

क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। मुगल इस समझ को कहीं अधिक बड़ी कला में रूपान्तरित कर सके थे। अँग्रेज़ वैसा इसलिए नहीं कर सके क्योंकि उनका इस देश से मुगलों के जैसा सम्बन्ध नहीं था। जोधपुर और जयपुर के महाराजा बारी-बारी से मुगलों की सेना के कमाण्डर इन चीफ़ (सेनापति) होते रहे हैं।

उदयन– और वे राजपूत थे...

आशीष दा– वे दोनों राजपूत थे। यह कोई संयोग नहीं है कि उनके और मुगलों के बीच अन्तर्विवाह आदि कई चीज़ें हुई। मथुरा के श्रीवत्स गोस्वामी ने अपने भाषण में एकबार 'महानुभाव अक़बर' आदि कहा था, क्योंकि उस वैष्णव क्षेत्र (मन्दिर आदि) का एक बड़ा हिस्सा मुग़लों का दिया हुआ था। इसी तरह जयपुर पर मुगलों की विजय कहने को मुगल साम्राज्य की थी, पर उसे किया राजपूतों ने था और उससे उन्हें बहुत लाभ हुआ था। वह केन्द्रीय प्रभुतासम्पन्न सत्ता के प्रति सोचा-समझा सहयोग था जहाँ आप केन्द्रीय सत्ता की सेना के सेनापति हो जाते हैं और तब भी आप स्वतन्त्र राजा बने रहते हैं, यह बहुत सामान्य बात थी और छोटे-छोटे राज्यों द्वारा मुगलों को सौ-डेढ़ सौ सोने के सिक्के देकर प्रतीक स्वरूप अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखना भी सामान्य था। वे शिवाजी को भी स्वीकार करने तैयार थे पर शिवाजी जोधपुर या जयपुर के राजा जितना दर्ज़ा पाना चाहते थे। इसके बरअक्स में मुगलों का तर्क यह था कि वे पिछले दो सौ वर्षों से हमारे सहयोगी रहे हैं, यह तब से रहा है जब हम यहाँ आये ही थे इसलिए हम आपको उनसे कुछ कम दर्ज़ा तो दे सकते हैं, उनके बराबर नहीं बावजूद इसके कि आप अभी शक्ति सम्पन्न हैं। शिवाजी को यह स्वीकार नहीं था। राज्य करने का शिवाजी का विचार भी मुगलों से बहुत अलग नहीं था : पेशवाई कुछ हद तक मुगल राज्य व्यवस्था का ही दोहराव था। शिवाजी के शासन की भाषा कभी मराठी नहीं रही, वह फ़ारसी थी, इसका कभी ज़िक्र नहीं होता।

उदयन– इन सब बारीकियों में जाने पर हमारे मन में अपने देश का कोई और स्वरूप आयेगा। पर वह होता नहीं। उपनिवेशवाद के प्रभाव से हमारे सोचने की पद्धतियों को गहरी क्षति पहुँची है...

आशीष दा– यह इसलिए हुआ क्योंकि हमने अपने संविधान बनाने तक में स्वयं अपने अनुभवों को लेखे में नहीं लिया : हमारे यहाँ किस तरह के राज्य थे, वे कैसे इतने लम्बे समय तक जीवन्त बने रहते थे। मुगल राज्य शासन चार सौ बरसों तक चला जबकि अँग्रेज़ दो सौ से भी कम वर्षों तक रह सके। अँग्रेज़ी राज्य तक उतना केन्द्रीकृत नहीं था जितना हमारा शासन तन्त्र आज है। भारत में लम्बे समय तक जीवन्त बने रहे राज्य हमेशा ही विकेन्द्रीकृत थे।

उदयन– स्वतन्त्र भारत में राजसत्ता का उत्तरोत्तर केन्द्रीयकरण अँग्रेज़ों के अधूरे स्वप्न को पूरा करने जैसा है।

आशीष दा– धरमपाल ने अपने सामान्य दिनों में मुझे कुछ आँकड़े दिये थे जिन्हें मैं सुरक्षित नहीं रख

सका, जिसमें यह था कि राजस्व का कितना भाग साम्राज्य पर खर्च होता था। देशभर के राजस्व का शुरुआती दिनों में साम्राज्य पर पन्द्रह से बीस प्रतिशत खर्च होता था। कर्जन के समय में यह बीस से छब्बीस प्रतिशत हो गया। फिर अँग्रेज़ी शासन में यह अचानक बहुत अधिक बढ़कर पचास प्रतिशत हो गया और अब यह सौ प्रतिशत है।

उदयन– धरमपाल भारत की विकेन्द्रीकृत राजस्व व्यवस्था के बारे में यह बताते हैं कि राजस्व का अधिकांश गाँवों और जनपदों के स्तर पर ही रुक जाता था, उसके बाकी का कुछ अंश जनपद के ऊपर के स्तर पर जाता था और बाकी उसके भी ऊपर के स्तर पर जाता था। गाँधीजी का राजनैतिक व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त भी यहीं से उत्पन्न हुआ है।

आशीष दा– गाँधी का सिद्धान्त बहुत कुछ वैसा ही है। उन्हें इस व्यवस्था का आभास था, उनके पास आँकड़े भले न रहे हों।

उदयन– मैं यह जानना चाहता था कि जब इस विकेन्द्रीकरण का विघटन शुरू हुआ, हमारे राजनैतिक चिन्तन में क्या अन्तर आया ?

आशीष दा– दरअसल यह २०वीं सदी के तीसरे दशक में शुरू हुआ। जवाहरलाल नेहरू इसी दशक और फ़ेबियन समाजवाद की सन्तान हैं। उनकी नेशन स्टेट की कल्पना जिन्ना की कल्पना के जैसी ही है। उनमें इतना ही फ़र्क है कि जवाहरलाल अधिक समावेशी हैं जबकि जिन्ना दो अलग नेशन चाहते थे। यह करने में वे जनसंख्या का विचार नहीं करते, वे सिर्फ़ मुसलमानों का प्रभुत्व चाहते हैं ताकि मुसलमान व्यवहारों के विरुद्ध कोई कानून न बन सके और मुसलमानों की संस्कृति सुरक्षित रह सके। वे स्वयं मुसलमान संस्कृति के सन्दर्भ में हाशिये पर थे। नेहरू की अँग्रेज़ी तक लोकतान्त्रिक थी, आज उनकी अँग्रेज़ी पर उम्र की परतें चढ़ गयी हैं और लोग उनके साहित्यिक कौशल की सराहना करते हैं। कोई व्यक्ति एक बार कह रहे थे कि उन्हें राजसत्ता सम्भालने के स्थान पर ऑक्सफर्ड या केम्ब्रिज जाकर अँग्रेज़ी भाषा का प्रोफेसर बन जाना था क्योंकि उन्हें शासन कला की पर्याप्त समझ नहीं थी। यह बात उनकी निन्दा में कही जाती है। तब भी यह किसी हद तक सही है। वे उसी संसार द्वारा पोषित हुए थे और वे अपने को उसके बहुत क़रीब पाते थे। इसका एक परिणाम यह है कि आज जब मैं उन्हें पढ़ता हूँ, मुझे यह महसूस होता है कि उनकी एडवर्डियन अँग्रेज़ी पिछले ज़माने की है। लेकिन गाँधी की भाषा पुरानी नहीं लगती क्योंकि उसमें बायबिल के जैसी सरलता है। लोग यह समझते नहीं कि गाँधी अँग्रेज़ी के विलक्षण लेखक थे और उनका पश्चिम के असहमत चिन्तकों का ज्ञान असाधारण था भले ही सावरकर यह मानते रहे हों कि उनका आधुनिक राजनैतिक चिन्तन का ज्ञान बेहद सीमित था। उन्होंने उन विद्वानों को गहरायी से पढ़ा था जिन्हें राजनैतिक विचारकों की तरह भारत के बहुत कम लोगों ने पढ़ा है। जैसे टॉल्सटॉय, रस्किन, एमर्सन और हेनरी डेविड थोरो। थोरो उनके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। थोरो, टॉल्सटॉय और रस्किन उनके

तीन गुरू हैं। मैं इनमें एमर्सन को आधे गुरू की तरह जोड़ना चाहूँगा। उनके दो भारतीय गुरू थे, गोपालकृष्ण गोखले और महादेव गोविन्द रानाडे। इन गुरुओं का विशेष रूप से उन्होंने उल्लेख किया है। उनके भारतीय गुरू इसके बाद खत्म हो जाते हैं क्योंकि वे अत्यन्त परिष्कृत, यूरोपीय अर्थ में, उदारवादी थे जिन्हें गाँधी दरकिनार कर स्वतन्त्रता आन्दोलन को शहरों से गाँव की ओर ले जाते हैं।

उदयन– यहाँ चूँकि आप शहर और गाँवों के स्वरूप के अन्तर की ओर इशारा कर रहे हैं, मैं आपको याद दिलाना चाहता हूँ कि आपने एक व्याख्यान में आनन्द कुमारस्वामी की चर्चा करते हुए शहर और गाँवों के द्वन्द्व को कला और शिल्प के द्वन्द्व की तरह रेखांकित किया है।

आशीष दा– वह मैंने जान-बूझकर किया था क्योंकि कुमारस्वामी ने वह नहीं किया था। कुमारस्वामी को अगर ध्यान से पढ़ा जाए तो यह समझ में आता है कि वे गाँव के गाँधी की तरह ही गहरे प्रशंसक थे और उन्होंने गाँव पर कभी कोई प्रतिकुल टिप्पणी नहीं की। जबकि भारतीय शहरों और पश्चिम चिन्तन के उन पर पड़े प्रभावों के ये प्रखर आलोचक थे। उनका अध्ययन इतना गहरा और व्यापक था कि वे आसानी से पश्चिमी अध्येताओं के तर्कों को काट सके। लेकिन आप गाँधी की राजनैतिक दृष्टि की तीव्रता देखिए : गाँवों के प्रशंसक होते हुए भी वे गाँव को गोबर का ढेर भी कह सके। वे किसी वास्तविक गाँव की प्रशंसा करने के स्थान पर ग्रामीण जीवन से जुड़े कुछ जीवन मूल्यों की प्रशंसा कर रहे थे और यह करते हुए वे अपनी परम्परा में शूद्रक के मृच्छकटिकम् पर जा पहुँचते हैं जहाँ ग्रामीण जन हमेशा नागर जनों की आलोचना करते है और नागर जन ग्रामीणों की। हमारी पद्धति वैसी होनी चाहिए। इससे संवाद बना रहता है और साथ ही आलोचनाएँ भी होती रहती हैं। पर जब गाँवों को भावी शहर की तरह परिकल्पित किया जाता है और इसे सैद्धान्तीकृत किया जाता है कि शहर गाँवों से ही उत्पन्न हुए थे, यह दोतरफा प्रश्नांकन नहीं हो पाता। यह सभी जानते हैं कि भारतीय महाद्वीप के आरम्भिक आवासी क्षेत्र जिन लोथल, मोइनजोदाड़ो और हड़प्पा आदि में पाये जाते हैं, वे सब नगर थे। इसका अर्थ यह है कि शहर भी शुरुआत से ही थे, वे गाँवों से उत्पन्न हुए हों, ऐसा नहीं है। यही बात अन्य सभ्यताओं के लिए भी सही है। अगर आप यूरोप को देखें, वहाँ भी यही मिलता है। दोनों ही शुरू से हैं और ग्रामीण शहरियों पर और शहरी ग्रामीणों पर उठाते रहे हैं।

उदयन– अपने इस विचार में आप वन को कहाँ रखेंगे ? हमारे हर महाकाव्य में बहुत कुछ वनों में घटता है। इनके नायक अनिवार्यतः वनों में जाते हैं और तब वन इन आख्यानों के खुलने की ज़मीन बन जाते हैं।

आशीष दा– वनों का अर्थ शहरों और गाँवों में रहने वाले भारतीयों के लिए यूरोप के ऐसे ही लोगों की तुलना में अलग रहा है। शहरों और गाँवों के भारतवासियों के लिए वन जीवन्त आवास रहा है। यूरोपीयों का सोचना था कि वन-प्रान्तर ऐसे विशिष्ट इलाके हैं जिनमें पेड़-पौधों और पशुओं का वास है। भारत के लिए

वन जीवन्त आवास रहे हैं, सभी जीवों के लिए। आप पुराणों को ध्यान से पढ़िये, आप पाएँगे कि भारतीय सभ्यता (सभ्यता से यहाँ मेरा आशय सिर्फ़ वेद-पुराण और स्मार्त आदि ग्रन्थों में अनुस्यूत मूल्य दृष्टियाँ भर नहीं हैं, इसमें इनसे अलग अनेक अन्तर्धाराएँ भी हैं जो विभिन्न लोक एवं अन्य अन्तःसलिल संस्कृतियों में मुखरित होती रहती हैं।) अपने हाशियों और अन्य लोकों तक में फैली हुई है। इन सबके बीच निरन्तर संवाद होता रहता है। भीम पाताल जाता है और वहाँ नागों के राजा से सम्बन्ध स्थापित करता है, उसकी बेटी से विवाह करता है और तब वापस आता है। पाण्डवों का बनाया इन्द्रप्रस्थ भी हाशिये के वासी मय दानव का ही बनाया हुआ है, वह ऐसा अद्वितीय महल है, जिसमें दुर्योधन बेवकूफ बनता है और ईर्ष्याग्रस्त होता है। यहाँ भी यह सभ्यता अपने हाशियों, अपने सीमान्तों से संवाद करती देखी जा सकती है। भारत अपने हाशियों से हमेशा संवादरत रहा है। अपने हाशियों या सीमान्तों से और पाताल जैसे अन्य लोकों (अण्डर साईड ऑफ सिविलाईजेशन) से। मैं यह कहना चाहूँगा कि यहाँ की जीवन पद्धतियों में नगर और गाँवों का भेद और संवाद दरअसल एक अधिक बड़े भेद और संवाद का भाग है और वह है : इस सभ्यता का अपने हाशियों और पाताल आदि भूमिगत लोकों के साथ निरन्तर संवाद।

उदयन– यह संवाद धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है।

आशीष दा– इस संवाद को नष्ट किया गया है। उस संवाद की अनुपस्थिति का पहला अहसास पहली बार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शती के आरम्भ में हुआ था। यह पहले विश्वयुद्ध के पहले का भारत है। गाँधी समझ गये कि यह संवाद टूट गया है। अब हमारा गाँवों से कुछ सीखने का भाव भी बाकी नहीं रहा इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में बहुत तेज़ी से गाँवों के लोगों को सामने लाने की ज़ोरदार कोशिशें शुरू की जिससे गाँवों से जुड़े मूल्यों को समूचे देश के दैनन्दिन लोक व्यवहार और चिन्तन में पुनर्प्रतिष्ठित किया जा सके। इसीलिए स्वतन्त्रता आन्दोलन और विशेष रूप से गाँधी और कुमारस्वामी पर गाँवों पर कुछ ज़्यादा ही ज़ोर देने का बल्कि गाँवों के रुमानी उत्सव मनाने का आरोप लगता रहा है। लेकिन ऐसा, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, नहीं था। टैगोर भी गाँधी के विषय में लगभग यही सोचते थे कि वे गाँवों की ओर कुछ अधिक ही झुके हैं। टैगोर भी ज्ञानोदय (एनलाईटन्मेन्ट) के उत्पाद थे। वे एक ऐसे परिवार से आते थे जो अँग्रेज़ों के बनाये संसार से गहरायी तक जुड़ा था। यही कुछ राजा राममोहन राय और उनके जैसे अन्य विचारकों के साथ भी था। पर गाँधी ने भारत की इस समस्या को जान लिया था इसीलिए उन्होंने ग्रामीण विश्वविद्यालय स्थापित करने की बात भी सोची।

उदयन– मेरा यह खयाल है आशीष दा कि 'गोरा' उपन्यास की एक यह व्याख्या मुमकिन है : उसके लगभग सभी पात्र बौद्धिक हैं और उनके बीच बातचीत चल रही है, अपने समाज के प्रश्नों पर बातचीत चल रही है। एक स्तर पर शायद यह उपन्यास उस बातचीत में शामिल शहरी बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य भी है क्योंकि वे जिन मूल्यों पर चर्चा कर रहे हैं, वे पारम्परिक उतने नहीं है, जितने शहरी शब्दावली में अनुदित और अनुकूलित पारम्परिक मूल्य है। इस तरह इस उपन्यास में टैगोर अपने पर भी व्यंग्य कर रहे हैं। यही उनके महान लेखक

होने का परिचायक भी है।

आशीष दा– यह सभी महान लेखक करते हैं। मेरे यह कहने पर कि 'गुजराती मध्यवर्ग साम्प्रदायिक हो गया है', जब मुझ पर इन अज्ञानियों ने यह कहकर कि इससे 'मध्यवर्गीय संवेदना को चोट पहुँची है' मुकदमा दायर किया, उन्हें यह पता नहीं था कि बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का उपन्यास 'बाबू' बंगाली मध्यवर्ग और उसके नकलची व्यवहार पर भयानक हमला था। वही उपन्यास बंगाल में एक सौ पचास साल से पाठ्यक्रम में रहा है। हमने भी उसे अपने बंगाली पाठ्यक्रम में पढ़ा था। बंकिम के पहले माईकल मधुसूदन दत्त (जिन्हें पश्चिम-प्रभावित कहा जाता है) ने भी बंगाल की पश्चिम की नकलची मध्यवर्गीय संस्कृति पर तीखा व्यंग्य किया था। इन दोनों कृतियों को आज भी याद किया जाता है। इस आत्मालोचन की एक लम्बी परम्परा है। मध्यवर्ग हमेशा आत्मालोचन करता है। मध्यवर्ग समाज का वह भाग है जो ऐसी आलोचना कर वर्तमान मूल्यों के प्रतिस्पर्धी विकल्पों का रास्ता खोल देता है जिससे वर्तमान समाज में फैले दोषों का सामना किया जा सके। इसीलिए आलोचना के कुछ तत्व मध्यवर्ग का हिस्सा हैं, यही नहीं आधुनिकता की आलोचना भी आधुनिकता का ही अविभाज्य अंग हैं। मैं भी आधुनिकता को प्रश्नांकित करता हूँ। वर्तमान मध्यवर्ग अपनी यह भूमिका नहीं निभा पा रहा है इसलिए क्योंकि एक तो वह पाँच गुना बढ़ गया है। इसके आँकड़े उपलब्ध हैं। पर चार बटा पाँच मध्यवर्ग सिर्फ़ पैसे के कारण मध्यवर्ग है, अपने मूल्यों के कारण नहीं। इसलिए मध्यवर्ग के परम्परागत मूल्यबोध का ह्रास हो गया है। ये मूल्य अब भी कुछ हल्कों में बचे हुए हैं। मसलन बंगाली मध्यवर्ग में, किसी हद तक दक्षिण भारतीय और महाराष्ट्र के ब्राह्मणों में। इन मूल्यों के बचे रहने में ब्राह्मण संस्कृति का भी कुछ योगदान है, भले ही कम हो। तटीय ब्राह्मण समुदाय जो वैश्विक और इसी तरह के मूल्यों के सम्पर्क में आये हैं, उनमें भी इसका कुछ अंश है, यह इस तरह कि यदि उन्हें रवीन्द्रनाथ को पढ़ना उबाऊ भी लगता होगा, तब भी उनके घर के रेक्स पर पर रवीन्द्रनाथ की समग्र रचनावली रखी रहेगी, जिससे लोगों को यह बताया जा सके कि वे पढ़े-लिखे हैं। इससे कम-से-कम यह होता है कि उनके बच्चों को कुछ मूल्य बोध हो जाता है और वे यह समझने लगते हैं कि घर पर कौन-सी पुस्तकें रखना चाहिए। इसी तरह इन घरों में रविशंकर और विलायत खाँ की कुछ सीडी रखी होती हैं, यह जताने कि वे शास्त्रीय संगीत समझते हैं जबकि वे उन्हें शायद बजाते तक न हों, और सिर्फ़ फ़िल्म संगीत सुनते हों। इसे सिर्फ़ दिखावा भी नहीं कहा जा सकता है।

उदयन– यहाँ फ़िल्मी गानों और अपसंस्कृति के प्रति जुड़ाव भले है पर संस्कृति के प्रति लगाव है...

आशीष दा– उसमें कोई बुराई भी शायद न हो। यह अधिकांशतः अपनी जड़ों से उखड़ी पंजाबी संस्कृति है...

उदयन– आप एक महत्वपूर्ण बात कर रहे हैं कि मध्यवर्ग जो भूमिका पहले निभाया करता था, भारत ही नहीं सभी देशों में, वह उसे लगभग नहीं निभा रहा...

आशीष दा– मध्यवर्ग का कुछ अंश उन मूल्यों को बचाने का प्रयास निश्चय ही कर रहा है। कुछ लोग मूल्यों के विघटन का विरोध कर ही रहे हैं। वे कुछ प्रश्न तो उठा ही रहे हैं जैसे वे यह कह रहे हैं कि राजसत्ता को विश्वविद्यालयों में हस्तक्षेप करने से बचना चाहिए। पर उनके पास न तो शक्ति है और न ही उनकी वैसी हैसियत बची है। इस किस्म के मध्यवर्गीय बौद्धिक नागरिकों का प्रभाव इसलिए भी राजनीति में घट गया है क्योंकि उनके पास चुनावी शक्ति नहीं है जैसा संख्या की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली समुदायों के पास है।

उदयन– ऐसी स्थिति में गाँधी की याद बार-बार आती है। आपने गाँधी पर बहुत सोचा है। इन दिनों उनकी भूमिका को लगभग नकारने का अभियान चला हुआ है। ऐसे में यह आवश्यक है कि मैं आपसे यह भोला-सा सवाल करूँ कि उनकी राजनैतिक दृष्टि के विषय में आपके क्या विचार हैं ?

आशीष दा– मेरी कई पुस्तकों और निबन्धों में यह विचार यहाँ-वहाँ बिखरे हुए हैं और उनकी दृष्टि पर मेरे सोच का एक हिस्सा हमारी अब तक की बातचीत में पहले ही आ चुका है। मैं उसे दोहराऊँगा नहीं। मैं आगे की कहानी कहता हूँ। राजसत्ता के विचार को इस तरह रूपान्तरित किया जाना चाहिए कि राजसत्ता की संरचनाएँ मानवीय माप से अधिक न हो। राजसत्ता का अर्थ केवल केन्द्र सरकार, सर्वोच्च न्यायालय, कानून और उसे लागू करने वाली व्यवस्थाएँ ही ना हों। वे मूलतः ग्राम गणराज्य या स्वराज के पक्षधर थे। आज कुछ लोग उस विचार का मज़ाक बना सकते हैं पर उनका विचार यह है कि आप सत्ता का विकेन्द्रीकरण इस तरह करें कि राजसत्ता अपनी सक्रियता में समाज के सदस्यों को सहज उपलब्ध हो और वह मानवीय माप की हो। वे यह इसलिए प्रस्तावित कर सके क्योंकि उन्हें मानवीय विवेक पर गहरा विश्वास था।

उदयन– वे यह इसलिए भी कह रहे थे कि समाज के संचालन में एक साधारण नागरिक और ग्रामीण भी हिस्सेदारी कर सके।

आशीष दा– वे एक सच्ची भागीदारी सम्पन्न लोकतान्त्रिक व्यवस्था की बात कर रहे थे जबकि आज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था की प्रत्याशा यह है कि आप हर पाँच साल में एक बार वोट देकर घर पर बैठकर रेडियो सुनें या टेलीविजन देखें और यह सब देखकर यह जानें कि राजनीति में क्या चल रहा है। अगर आपको इस सब पर नाराज़गी हो तो आप एक ब्लॉग लिख दें (पहले लोग सम्पादकों को पत्र लिखा करते थे) और इतना करके आप समझते हैं कि मेरा काम हो गया या आप यह कहें कि मैंने तो फ़ेसबुक में लिख दिया है।

उदयन– अपने एक लेख में धरमपाल ने लिखा है कि लन्दन के गोल मेज सम्मेलन में अँग्रेज़ों से बात करते हुए महात्मा गाँधी कह रहे हैं कि हमारा राजसत्ता का विचार आपके विचार से अलग है और जहाँ भी हमने अपने इस विचार को लागू करने का प्रयास किया है, हम बहुत हद तक सफल रहे हैं। मैं यह सोचता हूँ कि गाँधी का सबसे बड़ा प्रयोग जो उनके सभी प्रयोगों के संयोग का फल था, १९२० से लेकर लगभग १९३०

तक की कांग्रेस थी। जब कांग्रेस इस रास्ते से अलग चलने लगी, उन्होंने उसे छोड़ दिया। आप याद करें, भारत आने के बाद गाँधी कांग्रेस में कुछ मूलभूत बदलाव लाये थे जिसके कारण उसमें ग्रामीण प्रतिनिधियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी थी। उस समय तक कांग्रेस मुख्यतः 'सम्मेलन' था, राजनैतिक दल नहीं था। गाँधी के हस्तक्षेप के बाद से कांग्रेस में उन दिनों सबसे पहले ग्रामीण प्रतिनिधि होते थे और ग्रामीण समितियाँ होती थीं, उसके बाद वे लोग जनपदों के प्रतिनिधियों को चुनते थे और जनपद समितियाँ होती थीं, फिर जनपदों के प्रतिनिधि अपने बाद के स्तर के प्रतिनिधियों को चुनते थे।

आशीष दा– बिलकुल। १९६० की शुरुआत तक भी स्थानीय कांग्रेस दफ़्तरों में यह व्यवस्था थी कि अगर किसी को कांग्रेस प्रतिनिधि के चयन पर कोई असहमति होती थी (यह सभी स्तरों के प्रतिनिधियों के लिए सही था, चाहे वे स्थानीय प्रतिनिधि हों, राज्यस्तरीय या राष्ट्रीय) वह अपनी असहमति लिखकर और दस्तखत कर वहाँ दे सकता था। इन असहमतियों पर हमेशा ही कार्यवाही होती थी। इन्दिरा गाँधी ने अपनी असुरक्षा की भावना के चलते उस व्यवस्था को खत्म कर दिया। उनके पास जनसमर्थन नहीं था। अगर पहले जैसी व्यवस्था रही होती, वे पार्टी के दूसरे नेताओं के हाथों कभी भी हटायी जा सकती थीं क्योंकि उन नेताओं के पास जनसमर्थन था। पर इन्दिरा गाँधी जनमत परिवर्तन (मास मोबिलाईज़ेशन) की युक्तियों का उपयोग करती थीं।.... नरेन्द्र मोदी इन्दिरा गाँधी की मानस सन्तान है। संजय गाँधी और राजीव गाँधी उनकी देहज सन्तानें हैं। मानस और देहज में फ़र्क हुआ करता है।

उदयन– क्या यह किसी हद तक कहा जा सकता है कि जब चौथे दशक में कांग्रेस कांग्रेस न रहकर पूरी तरह राजनैतिक दल पण्डित नेहरू और अन्य नेताओं के नेतृत्व बनना शुरू हो गयी थी, गाँधी ने उससे अपनी दूरी बनाना शुरू कर दिया था ?

आशीष दा– हाँ, लेकिन यह भी सच है कि कांग्रेस के भीतर वह व्यवस्था १९७१ तक चलती रही। तब तक ऊँची जाति के लोगों का राजनीति में ऊँचे पदों पर बने रहना मुश्किल होता जा रहा था, भले ही वे कितने ही पढ़े-लिखे और कुशल रहे हों। अन्य लोगों का उच्च पदों पर जाना बढ़ गया था। तब तक कामराज आ चुके थे, जिनको अपने पर इतना भरोसा नहीं था कि वे प्रधानमन्त्री हो सकें। उन्होंने कहा था कि उन्हें न हिन्दी आती है न अँग्रेज़ी, वे प्रधानमन्त्री कैसे बन सकते हैं ? लेकिन उनकी क्षमता को सभी मानते थे। वे बहुत बढ़िया मुख्यमन्त्री रहे थे, बहुत बढ़िया संगठक थे और नीची जाति के थे। उनका प्रधानमन्त्री बनना बिल्कुल सम्भव था। आज मुश्किल हो गया है क्योंकि आज राजनैतिक दल संचार माध्यमों के सहारे जनमत परिवर्तन कर चुनाव जीतते हैं। यह श्रीमती इन्दिरा गाँधी का योगदान है और अब इसे नरेन्द्र मोदी ने कहीं अधिक परिष्कृत कर लिया है।

उदयन– क्या इसीलिए आपने एक जगह कहा है कि हमारे समय में राजसत्ता नागरिकों को धोखा देने में लगी हैं ?

आशीष दा– इस स्थिति में नागरिक निष्क्रिय बने रहते हैं, जो घट रहा है, उसे टेलीविज़न पर देखते हैं, नाराज़ होते हैं, कॉफी हाउस या कॉलेज केन्टीन में या अपने घर की बैठकों में उस पर बहस करते हैं और हर पाँच साल बाद वोट दे आते हैं। हालाँकि मध्यवर्ग वह भी नहीं करता।

उदयन– कुछ देर पहले आपने रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों पर कुछ कहना शुरू किया था। बात पूरी नहीं हुई थी। हम क्यों न गाँधी को लेकर टैगोर के पास चले जायें।

आशीष दा– मैं चलते-चलते 'गोरा' के बारे में यह कहना चाहता हूँ कि वह निदर्शनात्मक उपन्यास है। उसे लिखे जाने तक भारतीय राजनैतिक परिदृश्य पर गाँधी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। किसी हद तक सावरकर आ चुके थे, कुछ लोगों ने उनके बारे में सुन रखा था। टैगोर की काव्यात्मक कल्पना 'गोरा' (चरित्र) में उन गुणों को दर्शाती है, जो एक हद तक सावरकर में थे, इतना अवश्य है कि गोरा में सावरकर के जैसी हिंसा नहीं है। इसका कारण है। रवीन्द्रनाथ के निकटतम मित्रों में ब्रह्मोबान्धव बन्द्योपाध्याय थे। टैगोर के तीनों राजनैतिक उपन्यासों में अन्यों के अलावा वे भी एक चरित्र बनकर आते हैं। वे ईसाई थे और भारत में तथाकथित 'हिन्दुत्व' के पिता हैं। उनका नाम ब्रह्मोबान्धव इसलिए था क्योंकि वे अँग्रेज़ी नाम लेना नहीं चाहते थे वरना उनके नाम का अर्थ है थियोफिलिस। टैगोर के एक दूसरे उपन्यास 'चार अध्याय' की भूमिका में टैगोर ने एक बड़ी मार्मिक बात कही है कि कई वर्षों तक वे ब्रह्मोबान्धव उपाध्याय से नहीं मिल सके, ऐसा शायद उनके बीच के मतभेदों के कारण हुआ हो। वे स्वतन्त्रता आन्दोलन में हिंसा की ओर मुड़ चुके थे और टैगोर उनसे सहमत नहीं हो सकते थे इसीलिए वे टैगोर से मिलने में कतरा रहे थे। एक शाम वे अपने घर की बैठक में थे कि अचानक ब्रह्मोबान्धव वहाँ आ गये और उनसे कुछ इस तरह बात करने लगे मानो इस बीच कुछ भी न हुआ हो। उन्होंने साथ चाय पी और घण्टों बातें करते रहे और फिर वे चले गये। टैगोर उन्हें दरवाज़े तक छोड़ने गये, वे अचानक मुड़े और उनकी ओर देखते हुए बोले, 'मेरा बहुत अधोपतन हो गया है, है ना ?' टैगोर जवाब दे पाते इससे पहले ही वे दोबारा मुड़े और चले गये। यह उनकी आख़री मुलाकात थी। टैगोर ने भूमिका में आगे लिखा है कि 'चार अध्याय' शुरू करने से पहले मैं यह कहना चाहता था। इस कारण लोगों को उपन्यास का सन्दर्भ तुरन्त पता लग गया। उस उपन्यास में हिंसा का प्रचण्ड विरोध है। बाद में टैगोर ने भूमिका हटा ली और कहा कि यह उपन्यास एक प्रेमकथा है, उसे ऐसे ही पढ़ा जाए। लेकिन मैं कुछ और कह रहा था : 'गोरा' के पहले हिस्से में गोरा हिन्दुत्व के पक्ष में सबसे सबल तर्क देता है, वे तर्क विवेकानन्द से आये थे, मिस्टर निवेदिता से आये थे और निश्चय ही ब्रह्मोबान्धव उपाध्याय से और कुछ कुछ भूदेव मुखोपाध्याय और अन्यों से। लेकिन उपन्यास के अन्त का गोरा गाँधी की तरह बोलता है। कुछ जगहों पर। गोरा के लिखे जाने तक भारतीय राजनीति में गाँधी का प्रवेश नहीं हुआ था, वे तब तक दक्षिण अफ्रीका में ही थे। भारत में उनके बारे में सुना तक नहीं गया था। इस तरह यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास गाँधी जैसे व्यक्तित्व के प्रादुर्भाव का पूर्वानुमान करता है। यह कमाल की

काव्यात्मक कल्पना है। यह उनकी इसी कृति में नहीं हुआ है, कुछ अध्येयताओं ने उनकी 'गोरा' से पहले की कृतियों में भी गाँधी जैसे व्यक्तित्व की छाया को देखा है। शान्ति निकेतन में टैगोर के शिष्य प्रसिद्ध बांग्ला लेखक प्रमथनाथ बिशी ने इस पर पूरी किताब लिखी है : रवीन्द्रनाथेर गाँधीचरितेर पूर्वाभ्यास। टैगोर ने गाँधी के आने के पहले ही उस समय के भारत की राजनैतिक उथल-पुथल में गाँधी के आने की सम्भावना को देख लिया था। इस अर्थ में गाँधी और सावरकर के बीच का संवाद जिस पर अभी हाल ही में यू-आर अनन्तमूर्ति की मरणोपरान्त पुस्तक आयी है, 'गोरा' में ही शुरू हो गया था। इसीलिए गोरा आज पूरी तरह प्रासंगिक है। हिन्दुत्व के वर्तमान पुरोधा 'गोरा' के जितना सबल तर्क आज भी अपने पक्ष में नहीं दे सकते। पर 'गोरा' में यह केवल पूर्वपक्ष है, हिन्दुस्तान में पूर्वपक्ष अगर मज़बूती से नहीं रखा जाता तो उसके जवाब (उत्तरपक्ष) में शक्ति नहीं आती। 'गोरा' में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों ही मज़बूती से रखे गये हैं।

उदयन- उपन्यास की शुरुआत में चाहे विनय के तर्क हों या गोरा के या अन्यों के टैगोर सभी पर सूक्ष्म रूप से प्रश्न उठा रहे हैं। वे स्वयं अपने पर भी व्यंग्य कर रहे हैं मानो वे पश्चिम प्रभावित बौद्धिकों को प्रश्नांकित कर रहे हों। इसके साथ ही वे इस सभ्यता के स्वरूप के सत्यों की अपनी खोज जारी रखते हैं और गोरा उपन्यास के बाद के हिस्से में मानो खुद अपने लिए कुछ खोज लेते हैं।

आशीष दा- इस विषय पर शिशिर कुमार दास ने भी एक विलक्षण लेख लिखा है।

उदयन- आपने सृजन प्रक्रिया के विषय में विचार किया है। हम उस पर कुछ देर बात करें...

आशीष दा- लेखक या कलाकार कई बार सृजन इसलिए भी करते हैं कि उन्हें करना होता है। आप कई बार इसलिए भी लिखते हैं कि आपको लिखना है, निश्चित समय सीमा में लिखना है लेकिन कोई भी सर्जक अपने उत्कृष्टतम क्षणों में खासकर यदि वह संगीत के क्षेत्र का है या कविता का, दर्शन या गणित का, दरअसल सृजन नहीं कर रहा होता, बल्कि खुद उसका सृजन हो रहा होता है। सर्जनात्मकता की यही पारम्परिक समझ है। तुमको माईकल एजिंलो की 'डेविड' का प्रसिद्ध किस्सा याद है ? माईकल एंजिलो 'डेविड' बनाने के बाद यह सोचने लगे कि यह देखा जाए कि लियोनार्दो द विंची मेरे इस शिल्प के विषय में क्या सोचते हैं। विंची को आमन्त्रित किया गया। विंची आये और 'डेविड' को उन्होंने पसन्द किया, उन्होंने उसकी तारीफ़ की। वह डेविड एपोलो के जैसा सुन्दर और ताक़तवर दिखता है। उसे देखकर विंची जब लौटने लगे, वे बोले, 'यह शिल्प बहुत सुन्दर है लेकिन जब डेविड ने गोलियथ को पराजित किया था, ऐसा उसने अपनी शक्ति से नहीं किया था, उसने उसे ईशकृपा के सहारे पराजित किया था।' एंजिलो ने डेविड को कुछ अधिक ही शक्तिशाली बना दिया था, लेकिन वह तो ईश्वर की कृपा थी, उसकी अपनी शक्ति नहीं जिसने उसे विजय दिलायी थी। इसलिए डेविड को अपेक्षाकृत कमज़ोर दिखाना था, एक ऐसे सामान्य व्यक्ति के जैसा जो ईशकृपा से इतना शक्ति-सम्पन्न हो गया कि उसने गोलियथ जैसे व्यक्ति को हरा दिया।

लियोनार्दो द विंची के इस कथन में गाँधी की समझ झलकती है।

कहानी का दूसरा हिस्सा यह है कि सृजन के श्रेष्ठतम क्षणों में स्वयं आपके माध्यम से सृजन होता है और इसमें कई शक्तियाँ शामिल होती हैं, जिसे हम अलौकिकता कहते हैं वह भी इन्हीं में शामिल है। कई सर्जक ईश्वर में विश्वास नहीं भी करते और इसलिए यह कहना ठीक होगा सृजन में सबसे प्रमुख भागीदारी नैतिक संसार की हुआ करती हैं जिससे मेरा आशय यह है कि सृजन में आपकी 'बेखुदी' (डिसओंड सेल्फ़) अपनी अभिव्यक्ति पा लेती है, आपके लेखन के माध्यम से। साथ ही दूसरों के न सिर्फ़ 'प्रकट आत्म' बल्कि उनके छिपे हुए, 'अन्तःसलिल आत्म' का अवचेतन पठन भी आपकी कृति में जगह पा लेता है। उसके उस छिपे हुए आत्म के विषय में न लेखक सचेत रूप से जानता है और न वह जिसका छिपा हुआ आत्म वह है तब भी वह महान कलाकृति में अभिव्यक्त हो जाता है। महान सृजनात्मक कला और साहित्य इसी तरह उत्पन्न होते हैं और वे अपने समय को प्रकट करते हैं और अन्ततः समय पर विजय पा लेते हैं। वे ही हम सबकी ओर से बोलते हैं, हम सब उनमें अनजाने ही हिस्सेदारी करते हैं।

उदयन– इसका अर्थ यह हुआ कि एक महान कलाकृति सिर्फ़ अपने सर्जक के विषय में ही नहीं बोलती, वह अपनी समूची सभ्यता को बोलती है।

आशीष दा– हर व्यक्ति उसे अलग ढंग से पढ़ सकता है और यह पठन कभी भी एक वचनात्मक नहीं हो सकता, वह हमेशा ही बहुवचनात्मक होगा। सृजनात्मकता इसी अर्थ में बहुवचनात्मक होती है।

उदयन– हर पढ़ने वाला अपने को उस कृति के सन्दर्भ में अलग जगह रखेगा और इसीलिए कृति के भीतर का संसार उसके लिए बदल जाएगा।

आशीष दा– आपको हर बार उसमें नये अर्थ को पाने का प्रयास करना होता है क्योंकि आपकी स्थिति अलग होती है। इसीलिए हर पीढ़ी महान सृजनात्मक कृतियों को नये ढंग से आविष्कृत करती है, उसके लिए उसका अर्थ भी वह नहीं रह जाता जो उसके पहले की पीढ़ियों ने निकाला था। वह इसी तरह कालजयी होती हैं।

उदयन– क्योंकि वह काल का शिकार नहीं होती।

आशीष दा– बिल्कुल। क्योंकि वह किसी एक कालखण्ड में बन्धकर नहीं रहती।

उदयन– सर्जनशील व्यक्ति भले ही काल के हाथों पराजित हो जाये क्योंकि वह मरता है पर उसकी कृति की नियति अलग होती है।

आशीष दा– यह ठीक बात है।

उदयन– टॉल्स्टॉय के बारे में एक कहानी प्रचलित है। वह कितनी सही है, मुझे नहीं पता। अपने अन्तिम दिनों में टॉल्स्टॉय ने पढ़ने को एक किताब उठायी और पाया कि वह कमाल का उपन्यास है। जब उन्होंने उस उपन्यास का नाम देखा, वह 'अन्ना कैरेनीना' था, उनका अपना लिखा उपन्यास। मेरा ख़याल है कि इन्टीमेट एनिमी (आत्मीय शत्रु) भी लगभग वैसे ही लिखी गयी होगी, शायद हम यह कह सकें कि उसे आपने कम लिखा है, वह आपके माध्यम से अधिक लिखी गयी है।

आशीष दा– मैं खुद भी ऐसा सोचना चाहूँगा। मैंने यह पढ़ा है कि पारम्परिक चित्रकार और शिल्पी हमेशा यही सोचते थे कि मेरे माध्यम से सृजन हो रहा है। बांग्ला में एक कहावत भी है, कि प्रेत भी आप पर काबिज़ हो सकते हैं। केवल प्रेत ही नहीं सर्जनात्मक वृत्ति भी काबिज़ होती है, आप पर तारी हो जाती है। कला के पारम्परिक सिद्धान्त में इसे अलौकिक कहा जाता है। यह आप नहीं, आप पर तारी अलौकिक संवेदन है जो सृजन कर रहा है। महान संगीतकार लगभग यही भाव इन्हीं शब्दों में व्यक्त करते रहे हैं।

उदयन– महान ठुमरी गायिका सिद्धेश्वरी देवी भी कहती थीं: हम नहीं जानते कौन गा रहा है...

आशीष दा– वे उमा को बहुत पसन्द करती थीं। उमा ने उनसे दो-एक साल संगीत सीखा है। सिद्धेश्वरी बहुत स्नेहिल व्यक्ति थीं। वे श्रीराम कला केन्द्र में सिखाती थीं। मेरा काम उन्हें कलकत्ते से लाकर पान देना था। उन्हें कलकतिया पान बेहद पसन्द था। मेरा काम था कलकत्ता में सुबह पाँच बजे उठकर दो-सौ, तीन सौ पान लगवाकर लाना, दिल्ली उड़ान भरने के पहले तक उन्हें फ्रिज में अच्छी तरह रखना और उतनी ही अच्छी तरह उन्हें ले जाकर दे आना।

उदयन– आपने इस बात पर बहुत विचार किया है कि भारतीयों ने कभी उस तरह इतिहास नहीं लिखा जैसा कि आधुनिक मनीषा उसे समझती है, साथ ही यह प्रश्न भी आपके लिए महत्व का रहा है कि भारत में आधुनिक 'नेशन स्टेट' ज़ोर देकर बनाया गया है। इसके लिए यहाँ के सम्प्रदायों को 'एथिनिक' समूहों में रूपान्तरित किया गया और अन्य भी कई चीज़ें की गयीं जिसका परिणाम वह व्यापक हिंसा है, जो हम पिछले कई दशकों से भोग रहे हैं। हमारे पास हमारे अपने समाज के योग्य शायद कोई राजनैतिक विचार है ही नहीं, धरमपाल यह बात अक्सर कहते थे। आप इसे किस तरह देखते हैं ?

आशीष दा– इसके कई कारण हैं। अगर मैं अनुमान लगाऊँ तो एक महत्वपूर्ण कारण वही है जो तुमने हमारे इतिहास लेखन के बारे में कहा कि हम इतिहास लेखन के प्रति पर्याप्त खुले नहीं रहे। आधुनिक 'नेशन स्टेट' कुछ हद तक एक तरह की 'हिस्ट्री' पर निर्मित होते हैं। मैं यह शुरू में ही कह दूँ कि 'हिस्ट्री' के प्रति हमारी अपर्याप्त दृष्टि के लिए मुझे खेद नहीं है। 'हिस्ट्री' अतिरंजित महत्व पा गया अनुशासन है। वह समूचा अतीत नहीं होती। निश्चितताओं से लैस इतिहासकार के लिए अभिलेखागारों में जाने के अलावा कोई राह नहीं है, वे

अभिलेखागारों के गुलाम होते हैं और कुछ इस तरह बात करते हैं मानो अभिलेखों को मनुष्यों ने न बनाया हो बल्कि वे दैव-उद्घाटित पवित्र ग्रन्थ हों। वे यह भूल जाते हैं कि सभी मानवीय निर्मितियाँ कम या ज़्यादा दोषपूर्ण होती हैं, अभिलेखागार भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्हें नौकरशाह, बाबू, कुली जैसे लोग लिखा करते हैं। उनमें भी आलोचना या आरोप या मिथ्याकरण आदि होते हैं। हमारा अतीत वैविध्यपूर्ण है। प्राचीन काल के भी कुछ ऐसे लेखन हैं जो पश्चिमी अर्थ के 'हिस्ट्री' लेखन के जैसे हैं। लेकिन वे बहुत थोड़े हैं। लेकिन ऐसे लेखन भी हैं जो सार्वजनिक स्मृति को दर्ज करते हैं जिन्हें शौर्यगाथाकारों ने गाया है। भाटों ने भी स्मृतियों को पर्याप्त संग्रहीत किया है। अगर आप बनारस, हरिद्वार आदि जगहों पर जाएँ तो वहाँ के वंशावलिकार आपसे पूछेंगे कि आप कहाँ के हैं, आपके पुरखे कौन थे आदि। उनके पास आपके पुरखों की ख़बर होगी। वे भी इतिवृत्त लिखते हैं। जाति पुराण में भी ऐसा ही कुछ होता है पर इन पुराणों में समुदायों के इतिवृत्त होते हैं, वंशावलिकार वंशावलियाँ लिखते हैं। हमारा अतीत है पर वो अलग चीज़ों में वास करता है, यह बहुत महत्वपूर्ण है। आप दस लोगों से बात करिये, वे अतीत के दस संस्करण बताएँगे। और वह भी हमारी कमी नहीं है, दरअसल हमारा खुला हुआ अतीत है पर इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि हमारे अतीत के वर्णनों में व्यक्तिपरकता को भी शामिल किया जाता रहा है।

उदयन- इसका आशय यह है कि उसमें मानवीय संवेदनाओं को भी स्थान मिलता है।

आशीष दा- बिल्कुल। हमारे अतीत के वर्णनों में मानवीय आवेग, प्रयोजन, प्रभाव और मान्यताओं की व्यवस्थाएँ भी शामिल होते हैं। इस तरह के लेखन में सिर्फ़ अतीत को यादभर नहीं किया जाता जैसा कि 'हिस्ट्री' लेखन में होता है। 'हिस्ट्री' में नैतिकता नहीं होती। नैतिक 'हिस्ट्री' नहीं हो सकती। 'हिस्ट्री' भावनाओं, प्रेरणाओं, संस्कृतियों और सम्प्रदायों के प्रति अन्धी होती है। उस हद तक 'हिस्ट्री' मानवीय चरित्र और स्वभावों के प्रति बहुत एकांगी होती है। उसे जानकार आपको ऐसा कोई संकेत नहीं मिल पाता कि अतीत किस तरह वर्तमान में स्पन्दित होता है। उस किस्म की 'हिस्ट्री' को पढ़कर आप मझधार में फँस जाते हैं। यह कहने कि कोई हिंसक था या निर्मम था या किसे ने नरसंहार किया था, आपको 'हिस्ट्री' से बाहर जाना पड़ता है। 'हिस्ट्री' में अगर नरसंहार का ज़िक्र भी होता है तो वह केवल इतना ही होता है कि 'इतने लोग मारे गये' और ज़्यादा से ज़्यादा यह कि वे लोग किस तरह मारे गये थे और उन्हें किन हथियारों से मारा गया था : गन, मशीनगन, कुल्हाड़े आदि। 'हिस्ट्री' यह नहीं बताती कि नरसंहारों के पीछे कौन-सी विश्वदृष्टि थी, कैसे उन्हें न्यायोचित ठहराया गया था। अगर आप इन चीज़ों की माँग 'हिस्ट्री' से करेंगे, आपको जवाब मिलेगा कि यह सब लिखना खराब विज्ञान है लेकिन सारे विज्ञान वही हैं। उन्हे नैतिकता-निरपेक्ष माना जाता है और इसीलिए 'यूजेनिक्स' यह कहता है कि अगर आप आनुवंशिक रूप से विकलांग किसी व्यक्ति/बच्चे को मार डालें तो समाज के स्वस्थ बने रहने की सम्भावना अधिक है, इससे स्वास्थ्य-सूचकांक ऊपर चला जाएगा। आपको 'हिस्ट्री' से मानक स्थितियाँ (नॉर्मेटिव पोजिशन) कभी पता

नहीं चलती। मसलन स्पार्टा में नवजात शिशु को एक या दो दिन के लिए तेज़ सर्दियों या दूसरे मौसम में घर के बाहर रख दिया जाता था। अगर वह बच जाता, केवल तब उसे स्वीकार किया जाता। यह बच्चों के प्रति स्पार्टा की वृत्ति को बताता है। इसी वृत्ति को लेकर नात्सियों ने यूजिनिक्स का इस्तेमाल किया था ताकि वे समलैंगिक, विकलांग, ऑटिस्टिक बच्चों और लक्वाग्रस्तों को अन्य लोगों से अलग कर उन्हें मार सकें। इसके बाद उन्होंने कम्यूनिस्टों को मारने का प्रयास किया और अन्ततः यहूदियों को। यह पूरा किस्सा कुछ ऐसा है मानो कोई टैस्ट मैच खेलने से पहले छोटे-छोटे मैच खेल रहा हो। 'हिस्ट्री' प्रेरित नहीं कर सकती। वह विज्ञान की तरह ही मूल्य निरपेक्ष होती है। १९२० में ही एक जर्मन चिकित्सक ने कहा था, हमें उस जीवन को खत्म करने का अधिकार अपने पास रखना चाहिए जो जीने योग्य नहीं है। ये प्रसिद्ध चिकित्सक का कथन है और वह विज्ञान की बात कर रहा था।

उदयन- और हिप्पोक्रेट्स की शपथ ?

आशीष दा- हिप्पोक्रेट्स की शपथ केवल एक सीमा तक ही जाती है, उसके बाद नहीं। हमें सावधान रहना चाहिए क्योंकि विज्ञान के व्यवहार का ढंग यही है। यह बात सिर्फ़ जर्मनी के लिए ही सही नहीं है। किसी ने मुझे बताया था कि तीन वैज्ञानिक जिन्होंने अमरीका का एटम बम बनाया था, (जिसमें सुप्रसिद्ध फेनमेन भी शामिल थे) साईबरनेटिक्स के प्रणेता नाबर्ट वीनर (जो एम.आई.टी. में प्रोफ़ेसर थे) के पास यह जानने गये कि वे गणना कर यह बताएँ कि हिरोशिमा के कितने ऊपर एटम बम को सक्रिय किया जाना चाहिए जिससे सबसे अधिक संहार हो सके। नार्बर्ट वीनर के पक्ष में यह ज़रूर कहूँगा कि उन्होंने इन वैज्ञानिकों से कहा कि कृपया वे उन्हें उस सबसे बाहर रखें। मैं यह नहीं भूल सकता कि उस बैठक में एक वैज्ञानिक के विरोध में तीन थे। तीन वैज्ञानिकों में एक भौतिकशास्त्र के नोबेल पुरस्कार विजेता थे, एक और जाने माने गणितज्ञ थे, फ़ान न्यूमन जिन्हें नोबेल पुरस्कार अवश्य मिला होता, अगर वह पुरस्कार गणित में भी होता। उन्हें नोबेल पुरस्कार मिल सकता था क्योंकि शुरुआती वर्षों में नोबेल पुरस्कार गणितज्ञों को भी दिया जाता था और ये महान गणितज्ञ थे। दरअसल अल्फ्रेड नोबेल की पत्नी एक गणितज्ञ से प्रेम करने लगी थीं, अल्फ्रेड ने इस कारण नोबेल पुरस्कार की फेहरिस्त से गणित को हटा दिया।

उदयन- आपकी दृष्टि में 'हिस्ट्री' की तुलना में मिथकों आदि की क्या शक्ति है और वह क्यों है?

आशीष दा- वे स्वतः ही बहुवचनात्मक होते हैं। हर व्यक्ति का अपना मिथक होता है। हर मिथक का अलग रंग होता है। कई लोगों को इस पर आपत्ति है कि सैकड़ों रामायण हैं लेकिन तुलसीदास की रामायण (रामचरितमानस), वाल्मीकि की रामायण नहीं है। तुलसीदास का ग्रन्थ भक्ति में डूबा हुआ है। वाल्मीकि रामायण अधिक निरपेक्ष, सादी और निष्ठुर होने के अर्थ में ब्राह्मणवादी है। वह रामायण कुछ ऐसी है, मानो उसे काल की आँख से देखकर लिखा गया हो। यह देखने का एक अलग ढंग है। संस्कृत साहित्य में ऐसी दृष्टि मिलती है।

महाभारत में भी यही दृष्टि सक्रिय है। महाभारत कहीं अधिक जटिल ग्रन्थ है, उसमें कुछ जगहों पर, कुछ चरित्रों में यह 'काल जैसी' निरपेक्ष दृष्टि मिलती है। उसे पढ़ते समय यह ध्यान रखना होता है कि किसी स्थान पर कुछ ऐसा तो नहीं कहा जा रहा जो महाभारत युग के बाहर से बोला जा रहा हो। मुख्यतः महाभारत को इतिहास ग्रन्थ कहा जाता है। रामायण भी इतिहास ग्रन्थ है और महाकाव्य भी है। भागवत को भी इतिहास ग्रन्थों में शामिल किया जाता है पर सामान्यतः महाभारत को ही इतिहास कहा जाता है, रामायण को भी वह स्थान प्राप्त नहीं है। इतिहास मानवीय प्रेरणाओं का स्थान है। मसलन महाभारत का हर चरित्र ठहरकर इन प्रेरणाओं की भाषा बोलता है। इतिहास ग्रन्थ में वनवास को जाने से पहले सीता राम से यह कह सकती थी कि 'तुम ये शस्त्र लेकर क्यूँ चल रहे हो। वनवासियों से हमारा क्या बैर है। उन्होंने हमारा कौन-सा अहित किया है।' इस पर राम कहते हैं 'यह आत्मरक्षा के लिए है।' पर यह भी सच है कि जब भी शस्त्र होंगे, उनके उपयोग में चूक होकर रहेंगी और इस तरह हिंसा की सम्भावना बढ़ जाएगी।

उदयन– ऐसा प्रश्न उठाया जाना कमाल की बात है।

आशीष दा– क्या यह और भी अद्‌भुत नहीं है कि सीता यह प्रश्न उठाती है। मैं तुम्हें एक और उदाहरण देता हूँ जो प्रति-ऐतिहासिक है। पुराण स्मार्त ग्रन्थ हैं, जो श्रुतियों की तुलना में लोक के अधिक निकट है। यह कहानी मुझे यू.आर. अनन्तमूर्ति ने सुनायी थी। यह कन्नड़ रामायण में है। राम के वनवास जाने के पहले जैसा कि राम और सीता के बीच बहस होती है, वैसी ही इस रामायण में भी हो रही है। राम सीता से कहते हैं, तुम मेरे साथ मत चलो। तुम राजकुमारी हो, तुम्हें वन में रहने का अनुभव नहीं है। तुम्हारे लिए यह मुश्किल होगा। तुम अयोध्या में ही रूक जाओ। सीता शुरू में वही जवाब देती हैं जो दूसरी रामायणों में है, तुम्हारी पत्नी होने के कारण मेरा यह दायित्व है कि मैं तुम्हारे साथ रहूँ। दोनों के बीच बहस होती है और जब सारे तर्क विफल हो जाते हैं, वे कहती हैं, 'बाकी सारी रामायणों में सीता राम के साथ वन जाती है, तुम मुझे कैसे रोक सकते हो,' यह लगभग ब्रेख्तियन क्षण है, यह कुछ ऐसा है, मानो सीता आपको याद दिला रही हो कि आप आख्यान पढ़ रहे हैं। 'हिस्ट्री' की समाज में भूमिका अपेक्षाकृत बहुत कम है, इसलिए हम उसके आधार पर किन्हीं निश्चितताओं को मान्यता नहीं दे सकते। भारत में सभी तरह की 'हिस्ट्रियों' में मुश्किलें हैं। पुराणों में भी मुश्किल है क्योंकि उनके कई संस्करण हैं। उनके कई तरह के लेखक हैं। महाभारत के तेलगु में पुराने समय के १६ संस्करण मिल जाते हैं। मैंने कहीं पढ़ा है कि एक मुसलमान लेखक अपनी रामायण लिखना चाहते थे। मुहम्मद इस्माईल उनका नाम था। वे 'मुहम्मद रामायण' लिखना चाहते थे। फिर आन्ध्रप्रदेश में दंगे हुए और उन्हें मार दिया गया। इस तरह वह बीसवीं रामायण कभी नहीं लिखी जा सकी। उन्होंने अपना सारा जीवन इसमें लगा दिया था, वे बुजुर्ग थे। इतिहास लेखन के सन्दर्भ में यह याद रखा जाना चाहिए कि कई अध्येताओं का यह मानना है कि 'महाभारत' का 'शान्तिपर्व' बौद्धों ने जोड़ा था।

उदयन– ऐसा हो सकता है...

आशीष दा– इसी पर्व में युधिष्ठिर कहते हैं कि इस क्षण में विजय पराजय में घुल-मिल गयी है।

उदयन– यह बौद्ध कथन-सा लगता है। यह भी हो सकता है कि महाभारत में बुद्ध के आने के पहले ही बौद्ध दृष्टि-सा कुछ रहा हो। जिसका अर्थ यह है कि 'महाभारत' में बौद्ध दृष्टि की उत्पत्ति की सम्भावना सोयी हुई रही हो...।

आशीष दा– महाभारत में शुरू में दस हज़ार श्लोक थे, और वे बढ़ते-बढ़ते एक लाख हो गये। उसकी शुरुआत ईसा के दो सौ साल पहले होती है। तब तक बौद्ध विचार आ चुका था। शुरू में यह 'जय भारत' थी, जो और भी पहले का ग्रन्थ था, वह बढ़ते-बढ़ते सातवीं-आठवीं शताब्दी तक एक लाख श्लोकों वाला हो गया। यहाँ तक आने के बाद से वह वैसी ही बनी रही क्योंकि यहाँ आकर कई तरह की साक्षरताएँ शुरू हो गयी थीं।

उदयन– महाभारत का लिखित पाठ भले ही ज्यों का त्यों बना रहा पर उसके प्रदर्शनों में कई तरह की उपज आज तक भी होती रहीं।

आशीष दा– ऐसा ही शैक्सपीयर के साथ भी हुआ था।

उदयन– इस तरह महाभारत का बढ़ना कभी बन्द नहीं होता।

आशीष दा– लेकिन ऐसा 'हिस्ट्री' में नहीं हो सकता। अगर 'हिस्ट्री' में दो मत हैं तो एक सही होगा दूसरा ग़लत। यही 'हिस्ट्री' लेखन की बुनियादी मान्यता है। दोनों मतों के बीच संघर्ष होता है। मज़बूत मत जीतता है। अगर ऐसा नहीं हो पाता तो अधिक आँकड़े उपलब्ध होने तक एक-दो पीढ़ियों के बाद इस मसले को सुलझा लिया जाता है और यहीं मतान्तर का समापन हो जाता है। 'हिस्ट्री' में इस तरह का तर्क काम करता है।

उदयन– 'हिस्ट्री' और मिथकों से मानवीय चेतना कितने स्तरों पर प्रतिकृत होती है और इनमें क्या फ़र्क है ?

आशीष दा– ऐसा नहीं है कि लोगों को यह पता न हो कि महाभारत या रामायण के विभिन्न संस्करण एक-दूसरे से अलग हैं। बंगाली रामायण में राम जो मिष्ठान खाते हैं, वे सारे बंगाली मिष्ठान हैं। यह वे मिठाइयाँ हैं जो बंगाल में उन दिनों होती थीं जब यह बंगाली रामायण लिखी गयी थी जैसे बौण्डा याने बड़े लड्डू। आप साफ़-साफ़ देख सकते हैं कि वह वैष्णव रामायण है और उसका प्रभाव इतना गहरा है कि जब मैं रामजन्मभूमि का अध्ययन करने अयोध्या गया तो मुझे और मेरी टीम के सदस्यों और कुछ अन्यों से वहाँ के कुछ लोगों ने अलग-अलग ढंग और अलग-अलग समय पर यह कहा कि रामजन्मभूमि का सारा विवाद इसलिए हो रहा है क्योंकि यह दो साध्वियाँ, उमा भारती और ऋतम्भरा देवी, शिव भक्त हैं और वे चाहती हैं कि अयोध्या के सारे

मन्दिर वैष्णव न रहें, शैव हो जाएँ। वे यह भी बोले कि हम राम को राजा नहीं मानते। हमारे लिए वे रामलला है जबकि यह लोग राम को राजा कहते हैं, अयोध्या अलग जगह है और वे लोग इसे हड़पने की कोशिश कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि इसे हड़पकर वे इसे शैव बना दें। यह कहने वाले लोगों में एक-दो लोग भारतीय जनता पार्टी के समर्थक भी थे। हम अयोध्या के बारे में क्या सोचते हैं और स्वयं अयोध्यावासी अपने नगर के बारे में क्या सोचते हैं, इन दोनों में फ़र्क है। यही फ़र्क है, 'हिस्ट्री' आधारित संघर्षों और मिथक आधारित विवादों में। वे एक दूसरे से अलग न भी हों, उनमें अलग होने का आभास अवश्य है। वे लोग अध्योध्या की घटनाओं को अपने संसार के सन्दर्भ में देखते हैं। उनका संसार वैष्णव, शैव, अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत आदि में विभाजित है। इस संसार का 'हिस्ट्री' के विमर्श से कोई तालमेल नहीं है। अब सभी लोग बोलते हैं कि ये हमारी 'हिस्ट्री' है। वे भले न जानते हों कि वह 'हिस्ट्री' क्यों है। दरअसल वे अतीत के अपने संस्करण के लिए प्रामाणिकता चाहते हैं। रामजन्मभूमि मन्दिर का प्रमुख पुरोहित कम्युनिस्ट पाटी ऑफ इण्डिया (मार्क्सवादी) का कार्डधारी सदस्य था। वह बहुत बढ़िया आदमी था। अयोध्या में ऐसा बहुत कुछ है। वह बड़ी विलक्षण जगह है। किसी ज़मीन के झगड़े में मारे जाने के पहले तक वह संघ परिवार के पूरी तरह विरोध में था। वो कहता था कि यह सारा कार्यक्रम खोखला है, ये लोग हिन्दू होते तो जानते। लेकिन वो भी यह मानता था कि उसका मन्दिर ही असली रामजन्म भूमि है। कार्डधारी सदस्य तक यहाँ 'हिस्ट्री' से अप्रभावित बना रहा। जब मैं अयोध्या गया था, वहाँ कम-से-कम बारह मन्दिर ऐसे थे जो असली रामजन्मभूमि होने का दावा कर रहे थे। जब सारी चीज़ें ख़त्म हो गयीं और ऐसे दावे जो अपने को जन्मभूमि बता रहे थे, केवल छह सात रह गये, संघ परिवार पैसे देकर इनके पुरोहितों को उनके मन्दिर के रामजन्म भूमि होने के दावे को छोड़ने को कह रहे थे। उन्हें डर था कि अगर बहुत सारे दावे बने रहे तो मुसलमान यह कह सकते हैं कि सब लोग अलग-अलग बातें कर रहे हैं और तब रामजन्मभूमि होने का किसी का भी दावा माना नहीं जायेगा। उन पुरोहितों को कहा गया कि आप अपने मन्दिर के जन्मभूमि होने के दावे को लोगों के सामने मत कहिए, कोई तीर्थ आदि करने आये, उसके सामने भले ही यह दावा करते रहिए।

उदयन- कुछ देर पहले आपने जातिपुराणों का ज़िक्र किया था मैंने धरमपाल और रवीन्द्र शर्मा के अलावा बहुत कम लोगों को उनका ज़िक्र करते सुना है। जातिपुराणों के बारे में आपका क्या विचार है ?

आशीष दा- जातिपुराण जातियों के इतिहास हैं। वे इतिहास हैं, 'हिस्ट्री' नहीं, उनमें सबकुछ मिल जाता है। जातियों में जो भी बदलाव आये हों, उनका वर्णन भी इन पुराणों में आता है। जो पुरोहित जातिपुराण लिखते या सुधारते थे, वे जातियों की ज़रूरतों को अच्छी तरह समझते थे। पटेलों के ४-५ जातिपुराण हैं। अगर आप उन्हें पढ़ें, आप पायेंगे कि पटेलों के जीवन में परिवर्तन आते रहे हैं। इन सभी जातिपुराणों में यह लोग शुरू में ऊँची जाति के बताये जाते हैं फिर किसी पाप के कारण इन पर शाप का प्रकोप आता है। पटचित्र भी ऐसे ही होते थे, उनमें से कुछ को मुसलमान बनाते थे, वे कहते हैं कि किसी पीर ने उन्हें शाप दिया था या किसी कारणवश

वे यह करते हैं। पीर ने उन्हें कहा था कि चूँकि तुम लोगों ने ग़लती की है, तुम्हारे चित्रों को लेने वाले हिन्दू होते जाएँगे और तुम हिन्दू देवी-देवताओं के ही चित्र बनाते जाओगे। वे लोग अपने काम के बारे में यही तर्क देते हैं। वे इसी आधार पर हिन्दू देवी-देवताओं के चित्र बनाने को न्यायसंगत ठहराते हैं। ऐसा नहीं कि सभी मुसलमान कुरान को शब्दशः मान रहे हों। यह सच है कि मुसलमानों को देवताओं को चित्र बनाने की अनुमति नहीं है पर जब उनके खरीददार बदल गये, वे यह करने लगे। फ़ारस में भी पैगम्बर का चित्र बनाया जा सकता था। अल्लाह का चित्र बनाना वैसे भी मुश्किल है क्योंकि उनकी सारे लक्षण मूल्यपरक और गुणपरक है। उनके जितने नाम हैं, उतने ही उनके गुण हैं। उन्हीं गुणों से उन्हें पुकारा भी जाता है। किसी का नाम 'अल्लाह' नहीं रखा जा सकता। पर मेरा एक दोस्त है उसका नाम 'रब खान' है।

उदयन– रब निश्चय ही अल्लाह ही हैं पर यह शब्द फ़ारसी भाषा का है।

आशीष दा– पारसियों ने इस धर्म की सभ्यतागत और सांस्कृतिक पीठिका बनायी है। जब तुर्क लोग भारत आये, उन्होंने तुर्की नहीं, फ़ारसी को राजभाषा घोषित किया था।

उदयन– ऐसा क्यों था ?

आशीष दा– १४वीं या १५वीं शती तक फ़ारसी सभ्यता विकसित हो चुकी थी, अरबी कुछ-कुछ हशिये पर थी। तब अरबी सभ्यता बढ़ना शुरू कर रही थी जबकि फ़ारसी सभ्यता पूरी तरह विकसित थी, उसका ज़ोराश्ट्रयन काल भी उपस्थित था। पारसियों में अपने अतीत के प्रति गहरी संवेदनशीलता है। मैं पहली बार ईरान अयातुल्लाह खुमैनी के समय में गया था। मैं उसके पहले भी गया हूँ क्योंकि यूरोप जाते हुए वहाँ ज़हाज़ रुका करता था। जब मैं अयातुल्लाह के समय में वहाँ गया, मैं यह जानकर चकित रह गया कि अनेक प्रसिद्ध फ़ारसी कवि गैर-इस्लामी थे। कई मुसलमान कवि भी प्रसिद्ध थे पर सबसे अधिक प्रसिद्ध कवि न सिर्फ़ गैर-इस्लामी थे बल्कि वे गैर-ईरानी भी थे। फिरदौसी इसकी अच्छी मिसाल हैं। वह ज़ोराश्ट्रयन थे। पर वहाँ यह कहा नहीं जाता।

उदयन– वे सारे कवि उनकी साहित्यिक परम्परा का अभिन्न अंग हैं।

आशीष दा– यह सृजनात्मकता उनके पवित्रता बोध का भी अंग है। उन कवियों का ईरान में बहुत ऊँचा दर्ज़ा है। उसी यात्रा को ख़त्म कर जब मैं वापस आने के लिए हवाई अड्डे पर आया, वहाँ बहुत-सी विशेष रूप से ईरानी वस्तुएँ नज़र आयीं, उनमें से नब्बे प्रतिशत इस्लाम-पूर्व की थी। पर्सपोलिस की पत्थर में अनुकृति आदि सभी इस्लाम-पूर्व ज़ोराश्ट्रयन कृतियाँ थीं और उन्हें लेकर वहाँ कोई संकोच नहीं है। उन्हें नहीं लगता कि ये सब चीज़ें उनके इस्लामी अस्तित्व को किसी तरह भी नकारती है। वे इनके लिए गर्व महसूस करते हैं। फ़ारसी सभ्यता दो हज़ार साल पुरानी है जबकि मोहम्मद साहब चौदह सौ साल पहले हुए हैं।

उदयन– हिन्दी के आलोचक वागीश शुक्ल ने लिखा है कि फ़ारसी की अनेक महान कविताएँ इस्लाम-पूर्व

अतीत को वापस लाने का प्रयास है। मिर्ज़ा बेदिल या ग़ालिब की कविता भी इस्लाम-पूर्व की स्मृतियों के पुनर्वास का प्रयास जान पड़ती है।

आशीष दा- कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि इस्लाम-पूर्व अरब के देवी-देवता या तो हिन्दू परम्परा के थे या उसी का कोई बदला हुआ रूप थे या वह ऐसी परम्परा के थे, जो हिन्दू परम्परा के क़रीब की थी। इसकी बहुत सम्भावना है कि वे हिन्दू देवी-देवता ही रहे हों क्योंकि मैंने कहीं पढ़ा है कि अरब में शिव-पार्वती की मूर्तियों की पूजा होती थी। वे वहाँ सज्जा के लिए नहीं थीं, उनकी बाकायदा पूजा हुआ करती थी। इसका लिखित प्रमाण भी मिलता है। उस समय वह एशिया माइनर था।

उदयन- क्या आपको लगता है कि ईरान या अरब के कुछ हिस्सों में जो एक तरह का सांस्कृतिक खुलापन था, वह उन पर 'हिस्टोरिकल' कल्पना के आरोपण के कारण बीसवीं शती तक आते-आते संकुचित होता गया है।

आशीष दा- कुछ हद तक। मनुष्य हमेशा ही नामुमकिन करने की चेष्ट करता है। जब 'हिस्ट्री' को खोज लिया जाता है, आप उसे अनकिया करना चाहते हैं। आप उसे मिटाना चाहते हैं, उससे प्रतिशोध लेना चाहते हैं पर आप यह प्रतिशोध उन लोगों से लेते हैं जिनका 'हिस्ट्री' से कोई सम्बन्ध नहीं है।

उदयन- आप इस संकुचन के दूसरे कौन-से कारण देखते हैं ?

आशीष दा- हमने जिस राष्ट्रवाद की बात की है, वो राजसत्ता विषयक एक ऐसे विचार से उत्पन्न हुआ है, जिसका राजसत्ता की बहुवचनात्मक पारम्परिक अवधारणा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह विचार सन् १६४८ में 'ट्रीटी ऑफ वेस्टफेलिया' के साथ आया है, जो मुख्यतः यूरोप में हुए सौ साल के युद्ध की परिणति थी। वे लड़ते-लड़ते थक चुके थे, और जब उस ट्रीटी पर हस्ताक्षर हो गये तो एक के बाद दूसरी राजशाही के नष्ट होने के बाद वह एक ऐसी प्रस्तावना बन गयी जिसके अनुसार ऐसी राजसत्ता का उदय हो सका जो 'नेशन' के विचार पर आधारित थी, क्योंकि राजशाही के शासक, राजा आदि इस बात से चिन्तित थे कि राजाओं की अनुपस्थिति में लोगों को नियोजित कर देश की रक्षा के लिए युद्ध किस तरह लड़े जायेंगे, देश का सम्मान कैसे हो पायेगा। 'नेशनलिज़्म' को राजसत्ता का एक कार्यक्रम बनाया गया जिससे लोगों को देश की रक्षा और एकता के लिए नियोजित किया जा सके। इसके पहले तक यूरोप के लोग राजा और देश के लिए ही लड़ते थे। राजा के न होने से यह मुश्किल हो जाता। पर तब भी राजशाही कभी नहीं बदली। तुम अनुमान कर सकते हो कि ऐसा क्यों हुआ होगा ?

उदयन- यह अनुमान करना मेरे लिए मुश्किल है क्योंकि भारत के राजाओं और यूरोप की राजशाही बड़ा फ़र्क है।

आशीष दा– यूरोप की राजशाही से न तो यह अपेक्षा थी कि वह नेशनलिस्ट होती और न वह थी। वह इसलिए था क्योंकि अगर आप ऊँची राजशाही के सदस्य हैं तो आप देश के बाहर ही विवाह कर सकते थे। मसलन अँग्रेज़ सम्राट अब ज़रूर अँग्रेज़ी बोलते हैं पर वे घर पर जर्मन बोला करते थे, उसके पहले कई पीढ़ियों तक उनके महलों में फ्रांसीसी बोली जाती थी।

उदयन– क्या यह इसलिए था कि राजशाही में शादियाँ देश से बाहर होती थी ?

आशीष दा– अगर किसी राजपुरुष को देश निकाला मिला और उसकी माँ फ्राँसीसी हुई, वह फ्राँसीसी सीख जाता था और जब परिवार का वह हिस्सा वापस इंग्लैण्ड आता था, फ्राँसीसी भी आ जाती थी। राजशाही में हमेशा अन्तर्विवाह होते थे। जब महारानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती मनायी गयी, यूरोप भी सारी राजशाही उसमें शामिल हुई, क़रीब एक सौ दस लोग उसमें आये। वे सारे एक सौ दस लोग एक-दूसरे के रिश्तेदार थे।

उदयन– इसका अर्थ यह हुआ कि यूरोप की राजशाही ट्रांसनेशनल (अन्तर्राष्ट्रीय) है।

आशीष दा– उन्हें यह कहा जा सकता है। घटनाएँ इस तरह हुई हैं। राजशाही की मान्यता यह है कि वे उच्चतर मनुष्य हैं, वे नीले ख़ून वाले हैं। वे किसी भी आम अँग्रेज़ परिवार से कैसे शादी कर सकते थे ? उनका बेटा किसी 'ड्यूक' या 'अर्ल' की बेटी से कैसे विवाह कर सकता था। उस परिवार में कोई श्रेष्ठता तो होनी चाहिए। उनमें से कई ने देश के बाहर विवाह किये। अगर वह लड़की हुई तो वह दूसरे देश जाकर वहाँ की 'नेशनलिस्ट' हो जायेगी, खासकर युद्ध आदि के समय। पहले विश्वयुद्ध में ब्रिटेन के विरुद्ध लड़ने वाला जर्मनी का सम्राट उस समय के ब्रिटेन के राजा का चचेरा भाई था। इस तरह पहले विश्वयुद्ध में दो भाईयों के बीच की लड़ाई में पाँच करोड़ लोग मारे गये। मेरे ख़याल से तब तक अँग्रेज़ राजमहल में जर्मन ही बोली जाती थी।

उदयन– आधुनिक राजसत्ता के बनने की कहानी को एशियायी देशों ने बिल्कुल ग़लत समझ रखा है।

आशीष दा– हाँ। वे सोचते हैं कि यूरोपीय देशों की शक्ति का आधार उनका नेशनलिज़्म है और उसी कारण उन्होंने विश्व को जीता है, अपने साम्राज्यों को स्थापित किया है। सच्चाई ये है कि युद्धों में विजय स्थानीय लोगों के कारण हुई।

उदयन– आपने नरसंहारों का गहन अध्ययन किया है ?

आशीष दा– नरसंहारों पर शोध करते हुए हमने पाया कि सबसे भयानक और क्रूरतम नरसंहार तब हुए जब दोनों प्रतिद्वन्द्वी अज़नबी नहीं थे बल्कि एक-दूसरे के बेहद क़रीब थे क्योंकि तब यह संहार झाड़फूँक या भूत उतारने का रूप ले लेता है। भारत के दो राज्यों पंजाब और बंगाल में हिन्दू और मुसलमानों का सम्बन्ध बहुत गहरा था। पंजाब में तो बंगाल से भी अधिक था क्योंकि बंगाल में अस्सी प्रतिशत ज़मीदारी हिन्दुओं के हाथ

में थी लेकिन तब भी वहाँ दोनों समुदायों के बीच क़रीबी थी। उन दोनों ही राज्यों में जैसा कि तुम्हें पता ही है, भीषण नरसंहार हुआ था। यहाँ देखने की बात यह है कि यह संहार भूत भगाने जैसा कार्य इसलिए है क्योंकि आप उस अन्य को अपने भीतर अनुभव करते हें ('मैं भी उसी की तरह हूँ)' और चूँकि वह मेरे भीतर के अन्य का प्रतीक बन जाता है, इसलिए वह हिंसा का लक्ष्य हो जाता है।

उदयन– आप यह कह रहे हैं कि लगभग सभी नरसंहार भूत भगाने जैसा कर्म ही है।

आशीष दा– मेरा यही अनुमान है पर इसके अलावा उसी आपसी शत्रुता को उस हद तक पैना किया जाता है कि अलगाव हो सके। महाभारत भी इसी का अच्छा उदाहरण है, वह चचेरे भाईयों के बीच हुआ है। इसी तरह की और भी कई मिसालें हैं। जैसे बोस्नियायी मुसलमानों और सर्बों के बीच की शत्रुता। तीस प्रतिशत बोस्नियायी मुसलमानों की सर्बों से रिश्तेदारियाँ थीं। उनके शादी-ब्याह के सम्बन्ध थे। यह कोई कम संख्या नहीं है, तीस प्रतिशत, तब भी वहाँ नरसंहार हुआ और वह आखिरी बड़ा नरसंहार था।

उदयन– क्या आपने नरसंहार के बाद हिंसा करने वालों पर कोई शोध किया है ?

आशीष दा– हम कर रहे हैं। हमने कोई बारह लोगों से बात की है और वह हमारा प्रस्थान बिन्दु है। उन्होंने अक्सर कहा है कि वे सुखी हत्यारे नहीं हो सके। वे बड़े ताम-झाम के साथ बड़ी वीरता से यह कहते हैं कि उन्हें वह सब क्यों करना पड़ा। एक व्यक्ति ने तो हमसे बोल दिया था कि अगर हम उसे 'नेशनलिस्ट' नहीं मानते, वह हमसे मिलेगा ही नहीं। वह कोलकाता का था, नाम था गोपाल पाठा। पाठा वह नपुंसक बकरा होता है जिसे खाया जाता है। वह मर गया वरना मैं उससे ज़रूर बात करता। मदनलाल पाहवा ने भी मुझसे यही कहा था।

उदयन– मदनलाल पाहवा से आपकी और क्या बातचीत हुई थी ?

आशीष दा– शुरू में वह बड़ी-बड़ी बातें करता रहा। दरअसल, जब तक वह वयस्क हुआ, वह पूरी तरह हत्यारा हो चुका था। वह भारत शरणार्थी होकर आया था, उसमें बहुत कड़वाहट भरी थी।

उदयन– वह दिल्ली आया था ?

आशीष दा– पहले वह दिल्ली आया, वहाँ से बम्बई गया, फिर हैदराबाद। हर जगह वह दंगों में मुसलमानों की हत्याएँ कर रहा था। वह उस समय युवा था। शुरू में वो गाँधी के लिए बोला, 'वो साला मार दिया गया है।' गाँधी की हत्या के पहले ही उसे जेल भेज दिया गया था। वह गाँधी को मारने वालों के समूह का युवतम सदस्य था।

उदयन– उसी ने गाँधी की हत्या के पहले उनकी प्रार्थना सभा के निकट बम फेंका था...

आशीष दा– इसीलिए पुलिस ने उसे पकड़ लिया था। गिरफ़्तार होने के एक दिन बाद ही वो पुलिस के सामने बुलबुल की तरह सब कुछ गाने लगा था। उसने तुरन्त पुलिस को सब बता दिया, अपनी मित्र का नाम, चिट्ठियाँ जिनका आदान-प्रदान हुआ वगैरह। यह सब कुछ बम्बई के गृहमन्त्री को बता दिया गया था। उन्होंने भी इस सब पर विश्वास नहीं किया।

उदयन– मदनलाल पाहवा के बयानों पर ?

आशीष दा– नहीं। उन पत्रों पर जो इनके समूह के किसी सदस्य ने किसी प्रोफेसर को लिखे थे। केन्द्र के गृह मन्त्री वल्लभ भाई पटेल थे। वे बहुत शिथिल-मानस व्यक्ति थे। उनपर देश को चलाने की जो नयी ज़िम्मेदारी आ गयी थी, उसके विषय में उन्होंने तब तक कोई विचार नहीं किया था। इन सब लोगों को वह बूढ़ा व्यक्ति बोझ लगने लगा था जो पाकिस्तान को पचपन करोड़ रुपये लौटाने पर ज़ोर दे रहा था। चारों ओर हिंसा हो रही थी, नरसंहार हो रहा था, शरणार्थियों का ताँता लगा हुआ था। पहले दौर में दो करोड़ शरणार्थी आये थे। बाद में और भी आये। इस सब के बारे में पटेल और अन्य राजनेताओं ने कुछ सोचा ही नहीं था। उन्हें लग रहा था कि गाँधी शासन के कार्य में हस्तक्षेप कर रहे हैं। वे सभी राजसत्ता के विषय में एक तरह से सोचने के लिये तैयार किये गये थे। पटेल नेहरू की तुलना में कहीं अधिक देहाती जान पड़ते हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि पटेल का परिवार नेहरू के परिवार की तुलना में कहीं अधिक पश्चिम-प्रभावित था। वल्लभ भाई पटेल अपने घर में किसी अँग्रेज़ की तरह रहते थे। उनके भाई विट्ठल भाई पटेल भी वैसे ही थे।

उदयन– आप मदनलाल पाहवा पर कुछ कह रहे थे...

आशीष दा– मदनलाल पाहवा की हालत बाद के वर्षों में, जब मैं उससे मिला, दारूण थी। उसका समाज में अपनी स्वीकार्यता पाने का प्रयास बेहद करुण था। वो कहता था कि उस उम्र में मैं वैसा था पर अब मैं मानवतावादी हूँ। दो-तीन मुलाकातों के बाद वह गाँधी के बारे में भी दूसरी तरह से बात करने लगा था। वह कहता था कि वे (गाँधी) महान नेता हो सकते थे पर वे मुसलमानों के पीर होना चाहते थे। साथ ही वह गाँधीवादी मूल्यों को पसन्द करने लगा था। जब मैं उससे मिला, वह जेल से बाहर आ चुका था और ग्लानि में डूबा था। पर वह उसे व्यक्त नहीं करता था क्योंकि तब तक वह दक्षिणपन्थियों का नायक बन चुका था। संकट के समय में जब आप भीड़ का उल्लास बन जाते हैं तभी आप नायक बनते हैं। ऐसे में आप विशेष समुदायों के नायक होते हैं क्योंकि आपने मसलन मुसलमानों को मारा है। लेकिन जब जीवन सामान्य हो जाता है तब यह हत्याएँ अपने हत्यारों का पीछा करती हैं, उनके चारों ओर मंडराने लगती हैं। जिन ६-७ इस तरह के लोगों से हम मिले थे, सभी की यही स्थिति थी अलावा एक व्यक्ति के। वह एक सरदार था। वह अलग आदमी था। उसका किस्सा ही अलग था। वह विभाजन के दंगों को युद्ध मानता था और कहता था कि उन्होंने हम पर हमला किया,

हमने उनपर। उसने अपने को एक सेवानिवृत्त सैनिक मान रखा था। उसका नज़रिया अलग था क्योंकि उसके क़रीबी रिश्तेदारों की हत्या हुई थी और उसने भी लोगों को मारा था। उसके मन में मुसलमानों के लिए कोई कड़वाहट नहीं थी। 'उन्होंने हमें मारा, हम उनसे लड़ लिये। बात खत्म, सच मानिये तो मैं अपने मुसलमान दोस्तों पर हिन्दुओं की तुलना में कहीं अधिक यकीन करता था।' यह उसने साफ़-साफ़ कहा था।

उदयन- सिखों की जो हत्याएँ की गयी उन्हें क्या कहा जाएगा ?

आशीष दा- उसे नरसंहार केवल इसलिए कह सकते हैं क्योंकि उन्हें उनके सिख होने के कारण मारा गया था। अगर आप सिख समुदायों की कुल संख्या की तुलना केवल दिल्ली शहर में हुई उनकी ५००० हत्याओं से करें तो उसे नरसंहार कहना पड़ेगा।

उदयन- इस घटना में दो समाजों की क़रीबी और संहार के बीच क्या सम्बन्ध है ?

आशीष दा- वह क़रीबी सबसे अधिक महत्व की है। यही मैं कह रहा हूँ। हिन्दू सोचते हैं कि सिख वीर हैं, हिम्मती है और वे संरक्षक हैं आदि। सिख सोचते हैं कि अगर मैं हिन्दू हो गया, मेरा कोई हिस्सा छूट जाएगा। हिन्दू को सिख होने के लिए अपना कोई हिस्सा छोड़ना होगा। यह बात भी तो है। मुसलमानों के साथ भी यही है। मुझे किसी ने कहा कि उसे किसी विदेशी ने कहा है कि मुसलमानों का भगवान हिन्दुओं के भगवान से अधिक ताकतवर है इसीलिए हिन्दुओं को इतना कुछ सहना पड़ा। अब इस पर क्या कहा जाए! मुख्य बात यह है कि आप उनकी कुछ वृत्तियों को मूल्यवान मानते थे और वे आपकी कुछ वृत्तियों को। यह परस्पर विनिवेश और तादात्म्य की स्थिति है इसलिए जब इन दो समूहों के बीच कड़वाहट आ जाती है, तब यह परस्परता ही मुश्किल बन जाती है। इस समय आपको अपने आप का एक बड़ा हिस्सा नकारना पड़ता है ताकि आप शुद्ध हिन्दू या शुद्ध मुसलमान हो सकें। पर यह हो ही कैसे सकता है ? यह असम्भव है। जैसा कि सावरकर ने महाराष्ट्र में मराठी भाषा से सारे अरबी और फ़ारसी शब्द हटाने का प्रयास किया था। उसी से आर.एस.एस. की हिन्दी भी प्रभावित हुई जिसे आर.एस.एस. हिन्दी कहा जाने लगा। सावरकर ने मराठी में भी यह किया था। वे खुद भी वैसे ही लिखते थे। महाराष्ट्र में उसे आम तौर पर आर.एस.एस. हिन्दी ही कहते हैं पर इन्हें सारे अरबी-फ़ारसी शब्दों की पहचान नहीं है इसलिए उन्हें पूरी तरह से कैसे हटाएँगे। 'अलमारी' शब्द अरबी का है, यह कितनों को पता होगा ? जैसे 'साबुन' पुर्तगाली शब्द है। इस तरह के काम का कोई अन्त नहीं है। खुद 'हिन्दू' फ़ारसी शब्द है। यह इसलिए आया क्योंकि फ़ारसी भाषी 'स' का उच्चारण नहीं कर पाते थे। वे सिन्धु नहीं बोल पाए इसलिए उन्होंने सिन्धु के पास रहने वालों को हिन्दू कहा।

उदयन- यह भूगोल की ओर इशारा है। 'हिन्दू' वैसे भी मज़हब या रिलिजन नहीं है।

आशीष दा- चतुर्वेदी बद्रीनाथ इसीलिए हमारे जैसी सभ्यताओं को 'धार्मिक' सभ्यताएँ कहते हैं। यहाँ

'धर्म' शब्द बहुत महत्व का है। स्वधर्म, परधर्म। अगर किन्हीं अन्य का यानि किसी 'पर' का धर्म यानि परधर्म मार-पीट करना है तो उसे 'मेरा' धर्म या स्वधर्म क्यों होना चाहिए?

उदयन– इसका सम्बन्ध नैतिकता या 'एथिक्स' से अधिक है।

आशीष दा– साँपों का भी स्वधर्म है : डसना। वह उल्लू की तरह बैठा नहीं रहता।

उदयन– आपने एक जगह लिखा है कि हिंसा की आकांक्षा इन स्थितियों में इतनी गहरी हो जाती है कि वह आकांक्षा अपना विषय ढूँढती है, यह कैसे होता है ?

आशीष दा– हिंसा इधर-उधर घूमती फिरती है और वह अपना निशाना खोजती है क्योंकि आप उन चीज़ों के प्रति गुस्से से भर जाते हैं जिन्हें आप जानते नहीं। आप उसे पहचान नहीं पाते। अभी हाल में 'पद्मावत' फ़िल्म की मुख़ालिफ़त करते हुए कुछ लोगों ने बच्चों की बस पर पत्थर फेंके, यह घटना भी यही बता रही है कि वे लोग नाराज़ हैं पर उन्हें पता नहीं है कि वे किस बात से नाराज़ हैं। इसलिए बच्चों की बस उनके लिए एक तुरन्त उपलब्ध लक्ष्य हो गयी।

उदयन– सुरक्षित लक्ष्य भी...

आशीष दा– सुरक्षित लक्ष्य और यह लगभग मानसिक रोग है। इस तरह यह स्पष्ट ही है कि हिंसा का भाव पहले आता है और फिर वह अपना लक्ष्य खोज लेता है।

उदयन– उनके असन्तोष का कारण कोई भी चीज़ या स्थिति हो सकती है...

आशीष दा– वह कुछ भी हो सकता है, धुँधली-सी नाराज़गी ही। जैसे जब आप अपने पैतृक घर से अलग जा पड़े हों, शरणार्थी हो गये हों तब भी आप नाराज़ रहते हैं। एक अमरीकी शोधकर्ता ने यह पाया था कि शरणार्थी परिवारों के भीतर और बाहर अपेक्षाकृत अधिक हिंसा होती है।

उदयन– आप कह रहे हैं कि अनेक तरह के कारणों से उपजी हिंसा अपना लक्ष्य ढूँढती हैं...

आशीष दा– लेकिन यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि हिंसक व्यक्ति या व्यक्तियों को ये कारण पता नहीं होते। आप जानते नहीं हैं कि आप नाराज़ क्यों हैं, कि आप अलगाव क्यों महसूस कर रहे हैं, कि आपमें यह स्थायी किस्म की कड़वी झुँझलाहट क्यों है, कि आप अपनी पत्नी को क्यों पीट रहे हैं, या बच्चों को, ऐसा साल दर साल क्यों चल रहा है। एक दिन अचानक आप क्यों फट पड़ते हैं।

उदयन– इसका अर्थ यह हुआ कि जो शक्तियाँ नेशन स्टेट का निर्माण करती है या जनसाधारण को 'हिस्ट्री' के विमर्श में डालती है और उनकी अस्मिताएँ गढ़ती हैं, उन्हें लोग पहचान नहीं पाते और अचानक

समुदायों के सदस्यों में साम्प्रदायिकता की (एथनिक) भावना उत्पन्न हो जाती है और वे अलगाव महसूस करने लगते हैं। वे इन सारी प्रक्रियाओं को समझ नहीं पाते, उनके भीतर असन्तोष पैदा होता है और वे उसके कारण कहीं और ही खोजने लगते हैं मसलन फ़िल्म 'पद्मावत' में।

आशीष दा– हमारे समक्ष एक ऐसा भी प्रसंग आया जहाँ पति शराबी था और उसके गुस्से के कारण समस्या हुई। चारों ओर दंगे चल रहे थे। वह पहले अपनी बीवी पर नाराज़ हुआ फिर उसने अपने दो छोटे बच्चों को छत से नीचे फेंककर मार डाला। जब उससे पूछताछ की गयी, उसने कहा मुसलमानों ने उन्हे मार दिया। उसकी पत्नी ने यह सारा किस्सा बताया था।

उदयन– नवज्योति सिंह ने यह कहा है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन में भारतीय दार्शनिक परम्परा के धारक या भारत की शास्त्र परम्परा के धारक अध्येताओं को स्थान नहीं मिल सका। आप इस बारे में क्या सोचते हैं?

आशीष दा– हाँ, नहीं मिला। पर वह सायास था, वह पहले भी नहीं हुआ था। कहा जाता है कि विवेकानन्द ने इसका प्रयास किया था पर यह पूरी तरह सच नहीं है। उन्होंने यह प्रयास बहुत सीमित अर्थों में किया था : उन्होंने यह कुछ धार्मिक आन्दोलनों के सन्दर्भ में किया था, इससे अधिक नहीं।

उदयन– क्या आप समझते हैं कि शास्त्रियों के स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग न लेने का कारण शास्त्रियों का अपना निर्णय रहा होगा ?

आशीष दा– अंशतः यह सही है। हमारे शास्त्री हमेशा ही प्रभुता के पक्ष में रहे हैं, वह प्रभुता किसी की भी रही हो। यह स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाता था क्योंकि उन्हें शासकों से ही अपनी प्रभुता प्राप्त होती थी चाहे वह मुसलमान नवाब ही क्यों न हों। एक जर्मन अध्येत्री आन्द्रे त्रुश्के ने दो ज़िल्दों में अपना शोध प्रबन्ध लिखा है : 'संस्कृत एट द मुगल कोर्ट'। वे अब जर्मनी के रुटजर्स विश्वविद्यालय में हैं। उससे पता चलता है कि उन दरबारों में कितनी जीवन्त चर्चा होती थी और वह कई भाषाओं में हुआ करती थी। चूँकि इस बीच मुगलों का भारतीयकरण हो चुका था। चीन में यह हुआ था कि जो लोग चीन के बाहर से आये थे, वे दो पीढ़ियों के बाद पूरी तरह चीनी हो गये थे। इसी तरह यह जानना चाहिए कि अकबर की मातृभाषा भोजपुरी थी।

उदयन– इसके बाद भी यह बात तो बनी ही रहती है कि पारम्परिक शास्त्रियों की अन्तर्दृष्टियाँ आधुनिक भारतीय बौद्धिक विमर्श का हिस्सा नहीं बन सकीं...

आशीष दा– नहीं बन सकीं। वे शामिल हुई भीं तो बिल्कुल पालतू किस्म की संस्कृत में। लेकिन वह हिस्सेदारी अलग तरह की ही है। अँग्रेज़ों ने दरअसल संस्कृत अध्ययन को अपेक्षाकृत कहीं अधिक समर्थन दिया था। जैसा कि उनके पहले के मुगल साम्राज्य ने भी किया था। कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज में कई शास्त्री

प्रोफ़ेसर बनाये गये थे और आचार्य मृत्युंजय तर्कालंकार ने यह कहा कि मनु संहिता हिन्दुओं का प्रमुख ग्रन्थ है और वे यह कहकर सती प्रथा को बचाने का प्रयास कर रहे थे पर उसका परिणाम यह निकला कि हिन्दुवाद ही सती प्रथा के लिए ज़िम्मेदार ठहरा दिया गया जबकि वह हिन्दुओं के बहुत छोटे से अंश में प्रचलित थी, उनमें से ज़्यादातर घटनाएँ शहरी कलकत्ता से सम्बन्धित थीं।

उदयन– बनारस के सारे शास्त्री जिनकी श्रेष्ठ विद्वान होने की कीर्ति बींसवी सदी के आरम्भ तक थी, लगभग खत्म हो गयी। अब उनके लिए कोई जगह शायद ही बाकी हो।

आशीष दा– अब स्थिति यह है पर यह नहीं भूलना चाहिए कि संस्कृत कॉलेज की स्थापना अँग्रेज़ों ने की थी और वह कोरिन्थियायी स्तम्भों से बनी खूबसूरत इमारत है जिससे पता चलता है कि अँग्रेज़ इस कॉलेज को कितना महत्व देते थे। लेकिन वहाँ भी अँग्रेज यहाँ की बहुवचनात्मकता नहीं समझ पाये। अगर मृत्युंजय तर्कालंकार ने कुछ कहा था तो इसके अलावा भी मत थे, इस पर ध्यान नहीं दिया गया। उन लोगों ने चैन्नई से एक संस्कृत पण्डित को बुलाकर उससे राममोहन राय का सार्वजनिक शास्त्रार्थ कराया था। राममोहन राय ने उसे पराजित किया था जिसे सारे उपस्थित पण्डितों ने स्वीकारा था जिनमें से कई सतीप्रथा के समर्थक थे।

उदयन– स्वतन्त्रता आन्दोलन में देश के कारीगरों के साथ क्या हुआ था ?

आशीष दा– असल में नुकसान उन्हें हुआ था। वह दरअसल कौशल की हत्या (टेक्नोसाईड) थी। उनमें जिजीविषा का अभाव हो गया था। कारीगर ज़्यादातर नीची जातियों के थे और वे अलग-अलग तरह के सम्प्रदायों से आते थे और स्थानीय बोलियों का व्यवहार करते थे। अपने कौशल का उनके पास कोई सिद्धान्त नहीं था। वह शुद्ध 'टेक्ने' था, 'एपिस्टिम' नहीं। उनकी स्थिति करुण है। उन्हीं का स्वतन्त्र भारत में सबसे अधिक नुकसान हुआ है।

उदयन– कारीगरों पर एक हमला यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के कारण भी हुआ था जो अपनी सार्वभौमिक (एकसी) डिज़ाइन की वस्तुएँ पूरी दुनिया में भेज रहे थे जिससे वे सारे हाट जिनमें हमारे कारीगर अपनी बनायी वस्तुएँ बेचते थे, विस्थापित हो गये। लेकिन कारीगरों का यह अलगाव स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी जारी रहा।

आशीष दा– कुछ नेताओं ने उनका विरोध अवश्य किया था पर गाँधी कारीगरों के हित को आन्दोलन में लाये। बहुत बड़े स्तर पर जो अभी कुछ दो-तीन वर्ष पहले तक चलता रहा। तब तक चलता रहा जब तक मौजूदा सरकार ने मसलन गाँधी से जुड़े खादी ग्रामोद्योग से जुड़े लोगों को यह आदेश नहीं दिया कि वे अपने उद्योग की वित्तीय आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करें। लोग इसके विरुद्ध लड़ रहे हैं पर यह हारी होड़ है खासतौर पर तब जब हम यह देख रहे हैं कि चीन में हाथ का बना कपड़ा ख़त्म हो गया। वह मोटा कपड़ा होता था जो

भारत में बहुत सस्ता मिलता था। वह परिष्कृत कपड़ा नहीं था। मेरे पास उस कपड़े की तीन पोशाकें हैं जिनमें से एक कच्ची रेशम (रॉ सिल्क) की भी है और वे सभी मैंने शांघाई की एक दुकान से खरीदी हैं। चीन में हाथकरघा नष्ट हो चुका है जो थोड़ी बहुत जगहें बाकी हैं, उन्हें 'आर्टिस्ट स्टूडियो' की तरह चलाया जाता है। मैंने जिस दुकान से वे कपड़े लिये थे, उसे एक जापानी महिला चलाती थीं। उन्होंने वह दुकान चीनी हाथकरघा कारीगरों की करुण स्थिति देखकर खोली थी। जब वे बूढ़ी हो गयीं, उन्होंने वह दुकान कारीगरों की सहकारी संस्था को सौंप दी और खुद जापान वापस चली गयीं। जब मैं उस दुकान पर बिल चुकाने लगा, मेरे दोस्त की पत्नी, जो मुझे वहाँ लेकर गयी थीं, दौड़ती हुई आयीं और उन्होंने मेरे हाथ से बिल छीन लिया पर इस बीच मैं बिल पढ़ चुका था : वह हाथकरघा का कपड़ा सिल्क से अधिक मँहगा था। क्योंकि वह बहुत कम बनता है और लगभग सारे कपड़े नीले रंग के होते हैं। अलग-अलग नीले रंगों के।

उदयन- वह शायद इसलिए होगा क्योंकि साम्यवादी चीन में शायद मज़दूरों आदि की पोशाक नीली होती थी। भारत और चीन सम्भवतः ऐसे आखिरी देश होंगे जिनमें हाथकरघा उद्योग बचा रहा होगा...

आशीष दा- भारत इस उद्योग को कब तक बचा सकेगा, मैं कह नहीं सकता। वे इसे मारने के प्रयास में लगे हैं।

उदयन- ऐसे में भारत में लोकगीतों और नृत्यों की क्या नियति होगी ?

आशीष दा- आधुनिक भारतीयों ने प्रोसीनियम रंगमंच पर उनका पुनर्वास कर लिया है जबकि ये कलाएँ ग्रामीण लोगों के जीवन में आनुष्ठानिक महत्व की थीं। चीन में भी यही हुआ है। मुझे वहाँ नाक्सी गाँव ले जाया गया, जो कुंग, 'सब चाईना' के क़रीब है। मैंने वहाँ उनके आनुष्ठानिक नृत्य और दूसरे आनुष्ठानिक प्रदर्शन देखें। मैंने पूछा कि, ये लोग क्या कर रहे हैं ? तुम्हें ज़वाब सुनकर आश्चर्य होगा : वे बोले, 'ये कुछ नहीं कर रहे! आपके पहले यहाँ जापानी आये थे, उनके सामने भी यहीं सब हुआ था, अब आपके सामने हुआ है। आपके जाने के बाद सैलानियों का कोई और समूह यहाँ आयेगा और ये लोग उनके सामने भी यही सब करेंगे। यह थोड़ा-बहुत बदल भी जाता है पर शाम तक यही होता रहता है।' वे लोग अलग-अलग तरीकों से अपने को नाक्सी बताने की चेष्टा कर रहे थे और कुछ नहीं।

उदयन- यानि विशुद्ध अस्मिता प्रदर्शन था।

आशीष दा- बिल्कुल। मुझे बहुत निराशा हुई। दोपहर के भोजन के दौरान वे लोग नाक्सी गाने सुनाते रहे। जो दस-बारह गाने उन्होंने सुनाये, वे सभी राग मालकौंस में थे। मेरे लिए यह दिलचस्प खोज थी। हो सकता है राग मालकौंस वहाँ से आयी हो। यह राग औड़व जाति की है यानि इसमें पाँच स्वर होते हैं, चीनी संगीत भी पाँच स्वरों का होता है।

उदयन– यह भी हो सकता है कि कुछ बौद्ध जाप मालकौंस के क़रीब के हों और उन जापों के सहारे यह राग वहाँ पहुँची हो।

आशीष दा– यह सम्भव है। लेकिन नाक्सी पूरी तरह बौद्ध नहीं हैं, उनके आदिवासी देवी-देवता होते हैं। मुझे वहाँ यही लगा था।

उदयन– अधिकांश आदिवासी अब कहने भर को हैं। मैं पहाड़ी कोरबाओं से मिलने कई साल पहले गया था। मैंने पाया कि उनका अपने सत्य से, पेगन सत्य से सम्बन्ध लगभग टूट-सा गया है। वे फोटोग्राफरों, फ़िल्मकारों के सामने पहाड़ी कोरबा हो जाते हैं। वे शहर में रहने वालों जैसे ही होकर रह गये हैं अपेक्षाकृत कहीं अधिक गरीब।

आशीष दा– भारत के अस्सी आदिवासी समुदाय अब लगभग आदिवासी नहीं रह गये हैं। वे 'डीट्रायबलाईज़' हो गये हैं। उनकी ज़िन्दगी आदिवासियों की-सी नहीं है। वे आदिवासी सिर्फ़ आरक्षण और शासकीय आँकड़ों के लिए हैं। उनका कोई आदिवासी सामुदायिक जीवन भी नहीं है। वे बिखर गये हैं और शहर की बेनाम ज़िन्दगी में खो गये हैं। यह भारत के एक तिहाई आदिवासी समुदाय हैं, भारत में कुल दो सौ पचास के क़रीब आदिवासी समुदाय हैं।

उदयन– इन दिनों जो देश में जगह-जगह दलित आन्दोलन चल रहे हैं, उन्हें समझना मुश्किल हो रहा है। हर जन आन्दोलन का एक आदर्श, एक युरोपिया होता है। इन दलित आन्दोलनों का क्या युटोपिया हो सकता है ?

आशीष दा– उनका कोई विशेष युटोपिया नहीं है। उनके नेता सोचते हैं कि उनकी आत्म-आग्रहीता (सेल्फ असर्शन) की यह माँग है कि वे कहें कि वे अँग्रेज़ी शिक्षा के पक्ष में हैं, कि वे महात्मा मैकाले के भक्त हैं और भारतीय सभ्यता के पास उन्हें देने कुछ नहीं है। उनके ये स्पष्ट विचार हैं। दलितों के उत्पीड़न का इतिहास तीन हज़ार साल पुराना है। यह बात अलग है कि प्राचीन पोथियों में केवल दो वर्ण मिलते हैं, ब्राह्मण और क्षत्रिय। उनकी यह समझ दुखद है पर वह वही है। यही उनका लोकप्रिय मिथक है। आपको लगता है कि आप २००८ से प्रयास शुरू करेंगे और दस साल में ब्राह्मणों और दूसरी ऊँची जातियों के बराबर आ खड़े होंगे। यह दारुण है। वे यह कर नहीं सकते।

उदयन– और वह भी अँग्रेज़ी के रास्ते...

आशीष दा– अभी पाँच प्रतिशत लोग अँग्रेज़ी बोलते हैं फिर दस या पन्द्रह प्रतिशत बोलने लगेंगे, इससे क्या होगा ?

उदयन– पर क्या हमारे देश में कोई युटोपिया बाकी भी है ?

आशीष दा– आज के भारत से सारे युटोपिया चोरी चले गये हें। मसलन हमारा आज युटोपिया यह है कि हम आगे जाकर वह हो जाएँ, जो अमरीका आज है।

उदयन– आपने एक जगह लिखा है कि हमारा अतीत और भविष्य चुरा लिया गया है और यही हमारा सबसे बड़ा संकट है।

आशीष दा– हमारा वर्तमान भी चोरी हो गया है क्योंकि वर्तमान अतीत और भविष्य का प्रतिफल होता है। अतीत की चोरी इस तरह हुई कि हम अपने अतीत के विषय में अलग ढंग से सोचने में अक्षम हो गये हैं। हमारे अतीत का 'हिस्ट्रीकरण' हो गया है और बड़े से बड़े अध्येता भी इस बारे में सजग नहीं है।

उदयन– इनमें वामपन्थी, दक्षिणपन्थी और दलित सभी तरह के अध्येता शामिल हैं।

आशीष दा– ये सभी सोचते हैं कि उनका अतीत ही असली अतीत है। हमारा अतीत दलितों के अतीत को शामिल नहीं करता, उसमें दलितों की टेकनॉलाजी का इतिहास नहीं है जबकि वह भारत के अतीत का अभिन्न अंग है तब भी हमने उसे मूल्यवान नहीं माना। इसीलिए अब दलितों के मत में हमारा अतीत मूल्यहीन है। उन्हें इस अतीत से घृणा है। इसलिए जब एक हिन्दी फ़िल्म के गाने में 'मोची' शब्द का प्रयोग हुआ तो चर्मकारों ने कहा कि ये उनकी जाति का अपमान है और इस शब्द को हटाना पड़ेगा और उसे हटाना पड़ा। जबकि 'मोची' नाम की एक अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी भारत में और भारत के बाहर जूते बेचती है। मैंने उस कम्पनी के जूते बांग्लादेश में बिकते देखे हैं। अभी हाल में मैंने उन जूतों की दुकान कोलकाता में देखी थी, वह ब्रांड आजकल चलन में है, उसके जूते आदि महँगे भी होते हैं।

उदयन– क्या अब हमारी सभ्यता एक तरह के शून्य में है ?

आशीष दा– कई लोगों के अनुसार सभ्यता अपने में ही एक विध्वंसक (सबवर्सिव) शब्द है। सभी जानते हैं कि हम एक महान सभ्यता हैं, इसमें नया क्या है ? मैं यह कहना चाहता हूँ कि हम अपने प्रपौत्रों के लिए भविष्य के कुछ दृश्य प्रस्तावित क्यों नहीं करते। तुम मुझे बताओ कि उनसे क्या कहा जा सकता है। मैं 'सभ्यता' शब्द का प्रयोग ज़्यादा नहीं करता। मैं 'संस्कृति' का प्रयोग करता हूँ। हालाँकि सभ्यता को संस्कृति के ऊपर रखा जाता है। दरअसल सभ्यता संस्कृतियों का विन्यास होती है। सभ्यता में जो भी दोष या रोग उत्पन्न होता है, संस्कृति उसमें सुधार ले आती हैं। कई सांस्कृतिक धाराएँ हुआ करती हैं और वे जीवन्त होती हैं और सभ्यता के दोषों को समझकर उनमें सुधार करती हैं। इसीलिए मुझे भारत में वर्तमान शासक दल के आने पर चिन्ता नहीं है। यह अच्छा है कि यह दल शासन कर रहा है क्योंकि इससे वह शासन करने के दायित्व को जान सकेगा। जाने

से पहले इसके लोग इस दायित्व को सीख जाएँगे। मेरा विश्वास है कि वे जाएँगे। हमेशा ही ऐसा हुआ है। लोगों को यह याद नहीं है कि इनके भी दिन आये थे, बीसवीं सदी के पहले दशक में।

उदयन– किनके ?

आशीष दा– उनके जिन्हें आमतौर पर लोग दक्षिणपन्थी हिन्दू कहते हैं। दरअसल वे हिन्दू दक्षिणपन्थी नहीं हैं, उन्हें कुछ और कहना चाहिए। वह कुछ हिन्दुओं का अपनी निम्नता की अनुभूति को हटाने के लिए किया गया हिंसक प्रयास था। अगर आप आर.एस.एस., सावरकर आदि की पुस्तकों को ध्यान से पढ़ें और उनके इशारों को समझने का प्रयास करें, आप पाएँगे कि उनमें हिन्दुओं के प्रति कितना अधिक तिरस्कार का भाव है और वे मुसलमानों और ईसाइयों के प्रशंसक हैं, ईसाइयों के अधिक।

उदयन– इसीलिए वे यह कहते रहे कि हिन्दुओं को ये खाना चाहिए, वो खाना चाहिए, उन्हें कहीं अधिक मर्दाना होना चाहिए....

आशीष दा– यही सब। बंगाल के हिन्दुओं में विद्रोह का पहला संकेत गाय का माँस खाना था और हड्डियों को पारम्परिक घरों में फेंकना था।

उदयन– ताकि वे अपने स्त्रैणपन को हटा सकें....

उदयन– आपने कहा है कि सार्वजनिक मूल्यों के स्रोत करुणा, कलात्मक सौन्दर्य और रीज़न में होते हैं। आपने जापान का उदाहरण भी दिया है जहाँ कलात्मक सौन्दर्य ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। क्या आप इस पर कुछ विस्तार से कहेंगे।

आशीष दा– यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक मूल्य कलात्मक सौन्दर्य, रीज़न और आदर्शों से आते हैं। कलात्मक सौन्दर्य कुछ मूल्यों को हटाने का कार्य करते हैं, मसलन हर विचार धारा एक डिज़ाईन प्रस्तावित करती है, आप उसके सौन्दर्य से ही प्रभावित होते हैं मसलन समाजवादी यूरोपिया में सम्पूर्ण समानता का आश्वासन एक सुन्दर प्रस्ताव है। यह सौन्दर्य ही आपके मूल्यों को प्रेरित करता है और तब यह विचार आता है कि सभी पश्चिमीकृत अभिजात लोगों को खत्म कर दिया जाए। कम्यूचिया में यही हुआ था, वहाँ केवल दो सौ सतासी बेहतर पढ़े-लिखे लोग बचे थे। मैंने एक बार कोशिश की कि कोई कम्यूचियायी अध्येता ही वहाँ हुए नर संहार पर लिखे तो मुझे ज़वाब मिला कि हम किसी को यह सब इतिहास लिखने को प्रेरित करें या उसे शिक्षा मन्त्री या विश्वविद्यालय का कुलपति बनाने का प्रयत्न करें। उनके पास पढ़े-लिखे लोग ही नहीं बचे। सारे देश में केवल दो सौ सतासी लोग बचे थे। ऐसी स्थिति में अगर आपके पास विज्ञान की डिग्री हो तो आप किसी विज्ञान विश्वविद्यालय के कुलपति बन सकते थे या किसी तकनीकी विश्वविद्यालय के। कम्यूचिया के नरसंहार के विषय

में विदेशियों ने लिखा है। मैं यह कह रहा हूँ कि सौन्दर्यात्मक चयन इतना निष्ठुर भी हो सकता है। यह विचार इसलिए पुष्ट हो सका क्योंकि पॉल पॉट और कई अन्य पेरिस के सोर्बोन विश्वविद्यालय में पढ़े थे और वहीं उन्होंने मार्क्सवाद पढ़ा और मार्क्सवादी स्वर्ग का सौन्दर्य भी उन्होंने वहीं सीखा था जिसे उन्होंने पूरी कठोरता से लागू किया। जब भी ऐसा किया जाता है, आप स्थानीय झगड़ों, विभाजनों, प्रतिस्पर्धाओं आदि सबको अनदेखा करते हैं।

उदयन– इस अनदेखी से यह सम्भव हो जाता है कि लोग विचारधारा की आड़ में अपने हिसाब चुका लेते हैं।

आशीष दा– स्तालिन या ख्रुश्चेव के समय का एक पत्र व्यवहार सोवियत यूनियन में प्रकाश में आया था। कोई नौकरशाह एक दूरस्थ प्रान्त के अफ़सर को लिख रहा है कि तुम्हारे इलाके में पचासी हज़ार क्रान्ति विरोधी लोग काम कर रहे हैं। इसका वहाँ से ज़वाब आया, 'कामरेड हम इस मसले की छानबीन कर आपको रपट देंगे।' कुछ महीनों बाद रपट आती है, सभी पचासी हज़ार क्रान्ति विरोधी मार दिये गये हैं। कौन लोग थे जिन्हें मार दिया गया, किन्होंने मारा, क्यों मारा, उन्हें यह कैसे पता चला कि वे क्रान्ति विरोधी थे। मारने वालों के पास कोई आँकड़े नहीं थे। मारे गये लोगों में कितने लोग मारने वाले लोगों के अपने ज़ाती दुश्मन थे ? इस बारे में कोई नहीं जानता। लेकिन यही हुआ करता है।

उदयन– क्या यह कहा जा सकता है कि विचारधाराएँ जिन सौन्दर्यात्मक मूल्यों के ढाँचों को ओट लेती हैं, वे वास्तविक कलात्मक सौन्दर्य मूल्यों को विस्थापित कर देते हैं। विचारधाराओं के सौन्दर्यात्मक मूल्य एकांगी होते हैं जबकि कलात्मक मूल्य हमेशा ही दुविधापूर्ण होते हैं...

आशीष दा– सौन्दर्यात्मक मूल्य हमेशा ही दुविधापूर्ण नहीं होते। वे कई बार बहुत आग्रही भी होते हैं। सौन्दर्यात्मक मूल्य किन्हीं आदर्शों के प्रति बहुत आग्रहपूर्ण भी होते हैं। आप जो भी करें, रूप के स्तर पर मधुबनी चित्र, मधुबनी चित्र ही रहेंगे। खतरा तब पैदा होता है जब आप यह आग्रह करने लगें कि वास्तविक लोगों को भी मधुबनी चित्रों के चरित्रों की तरह ही होना चाहिए, भले ही वे इसके लिए प्लास्टिक सर्जरी करा लें। यह नार्सिसिस्टिक दृष्टिकोण हो सकता है। जापान में यह बहुत है। मैंने 'कामीकाज़ी विमानकों' के बारे में पढ़ा है। वे आरम्भिक आत्मघाती हमलावर थे। वे अपने विमानों को बम सहित दुश्मन के पोत में घुसा देते थे। वे भाप के जहाज़ों की चिमनी में अपने विमान को घुसाकर विस्फोट कर देते थे और सारे जहाज़ में आग लग जाती थी। दूसरे विश्वयुद्ध में इस तरह कई लोग मरे और मारे गये। मैंने उनके इन कृत्यों का वर्णन पढ़ा है। वह इस तरह होता है : वे ऐसे गिर रहे थे जैसे आकाश से चेरी के फूल। जापान में चेरी की मंजरियाँ सुन्दरता को बताती है। विमान चालकों के अभिभावकों को इसी तरह की भाषा में शोकपत्र भी लिखे जाते थे। यह दूसरी तरह का सौन्दर्यीकरण है। सेप्पकू और हाराकरी की भी इसी तरह, फूलों के खिलने आदि से उपमा दी जाती थी। उसकी

सुन्दरता का बखान किया जाता था।

उदयन– संस्कृत के महाकवि भास के नाटक में भी युद्धभूमि में क्षत-विक्षत योद्धा का शरीर अशोक के फूलों की तरह वर्णित किया गया है।

आशीष दा– वह अलग बात है। क्योंकि वैसा वर्णन कवि का अधिकार है। वह सांस्कृतिक जगत का हिस्सा है। जिस तरह केवल सौन्दर्यीकरण खतरनाक हो सकता है, वैसे ही केवल रीज़न भी अकेले लागू किये जाने पर खतरनाक होता है। रीज़न भी बीमारी बन सकता है। मैंने तुम्हें इसका उदाहरण दिया था कि १६२० के दशक में चिकित्सकों ने उन लोगों को मारने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया था जिनमें, उनके अनुसार, जीने की सामर्थ्य नहीं थी। मानों वे साक्षात् ईश्वर हों।

उदयन– आपने जो फ्रांसिस बेकन का मुर्गी को बर्फ़ खिलाने का उदाहरण दिया था, वह भी रीज़न की सीमा बताता है।

आशीष दा– उसकी दूसरी व्याख्या है। वह शायद अप्रमाणिक कहानी है, लेकिन वह खूबसूरती से रीज़न की सीमा को दर्शाती है, हालाँकि वहाँ रीज़न चुटकुले में तब्दील हो गया है। क्योंकि कोई भी होशियार आदमी यह पहले ही बता सकता था मुर्गी को बर्फ़ खिलाने से वह मर जायेगी। पर वही बेकन ने किया और बर्फ़ के अपने स्वास्थ्य पर हुए असर के कारण वह खुद भी मर गये। इसका कहीं अधिक बड़ा उदाहरण वो सात-आठ लाख पशु हैं जिन्हें छात्रों को पढ़ाते समय प्रयोगशालाओं में मार डाला जाता है। चिकित्सा महाविद्यालयों में ज़िन्दा मेंढ़कों को चीरकर पढ़ाया जाता है।

उदयन– कुछ बड़ी कक्षाओं में कुत्तों का भी डिसेक्शन किया जाता है।

आशीष दा– एक सौ पैंतीस छात्रों को एक सौ पैंतीस ज़िन्दा मेढ़क देने की क्या ज़रूरत है ? आप सारे छात्रों को छः या सात के समूहों में क्यों नहीं बाँट सकते थे। ऐसा करने से मेंढ़कों को एक बटे छः या सात भाग कम मारना पड़ेगा। मानो खुद मेंढ़क की चीरफाड़ करना कोई बड़ी बात हो।

उदयन– सारे मेंढ़कों के जीवित रहते हुए उनकी स्पाईनल कॉर्ड नष्ट की जाती है, उसके परिणामस्वरूप वे पूरी तरह शिथिल हो जाते हैं और जब उनकी चीर-फाड़ की जाती है, वे जीवित ही रहते हैं।

आशीष दा– और अमरीकी विश्वविद्यालयों के आँकड़ों के अनुसार ऐसे मेंढ़कों की संख्या जैसा कि मैंने बताया प्रतिवर्ष तीन-चार लाख होती है, केवल अमरीकन विश्वविद्यालयों में।

उदयन– आपकी दृष्टि में पारम्परिक भारत में सार्वजनिक मूल्यों के स्रोत क्या रहे हैं, क्या वे पश्चिम के ऐसे ही स्रोतों से भिन्न रहे हैं ?

आशीष दा– वे अलग-अलग सम्प्रदायों में अलग-अलग रहे हैं। पर कुल मिलाकर भारत में संरचनात्मक या संस्थानीकृत हिंसा सीधी हिंसा की तुलना में कहीं अधिक है। हालाँकि हाल के वर्षों में स्थितियाँ कुछ बदली हैं जिससे हम हतप्रभ रह गये हैं। लेकिन यह हतप्रभ रह जाना भी हमारी इस स्थिति का संकेत भी है कि हमें खुली हिंसा की आदत नहीं है। नक्सलवादी हिंसा की चरम स्थिति के समय मैंने पाया कि नक्सलवादियों के हाथों मारे गये लोगों और पुलिस के हाथों मारे गये नक्सलियों का कुल आँकड़ा शिकागो या डेट्राईट में उस समय सामान्यतः मारे गये लोगों की संख्या से कहीं कम था।

उदयन– ऐसा क्यों है ? क्या इसलिए कि यहाँ करुणा अधिक है ?

आशीष दा– मेरा सोचना यह है कि भारत हमेशा ही हिंसक देश रहा है। मेरे एक जापानी अध्येता मित्र मुझे बता रहे थे कि जापान में निष्ठा, अनुशासन, व्यवस्था आदि सारे मूल्य इसलिए आये क्योंकि जापान बहुत अव्यवस्थित था और हर दिन किसी न किसी की हत्या कर दी जाती थी, क्योंकि वहाँ निष्ठा नाम की कोई चीज़ नहीं थी इसलिए स्वाभाविक रूप से जापान कुछ अधिक ही अनुशासित, संगठित, व्यवस्थित, अधिक ही विनयशील समाज बन गया।

उदयन– क्या ऐसा ही हिंसा के सन्दर्भ में हम भारतीयों के साथ हुआ है ?

आशीष दा– भारत की स्थिति अलग है, एक समय में यहाँ हिंसा पूरी तरह छिपी हुई भी नहीं थी और ढाँचों के बाहर की हिंसा भी बहुत थी। मारवाड़ी साहूकार कितने भी नृशंस हो सकते हैं लेकिन वे चीटियों को खाना खिलाते हैं और दावा करते हैं कि वे निष्ठावान जैन हैं। कहानी का यह पहलू भी है। जॉन वॉल्टन पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने ढाँचागत हिंसा (स्ट्रक्चरल वायलेंस) प्रत्यय का इस्तेमाल किया था। वे मानते थे कि अगर किसी समाज (मसलन रेड इण्डियन्स की) के सदस्यों की सम्भावित औसत आयु पचहत्तर है और बाकी समाज की सौ वर्ष है जैसी उदाहरण के लिए प्रभुतासम्पन्न गोरों की अमरीका में है तो वे यह मानकर चलेंगे कि हर चार में से एक रेड इंडियन को मारा गया है। यह न्यायसंगत लगता है। भारत में भी यह है। मैं जातिगत सम्भावित औसत आयु की दरों के आँकड़े देखना चाहूँगा। इसीलिए जापान की मिसाल के आधार पर देखें तो भारत ने पिछले तीन हज़ार सालों में ईसा पूर्व एक हज़ार साल पहले जैन तीर्थंकर फिर ईसा पूर्व पाँच सौ में बुद्ध से लेकर हमारी शती तक गाँधी जैसे लोग उत्पन्न किये हैं। यह इसलिए हुआ होगा क्योंकि हम हिंसक रहे हैं। इसका उलट नहीं हो सकता। इसीलिए गाँधी को यहाँ पूरी तरह, कभी भी, स्वीकार नहीं किया गया। विशेषकर समाज के नेताओं द्वारा, उच्च वर्गों द्वारा, जो समाज को बाँधकर रखते थे, ब्राह्मणों द्वारा, कुछ हद तक क्षत्रियों द्वारा। १९३० के बाद गाँधी कभी गुजरात वापस नहीं गये। आरम्भ में यह लगा था कि वे महाजन संस्कृति में खप जायेंगे पर बाद में समझ में आया कि वे अप्रत्याशित व्यक्तित्व हैं और वे कुछ और ही कर रहे हैं और उनकी वंशावली कुछ

अलग ही है। वह नाटक जो गोडसे को सही ठहराता है और जिसका मुम्बई में बहुत विरोध हुआ था, वह उसके पहले दो साल तक गुजरात में दिखाया जाता रहा और किसी ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की थी। मुम्बई में भी इसका सबसे पहले स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी और भारत छोड़ो आन्दोलन में शामिल उषा मेहता ने विरोध किया था और उसके बाद यह विरोध बढ़ गया, उसमें मराठा शामिल हो गये, उन्हें चितपावन ब्राह्मणों पर हमला करने का अच्छा बहाना मिल गया।

उदयन– गाँधी के हस्तक्षेप से भारत के भक्ति आन्दोलन की याद आना स्वभाविक है। आपने भक्ति आन्दोलन के विषय में गहन विचार किया है। आपके अनुसार उसने किस तरह वह रूप लिया, जिससे हम सब आज उसे जानते हैं।

आशीष दा– मेरे अनुमान से भक्ति आन्दोलन सात-आठ सौ वर्ष पहले शुरू हो गया था। बौद्ध धर्म में धीरे-धीरे कठोर ब्राह्मणवादी अनुष्ठानों का प्रवेश हो गया था, जिनमें कुछ हिंसक अनुष्ठान भी शामिल हो गये थे। ब्राह्मणवादी कठोरता की स्वयं की गयी या देखी गयी हिंसा से दूरी बनाये रखने की सामर्थ्य की सीमा और इस पर उस समय निम्न वर्णों तक फैल गयी बौद्ध दृष्टि के प्रतिपक्ष के कारण ब्राह्मणवादी सभ्यता और उसके प्रतिपक्ष के बीच नैतिक और बौद्धिक अन्तराल उत्पन्न हो गया। इस प्रतिपक्ष में न सिर्फ़ बौद्ध दृष्टि थी बल्कि इस्लाम का भी एक अंश था जो सूफ़ी मत के साथ आया था। वह इस शक्तिशाली ढंग से इसलिए आया था क्योंकि भारत के कई हिस्सों में वैष्णव और बौद्ध मतावलम्बी हमेशा निम्न वर्ण के होते थे, जैसे कि पूर्वी भारत में और उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। इसीलिए बहुत-से बंगाली लेखकों का मुसलमानों के प्रति रुख बहुत अलग था। उन्हें हिंसक समुदायों की तरह नहीं देखा गया बल्कि उन्हें अधिकतर प्रकृति के निकट समझा गया।

उदयन– क्या इसका कोई उदाहरण साहित्य में मिलता है ?

आशीष दा– टैगोर की कृतियों में मुसलमान कुछ-कुछ प्रकृति की तरह हैं। मानो कोई तूफ़ान आ रहा हो और थम गया हो या बाढ़ आयी हो और उतर गयी हो। मैंने इसी तरह का वर्णन कई जगह देखा है। वे आवेग संचालित लोगों की तरह वर्णित हैं। यह तथ्य कि वे वैष्णव या बौद्ध धर्म से धर्मान्तरित होकर मुसलमान बने थे, उन्हें भारत के अनेक हिस्सों में कुछ अलग ही व्यक्ति बनाता था। एक अर्थ में भक्ति आन्दोलन की एक प्रेरणा यह भी है। आप नानक का उदाहरण लीजिए। नानक गुरू गोविन्द सिंह नहीं थे। गाँधी ने यह कहा भी था। गाँधी जैसे कि वे थे, यह कह सके थे कि नानक ही असली गुरू थे। वे यह कह सके थे क्योंकि उन्होंने गुरुद्वारों का प्रबन्धन अपने हाथ में लेने के सिक्खों के आन्दोलन का समर्थन किया था। १९३६ तक सारे गुरुद्वारे ब्राह्मणों के नियन्त्रण में थे। उसके बाद वे सिक्खों के नियन्त्रण में आ गये। उनके सिक्खों के अपने नियन्त्रण में आने को गाँधी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन की पहली जीत कहा था। बहुत-से सिक्खों को यह पता तक नहीं है। उन ब्राह्मणों

के पास धन था। भारत से हिन्दू-मुसलमान समस्या खत्म हो चुकी होती, अगर ब्राह्मणों को उनके योग्य कार्य दिया जाता और उदाहरण के लिए अगर मस्जिदों का प्रबन्धन भी उन्हीं पर छोड़ दिया जाता। अगर चर्मकार ब्राह्मणों को पूजा ही नहीं विवाह, मृत्यु से सम्बन्धित अनेक अनुष्ठानों के लिए बुला सकते हैं तो मुसलमान अपनी मस्जिदों का प्रबन्धन उनसे क्यों नहीं करवा सकते। पर समस्या यह है कि मुसलमानों के अपने पुरोहित हैं। ब्राह्मण भी पुरोहित ही हैं। मैंने तुम्हें कल थाईलैण्ड में ब्राह्मण पुरोहित के बारे में बताया था। वह एक बौद्ध देश में बौद्ध अनुष्ठान आदि करवाने में प्रसन्न हैं। मैं यह कहने की कोशिश कर रहा था कि भक्ति आन्दोलन में उस तरह के सेतुओं का बड़ा स्थान है जिनका मैंने ज़िक्र किया है। उसमें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच तो सेतु बना ही है साथ ही उसमें बौद्ध धारा भी इस्लाम में शामिल होकर आ गयी थी। इस तरह वे विचार भी इस आन्दोलन में सहज रूप से शामिल हो गये। वह सिर्फ़ विचारधारात्मक या आस्था का चुनाव ही नहीं था, यह उस काल में हर ओर उपस्थित दो अन्तर्विरोधी खिंचावों, चेतना की दो अन्तर्विरोधी अन्तर्धाराओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास था जो एक अर्थ में पहली बार सम्भव हो पा रहा था। यह बात लोग आसानी से कह जाते हैं कि लालन फ़कीर भक्ति आन्दोलन का उत्पाद थे, पर वे यह याद नहीं रखते कि वे मुसलमान थे। अगर अमीर खुसरो यह कह सकते हैं कि 'भला हुआ मेरी गगरी फूटी, मैं पनिया भरन से छूटी' तो इसे वैष्णव दृष्टि से कैसे अलगाया जायेगा। वैष्णव विचार की यह धारा सूफ़ी विचार में शामिल हुई हैं। दिल्ली के टोल स्कूलों में गायी जाने वाली कव्वालियों को तुम्हे सुनना चाहिए, वे अद्‌भूत रूप से मार्मिक होती हैं। तुम देख सकोगे कि इन दृष्टियों का समायोजन किस हद तक हो गया था। 'समायोजन' भी यहाँ ठीक शब्द नहीं हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि यहाँ पारलौकिकता (ट्रांसेन्डेन्स) के नये विचार ने हर ओर आकार ले लिया था। पारलौकिकता की एक नयी धारा ने। यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जब लोग निज़ामुनद्‌दीन औलिया की दरगाह में जाते हैं, वहाँ एक जगह रूढ़ीवादी इन्हें कहते हैं कि आपको यहाँ नहीं आना चाहिए, इस्लाम में इस स्थान को पवित्र नहीं माना जाता। वहाँ गये लोग आठ-दस के समूह में इकट्‌ठा होकर इस सबको बड़ी शान्ति से सुनते हैं - वहीं उनके होल्डॉल या बक्से रखे रहते हैं और वे उन्हे खड़े-खड़े सुनते हैं - फिर वे अपना बोरिया-बिस्तर लेकर वहीं यानि निज़ामुद्‌दीन औलिया की मज़ार पर चले जाते हैं। मानो वहाँ जाने से पहले वह सब सुनना भी उनका काम था। यही कुछ अजमेर शरीफ़ जाने वालों के साथ होता है। वहाँ भी जाने से पहले उन्हें इसी तरह के उपदेशकों को सुनना पड़ता है। उन उपदेशकों में सलाफ़ी भी होते हैं। श्रृद्धालु उन्हें सुनते हैं फिर अजमेर शरीफ़ में चले जाते हैं। ये लोग अधिकतर उत्तरप्रदेश और बिहार से आते हैं।

उदयन- शायद आप यह कह रहे हैं कि भक्ति आन्दोलन में वैष्णव दृष्टि, बौद्ध दृष्टि और सूफ़ी विचार एक-दूसरे के क़रीब आ गये थे।

आशीष दा– मैं सीधे-सीधे 'बौद्ध' नहीं कह रहा क्योंकि १४वीं और १५वीं शती के पहले ही बौद्ध धर्म यहाँ अन्तःसलिल हो गया था। पर उसकी एक धारा इस्लाम में शामिल होकर भक्ति आन्दोलन में आ गयी थी। आखिर महाभारत में परिवर्तन कर देना मज़ाक नहीं है (कुछ अध्येता उसके अन्त में आये 'शान्ति पर्व' को बाद में जोड़ा हुआ मानते हैं, वे यह भी मानते हैं कि यह जुड़ाव बौद्ध प्रभाव में हुआ था।) यहाँ अद्वैत और निरीश्वरवादी दृष्टियों के बीच के द्वन्द्व का समाहार हो गया था। निरीश्वरवादी विचार संसार के प्रति निरावेग या निष्करुण दृष्टि के साथ नहीं आता। मेरा खयाल है कि वह विचार संसार के प्रति करुणा की आँच में तपा हुआ होता था। शंकराचार्य का भजन, 'भज गोविन्दम् भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते...' द्वैतवादी भजन हैं। यह उन्ही शंकराचार्य का सीधा-सीधा द्वैतवादी भजन है जिन्हे हम अद्वैत की बात करने वाले विद्वान की तरह जानते हैं। मेरा सुझाव यह है कि भक्ति आन्दोलन ने इन सारे विचारों के बीच सम्बन्ध-सूत्र बनाये, उनके बीच पुल बनाये और उसी के फलस्वरूप वह समाज बना है जो आज हम हैं।

उदयन– आपका यह कहना बेहद अर्थपूर्ण है कि हमारे आज के समाज की जड़ में भक्ति आन्दोलन हैं।

आशीष दा– आज हम जिन अनेक विचारों की चर्चा करते हैं, उनकी आधारशिला भक्ति आन्दोलन में रखी गयी। उस भक्ति आन्दोलन की परम्परा को भंग करने की चेष्टा उन्नीसवीं शती में अँग्रेज़ी राज और तथाकथित समतावादियों और अन्यों द्वारा लाये गये एक नये तरह के भौतिकवाद ने की थी जिसमें एक नयी किस्म की ऊँच-नीच बनी जिसमें इस परम्परा को अन्धविश्वास आदि घोषित किया गया। वे लोग जिन्होंने पश्चिम के प्रति प्रमुख अनुक्रिया निर्मित की और जो पश्चिम की दृष्टि को अपने में शामिल करना चाहते थे, उन्होंने वैसा सख्त शैव पद्धति से किया था, उसी की पैदाईश हम बंगाली लोग हैं, जहाँ सारे ऊँचे वर्ण के लोग शाक्त हैं, असम में, सारे मिथिला में भी, वहीं एक और अनुक्रिया नये दार्शनिक स्कूल नव्य न्याय में हुई जिसमें तर्क की परिणति तर्क में ही होती है। इन दोनों ही विचार परम्पराओं के और भी भीतर झाँकने की आवश्यकता है। शाक्त परम्परा में हिंसा की अपेक्षाकृत अधिक स्वीकृति है। उसमें मुख्यतः अट्ठारवीं शती के अन्त और उन्नीसवीं शती की शुरुआत की सती प्रथा जैसे सामाजिक दोषों का भी अधिक स्वीकार है। यह जानना शायद दिलचस्प है कि अधिकांश ठग जिनमें मुसलमान शामिल हैं, काली पूजक थे। नव्य न्याय में तर्क का अन्त तर्क में होता है। बल्कि उस दर्शन में तर्क-विधान का महिमा-मण्डन किया जाता है और उसे करुणा और पोषण के जैसे मानवीय मूल्यों पर वरीयता दी जाती है। यहीं से उसमें हिंसा के स्वीकार का स्थान बन जाता है। बीसवीं शती में तर्कणा (रीज़न) के दोष ने कहीं अधिक हिंसा की है। इस शती के अनेक नरसंहारों को- फिर भी सोवियत रूस के हों या आयरलैण्ड या बंगाल के। बंगाल के अकाल को भी ज़ोर-ज़बरदस्ती से विज्ञान के तर्कों के आधार पर ही आरोपित किया गया था। तुमको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिन वर्षों में बंगाल अकाल से मर रहा था, उन वर्षों में

वहाँ अच्छी-खासी फसल हुई थी और वहाँ उत्पन्न सारा अनाज ब्रिटिश गोदामों को भरने के लिए उठाकर बंगाल को अकाल में झोंक दिया गया था। रीज़न की परिणति यह भी है। उन्ही शाक्त और नव्य न्याय की शर्तों पर उन्नीसवीं शती में पश्चिम की दृष्टि को समाहित किया गया था। पर जानना आवश्यक है कि पश्चिम की ज्ञानोदय से अलग एक और परम्परा है जिसमें रॉबर्ट ब्लेक थे, थोरो थे, उसका हमारी विचार-सम्पदा में समावेश न हो सका। नव्य न्याय आदि पश्चिम के विचारों के प्रति हमारी एक अनुक्रिया थी जिससे हमारे अनेक श्रेष्ठ चिन्तक प्रेरित हुए जैसे राजा राममोहन राय, विवेकानन्द आदि। विवेकानन्द का कहना था कि उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस थे जबकि रामकृष्ण की पश्चिमी विचार पर अनुक्रिया कहीं अधिक प्रामाणिक थी क्योंकि उनका सम्बन्ध भक्ति परम्परा से था, विवेकानन्द का नहीं था। उनकी यह अनुक्रिया तर्कशीलता से अधिक प्रेरित थी। इसी कारण इस संस्कृति में वह उभयलिंगी (एन्ड्रोजीनस) रंग है जो हमारी कला और अन्य सांस्कृतिक उपक्रमों में बना रहा। अमिताभ बच्चन के आने से पहले हमारी नायक की अवधारणा में भी वही उभयलिंगी रंग था। मैं अत्यन्त विस्तृत वितान की बात कर रहा हूँ। पर इस वितान की सभ्यता के इतिहासकार बेहतर व्याख्या कर सकते हैं। यही मेरी इस सभ्यता को समझ है।

उदयन- भक्ति आन्दोलन आज तक जीवित है...

आशीष दा- यह हमारा आधार स्रोत है। आप अन्य संस्कृतियों को भी शामिल कीजिए, पर इस विपुल सम्पदा राशि को विस्मृत मत कीजिए। लोग यान्त्रिक ढंग से कबीर के सन्दर्भ में 'हिन्दु-मुसलमान' आदि की बातें करते हैं पर वह उपयोगितावाद ढंग है। पाकिस्तानियों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि गुजराती लोग मुसलमान सन्त साईं बाबा की पूजा करते हैं। वे सोचते हैं कि वहाँ मुसलमानों के प्रति नफ़रत हैं पर तब भी वहाँ लोग साईं बाबा के मन्दिरों में जाते हैं। हमें यह समझना चाहिए कि सभ्यता का अलग गणित हुआ करता है। वह राजसत्ता के गणित को लाँघ जाता हैं, वह मानकीकृत व स्वीकृत ज्ञान के परे जाता है और अन्ततः वह व्यवहारिकता के गणित को भी लाँघ जाता है। लेकिन वह होता है और अपने सबसे सृजनात्मक क्षणों में हम उसके प्रति कृतज्ञ होते हैं कि वह उस तरह जीवित रह आया है जैसे वह रहा आया है ताकि हम उसमें से कुछ ग्रहण करते रह सकें।

उदयन- जब आप साधारण लोगों की सामर्थ्य में गहरी निष्ठा व्यक्त करते हैं, क्या आप सभ्यता के इसी गणित में निष्ठा व्यक्त कर रहे होते हैं।

आशीष दा- बिल्कुल। इसलिए नहीं कि साधारण लोग अपनी ओर से बोल रहे होते हैं बल्कि इसलिए भी क्योंकि वे हमारे किन्ही अंशों की ओर से भी बोलते हैं, इसमें नरेन्द्र मोदी भी शामिल है। जब मैं गाँधी के हत्यारे, मदनलाल पाहवा का साक्षात्कार कर रहा था, मुझे महसूस हुआ कि उसमें कितना सारा गाँधी प्रवेश कर

चुका है। गाँधी को गाली देकर भी वह अपने को गाँधी की आँखों से देखने से नहीं बचा पा रहा था। खासकर अपने अन्त काल में। एक अर्थ में वह जानता था कि वह उनसे पराजित हो चुका है।

उदयन– गाँधी आधुनिक युग में ऐसे व्यक्ति हैं जो भक्ति को एक अलग ही ऊँचाई पर ले गये थे।

आशीष दा– हाँ। कुछ लोग कहते हैं कि वे भारतीय शास्त्रीय ग्रन्थों से अधिक परिचित नहीं थे। पर अधिकांश भक्ति आन्दोलन के सन्त भी ऐसे ही थे। उन्हें वैसा होने की आवश्यकता भी नहीं थी। उन्होंने उनकी अन्तर्दृष्टियों को सोख लिया था। इस जगह पर रामचन्द्र गाँधी सही नहीं थे। मैंने उनसे इस विषय पर बहस भी की थी। वे बेहद अच्छे बहस करने वाले थे। आपको शास्त्रीय ग्रन्थों को दोहराने या उनसे अनुक्रिया करने की आवश्यकता नहीं है। यह अध्येताओं का काम है। आपको ऐसी अपेक्षा कबीर से क्यों होनी चाहिए। उनका विवेक स्वतःस्फूर्त (इन्स्टिक्टिव) होता है। लालन का विवेक भी स्वतःस्फूर्त है। नानक का भी। रहस्यवादी साधनाएँ (मिस्टिज़िज्म) आपके व्यक्तित्व के गुह्यतर स्तरों को उद्घाटित करती हैं जिन्हे पाने की आप चेष्टा कर रहे होते हैं। यह एक अलग ही मामला है। सभ्यताएँ इस तरह की चीज़ों पर चला करती हैं। यह हमारी एक अलग प्रकृति है, दूसरी नहीं, तीसरी प्रकृति। भक्त कवि और साधक अपनी चेतना के ही नहीं, बल्कि सभ्यता बोध के भी वाहक थे। हमें उनका उन्ही के सन्दर्भों में मूल्यांकन करना होगा। वे अंशतः हमारी अवचेतना के भी आगार (भण्डार) हैं। वे यह मानते थे कि उनके भीतर कुछ शक्तियाँ उनसे ऐसा करवाती है।

खुदा की आत्मकथा

कुमार शहानी

सिन्धी से अनुवाद : रश्मि रामानी

मैं
    कहाँ हूँ ?
    कहाँ जाऊँ ?
तुम नहीं हो
सिर्फ़
    मेरे दिल में
    तुम नहीं हो
न
बाहर न अन्दर
तुम हो
    आकाश से परे
बताओ
    कहाँ हो ?
माँ

असल-अनन्त

अमित दत्ता

अज्ञात शिल्पी फ़िल्म बनाना मेरे लिए एक शिल्पी के पदचिन्हों पर चलने जैसा था। मुझे कई प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करना था और अनुवाद भी। इस प्रक्रिया के दौरान मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे नोट्स व अनुवाद जो मैंने कई श्लोकों व उक्तियों के किये थे, मेरे अन्तर्मन से एक चेतना-प्रवाह की तरह बाहर आये हैं। कुछ की ध्वनि कविता जैसी है। इनमें से कुछ फ़िल्म की आवाज़ भी बने।

कौन ?

कौन था वो जिसने पार किया इन हिम की दीवारों को --
अपनी ही प्रतिमा की तलाश में ?
कौन था वो
जिसके मन के दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ था
बीज शिल्प का ?
कौन है वह
जिसका आह्वन हुआ है ?
हे मुक्तिदाता -- हे तारक!
सहायता करो!
अपनी आत्मदृष्टि से ही हम खोज सकें
असल निधि को।

रक्षा

हे ईश्वर !
इस चरणभूमि की राह में अब कोई नया ज्वर न हो।
सप्तर्षि व विश्वकर्मा उत्तर की दिशा से मेरे रक्षक हों।
जिसकी तरफ मैं जाऊँ, जिसके भीतर मैं विश्राम करूँ;
उसी दुर्ग में मुझे शरण मिले।
वह मेरी रक्षा करे।
जैसे
बादल के पीछे से तारा झाँकता है --
वैसे
गडरिये की जेब में से भेड़ का बच्चा।

तृष्णा

चौराहे पर खड़ा वह अँधेरे में चमकता है,
संशय व विडम्बनाओं का नाश करता हुआ।
हे मुक्तिदाता के तेज़स्वी पुत्र --
मुझे अपने में मिलने दे।
मैं प्रकाश को पाना चाहता हूँ।
मुझे तृष्णा है।
प्रकाश बन मुझ पर कृपा करो।
मुझे लगे बस यही मार्ग है।
मेरा मार्ग- दर्शन करो जैसा तुम करते हो कई साधकों का।
तुम हिसाब रखते हो हर किसी के समय का --
हर कोई
जो अपने-अपने मार्ग पर प्रशस्त है।

चाँद
बादल के पीछे से निकल
मशाल
बन
मार्ग-दर्शन
करे।

वृक्ष-परीक्षा

ऐसा पेड़ जो हाथियों ने तोड़ा हो।
जिसमें पक्षियों का वास हो --
उनके घोसले हों --

उस पेड़ को न काटूँगा।

ऐसे पेड़ जो टेड़े-मेड़े हों;
बौने हों
जिनके जड़ें तो दिखें
पर ऊपर से सूख गये हों,

उनको न चुनूँगा।

श्मशान में उगे पेड़।
या फिर मन्दिरों में उगे पेड़।
जहाँ चीटियों की बाम्बी हों -
बाग के अकेले पेड़ --
सीमा चिन्हित करते पेड़
या फिर राह में लगे पेड़।
पलाश

कोवीदरा
शालमली
पिप्पल
वट
आम
पुष्पक
कपित्
विभीटक
वेतसा

...इन सबका मैं त्याग करूँ।

नन्दन
स्यंनदन
शाल
शिमसप
खदिर
धव
किमशुक
पदमक
हरिद्रा
चीनक
अर्जुन
कदम्ब
मधुक
अंजन
देववृक्ष
जातया
रक्तचन्दन...

मैं बस इन्हीं का चुनाव करूँ।

हे ईश्वर!
अगर मैं रास्ता भटकूँ तो
मेरी कुल्हाड़ी को हवा में रोक दो।

प्रार्थना

इस पेड़ पर वास करने वाले भूत हों,
या फिर कोई भी प्राणी,
मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।
कृपया मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करें --
अपना स्थान बदलें।
आपकी आज्ञा व अनुमति हो
तो इस पेड़ की लकड़ी को
मैं ब्रह्माण्ड के प्रतिरूप-निर्माण के काम में लाऊँ।
अगर आप किसी कारण इस पेड़ को त्यागने में असमर्थ हों
तो कृपया
मेरे सपने में आकर मुझे सूचित करें।
या फिर
अपने फड़फड़ाने की आवाज़ में
--गुंजन में
-काँव-काँव में
-गूटर गूँ में-
अपने करलव में।

आदर्श

यूप-यज्ञ की तरह ही शिल्पी अपने काम में लगता है।
जिस तरह यज्ञकार के लिए यूप है --
उसी तरह शिल्पकार के लिए माणदण्ड है।
जो यूप के सर को विश्व और उसके दण्ड को कर्म मानता है
व उस माणदण्ड को लेकर चलता है
वही सच्चा शिल्पी कहलाता है।
माणदण्ड सूरज के समक्ष सीधा खड़ा रहता हे
और उसकी परछायी निरन्तर बदलती रहती है --
सुबह की लम्बी परछायी से लेकर दोपहर की छोटी परछायी तक --
शिल्पी बदलते रहते हैं।

असल अनन्त

यह मार्ग तो बाधाओं से पटा पड़ा है --
कई व्यवधान हैं --
लो -- भय -- व्याकुलता।
क्या कोई इन बाधाओं के आगे माथा टेक दे ?
या बढ़ चले
आगे
एक मूरख की तरह ?
स्वाभिमानी अहं के आगे तो न झुकेगा।
ज्ञान यहाँ उपयोगी कहाँ --
उसे तो बाहर द्वार पर ही छोड़ कर आना पड़ेगा।
पर ज्ञान को त्यागने का साहस किसी में भी नहीं।
केवल अजन्मा ही लाँघ सकता है गर्भ को

न विद्वान और न सन्त।
अगर माताएँ रास्ता दिखाएँ तो ?
और अगर वह माताओं को देख पाये तो ?
जो असल है वह ढँका रहता है स्वर्ण पलक से --
हे तेजस्वी !
उस पलक को हटाओ
ताकि
हम देख पाएँ
असल अनन्त को।

बिम्ब

जो भी अस्थायी है
वह एक बिम्ब है,
चाहे वह इस धरती जैसा ठोस हो या नभमण्डल जैसा विशाल।
जब रूद्र का बाण प्रजापति को बींध डालता है
तो सृजन की प्रचण्डता से अज को बचाने के लिए
पिता के ज्वलन्त बीज
यज्ञस्थल पर आ पड़े।
कुल खण्ड में निहित हो गया।
समस्त ब्रह्माण्ड --
ब्रह्माण्ड के प्रतिरूप में निवास कर सकता था।

दायरा

आरम्भ में वृत्त है --
दायरा।

वृत्त ही विश्व है।
जैसे चित्त का मनुष्य में वास है
वैसे ही इसके आकार में ही प्राण-वायु का।
वृत्त ही काल है।
वृत्त की गति उसकी परिधि से नियमित है --
जैसे चित्त चंचलता चित्त-वृत्ति से।
जैसे मनुष्य का सम्बल आत्मा है
जैसे
वृत्त का अमर है।
दायरे का सम्बल अमर है,
इसका बिन्दु ठोस है
जैसे
आत्मा
मनुष्य में।
दायरे के अन्दर
का क्षेत्र
इसका आधार है।
जैसे हर प्राणी फिरते हैं
कई आकार जन्म लेते हैं।

यह जीवन की प्राण-वायु है।
वास्तव में दायरा
ही पूर्ण है।

दायरा खुलता है -- बिन्दु छिटकते हैं।
वही बिन्दु
भेड़ों के आकार लेकर मिमियाते हैं।

शिल्पी दूर क्षितिझ की ओर जाता हुआ एक बिन्दु की तरह ही तो लगता है।

संवाद

ना !
पर मैंने अपने शत्रु -- जो मेरे मित्र था उस पर विजय पा ली है।
काश !
इस क्षण इस खेल की समरसता पत्थर पर उकेरी जा सकती।
अगर खेल सम्पूर्ण हो तो शायद ज़्यादा भव्य लगे।
कई सम्भावनाएँ हैं --
परन्तु
इस क्षण
यह खेल
अपने-आप में सम्पूर्ण है
समरसता है --
अगली चाल में सब नष्ट हो जाएगा।
इसे यहीं छोड़ देना उचित होगा।
इसे यहीं छोड़ दें ?
हाँ !
अपने आप में एक सम्पूर्ण क्षण --
इस अधूरे खेल से उत्पन्न हुआ है --
यह क्षण।
हर आकार उसी मूल आकार का
प्रतिरूप ही तो है।

देख नहीं पा रहा

प्रतिमा का जन्म कैसे होता है ?

इस

जगत
में
आकार
कैसे उत्पन्न होते हैं ?

मैं देख नहीं पा रहा हूँ !

छा रहे हैं बादल आकाश में।
मधुर संगीत कौन गा रहा है ?

कौन भटका रहा है मुझे ?
या फिर इंगित कर रहा हो --
असल पथ की ओर ?

नियम

मूल से धीरे-धीरे उठती है प्रतिमा।
आकार के नियमों का ज्ञान।
नियमों के ज्ञान से
तत्त्वबोध।
तत्त्वबोध से धारणा।
धारण से पवित्र गानों का बोध
व
जन-जीवन में
कथाओं व मिथकों का जन्म।
इन पवित्र ध्वनियों से
प्रतिमाओं का निर्माण होता है।
जो अन्ततः लौट जाती हैं अपनी मूल अवस्था की ओर।

पत्थर हाथ में बदलता है -- हाथ पथर में।
उसके ऊपर एक नन्हा-सा पौधा उग आता है।

मूल

प्रश्नः
रेखा क्या है ?
इसका भाव क्या है ?

उत्तरः
रेखा न्यास का आधार है।
यह एक नदी जैसी होती है।
कर्म की अनुभूति में
यह अधिभूत
व
अधिदैवत
जैसी होती है।

रेखाएँ
वृत्त
ऐसी
काटती हें
जैसे
ईश्वर
संसार
को
काटता है।

यह धरती हमें सहन करें !

तभी
आकाश की किरणें बादलों के पीछे से फूट पड़ती हैं।
शिल्पी के हाथ पर प्रकाश से बने रेखा-चित्र जन्म लेते हैं।

धरा

यह धरा कार्णिक-क्षेत्र है।
प्रकाश एक दायरे की तरह।
वर्ग समुद्र का संकेत हैं।
जिसको विभाजित किया है --
समान रूप से हवाओं की रेखाओं ने।
यह धरती हमें सहन करे !
चाँद की परछायी जो नदी में गतिमान है --
शिल्पी के ध्यान को नौ भागों में विभाजित करती है।

त्रिकोण

सीधा खड़ा
आग का त्रिकोण
और
नीचे झुका हुआ
जल का त्रिकोण
मिलते हैं --
अपने इस महान मिलन से
वे मानव को
दिव्यता प्रदान करते हैं।
और ऐसे घने संसार का निर्माण करते हैं।

जिसमें जल, अग्नि व वायु --
रेखाओं में रखे जाते हैं।

षट्कोण

षट्कोण देवों को आकर्षित करें
और
वह अपने वास्तविक भाव प्रकट करें।
बिन्दु व मरमन गुणा हों
आकार उत्पन्न हों --
प्राण वायु से भरपूर !
प्राण वायु से बने हुए आकार
अपने अन्दर पहाड़ जैसी ठोस वस्तु को रख सकते हैं।
आकाश से होता है वज्र प्रहार
पहाड़ के कुछ टुकड़े शिल्पी के सपने में आ पड़ते हैं।

रेखाएँ

रेखाएँ सूत्रों का पालन करें
और लयबद्ध हों।
सीधी अग्नि रेखाएँ
क्षैतिज जल रेखाएँ
विकर्ण वायु रेखाएँ
मिल कर
प्रतिमाओं के तरह-तरह की चरित्र विशेषताएँ
उकार लाती हैं।
श्रमिक का सख्त हाथ --
अपने द्वारा उकेरी प्रतिमा के कोमल हाथ को सहलाता है।

वर्षा व बीज

जैसे वर्षा
से तरह-तरह के बीज उत्पन्न होते हैं
वैसे ही रेखाएँ
तरह-तरह के आकारों को जन्म देती हैं।
बाधाओं की वर्षा से बचने के लिए
शिल्पी अपनी प्रतिभा के छाते के नीचे शरण लेता है।
बीज छाते से टकरा कर इधर-उधर छिटक कर
ऐसे आकारों का निर्माण करते हैं
जिस पर वह गर्व करता है।

एक समय की बात है

एक समय की बात है -- कोई एक जीवित वस्तु थी
जिसका कोई नाम न था।
उसके आकार का भी किसी को ज्ञान न था।
उसने अपने उसी आकार से आकाश और धरती को रोक लिया था।
यह देख देवों ने उसको पकड़ धरती पर पटक दिया था।
उसका चेहरा नीचे की तरफ था और देव उसको ऊपर से दबा रहे थे।
इसी अवस्था में वह सदैव पड़ा रहा।
तब ब्रह्मा ने
उसको पूर्ण किया
और
उसका नाम वास्तु-पुरुष रखा।

इच्छा

पत्थर को तरह-तरह के दूध से नहला कर
उसके रंग व घनेपन में आते परिवर्तन
को देख कर
शिल्पी
रासायनिक-सूत्र
बनाता है --
जैसे
ईश्वर
मानव
को
इच्छाओं
से
नहला कर।

रिक्त-स्थान

एक
योगी
के
लिए स्थान
एक मृगचर्म
की तरह होता है।
जब वह जाता है
तो
अपने संसार
को

लपेट
कर
अपने साथ ले जाता है।

आकाश-आकाश

आकाश
ही नाम
व
रूप
को
सिद्ध
करता
है।

आकाश
से आने वाले प्रकाश से नहीं

आकार

शिल्पी के मन की साधना से
उज्ज्वलित होता है।

आकाश

आकाश एक माप है।
पंजर व कोशट का निर्माण होता है --
जिसमें संसार को रखा जा सके
उसका निर्माण

वृत्त
व
रेखाओं
से हुआ है।
निर्गुण को सगुण
में बदलता है।
अव्यक्त को व्यक्त
में।

प्रतीत-प्रतीक-प्रतिमा

जब वास्तुकार ध्यान लगाता है

तो उसकी अन्तर-दृष्टि से ध्यानरूप उभरता है।

प्रतीत
प्रतीक
प्रतिमा

क्रमशः

यह तीन आवश्यक मूल हैं।

वह बिम्ब है --
प्रतीक --
उदाहरणतः
अँगूठे के आकार का।

शिल्पी अपना माथा पत्थर पर टिकाता है।

उसकी अँगूठी अँगूठे में नहीं है।
उसकी शिल्प-वर्तनी जो उसने पत्थरों की दीवारों पर उकेरी है।
उसकी अँगूठी में दर्पण है जिसमें वह अपना चेहरा देखता है --
बीज खोजता है।

आनन्द

प्रकृति
के रूप
उन लोगों
के
हृदय में उत्पन्न होते हैं
जो रचनात्मक
आवेग से ओत-प्रोत रहते हैं।

कमल का फूल शाम को बन्द होता है।
कहते हैं
उस रात शिल्पी के स्वप्न में एक मछली आयी थी।

रस

विभिन्न रेखाओं के
मिलन से उत्पन्न होते हैं।

रस।

क्षैतिज जल रेखाओं से --
तरलता व तृष्णा के रूप पैदा होते हैं,
उदास व निष्क्रियता के भी।

विकीर्ण रेखाओं से
उग्र व शक्तिशाली क्रुद्ध रूपों का निर्माण होता है।

सीधी रेखाओं से शक्ति रूपों का निर्माण होता है।

इस संसार में मन के कारण ही हम विभिन्न भावों को ग्रहण करते हैं।

शिल्पी के मन के दर्पण में --
परछाईं दिखती है।

अँगूठी रगड़ने से आकाश में बिजली चमकती है।

हमेशा उससे दस अंगुल ज़्यादा

पुरुष जिसके
सहस्त्र सिर हैं,
सहस्त्र आँखें,
सहस्त्र पाँव,
धरा को चारों ओर से घेरने का प्रयत्न करता है
पर
वह
है
हमेशा
उससे दस अंगुल ज़्यादा।

नीली रात में बर्फ़ का सफ़ेद पहाड़ चमकता है।

उभरता है

कौन ?

- सी राह पकड़े शिल्पी ?

पत्थर

अगर पत्थर पर स्वर्ण-रेखाएँ दिखें -
अरे यह तो ऐसी विकृति पैदा करेगा --
जिस पर ध्यान लगाते ही कल्पना बिखर जाए।
बहुत सख्त पत्थर --
ताँबे जैसा लाल रंग --
यह भी ठीक नहीं --
जब पत्थर पर धातु जैसे दाग हों, धुँए जैसा रंग हो --
यह पत्थर तो सबसे खोटा।
पत्थर की परतों के बीच अगर धातु की चमकती पीली रेखाएँ दिखें
तो उस पत्थर का त्याग कर।
पत्थर काटने पर अगर गोलाकार रेखाएँ दिखें
तो यह जीवन का सूचक हुआ।
बालूपत्थर अच्छा है !
अगर समूचा पत्थर एक ही रंग का है
तो वह सबसे उपयुक्त है।
अगर पत्थर इन रंगों में से एक है तो वह सबसे बेहतर है --
श्वेत-पद्मा के रंग जैसा- कबूतर के रंग जैसा व काले भँवरे के रंग जैसा।

ऐसा विचार कर शिल्पी मुड़ता है --
सामने एक चट्टान है -
- शिल्पी ध्यान से देखता है --
अरे !
यह चट्टान तो दिन में कई रंग बदले।

रूप

रूप का भाव आवश्यक है।
रूप से प्रेरणा उपजती है।
प्रेरणा से दिव्य-दृष्टि
जिसका कार्य भेदनविद्या है।

हे देवी, उठो! तुम कहाँ सोयी हो ?
मैं भयभीत हूँ।
क्या मैं
अक्षम को सक्षम में बदल सकता हूँ ?
हे देवी, शान्त हो
तुम नेत्र हो --
मुझे दृष्टि दो --
तुम आश्रय हो
मुझे आश्रय दो --

एक चट्टान का मुँह खुलता है--शिल्पी उसमें अपना आवास बनाता है।
शिल्पी के छैनी की मधुर आवाज़ समस्त ब्रह्माण्ड में गूँजने लगती है।

शिल्पी

शिल्पी प्रतिमाओं को गढ़ कर सिद्धी प्राप्त करता है।

दिव्य के साथ एकाकार हो जाने के लिए ?

सांसारिक लक्ष्यों
या
आत्मिक लक्ष्यों के लिए ?

शिल्पी रात को भी काम जारी रखता है।
उसकी मछली की परछायीं -- पानी में
मन के दर्पण में --

वह सीढ़ियाँ चढ़ता है बार-बार।

तत्व

हस्त-मुद्राएँ
प्रतिमा के भाव को उजागर करती हैं।

अस्त्र
प्रतिमा की शक्ति को प्रकट करते हैं।

वाहन
प्रतिमा के स्वभाव को उजागर करने का एक खास माध्यम है।

जब प्रतिमा के अंग ब्रह्मबिन्दु या मरमन पर आधारित होते हैं --
प्रतिमा की नाभी से --
प्रतिमा सुघड़ व सम्पूर्ण बनती है।
तब पत्थर में ईश्वर का वास होता है।

शिल्पी को सपना आता है -- उसकी छेनी पत्थर से टकराती है।
उसकी बनाई कन्दराएँ --
आकार
वह पूरा न होकर भी पूरा होगा और पूरा होकर भी अधूरा।
वहाँ गिरगिट का वास होगा।

पत्थर काटने पर गोलाकार रेखाएँ दिखेंगी।

निराकार से आकार

निराकार से उत्पन्न होता है आकार :
ध्वनि से लक्षण -
लक्षण से रूप --
रूप से भाव --
भाव से गुण -
गुण से क्रिया -
क्रिया से आचार -
आचार से उपाय -
उपाय से चेष्टा --
चेष्टा से मार्ग --
मार्ग से रूपण --
रूपण से प्रतिरूपण --
प्रतिरूपण से
प्रतिमा निर्माण

वह कलाकार जिसका सैद्धान्तिक ज्ञान उसके कौशल से ज़्यादा है उसकी कला समय के साथ ऐसे शिथिल पड़ जाती है जैसे कायर सिपाही युद्धभूमि पर। और वह कुशल शिल्पी जिसको सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं है वह एक ऐसे अन्धे आदमी की तरह हो जाता है जिसे कोई भी रास्ता भटका दे।

बीज को अपने मन की गुफा में ही तलाशना होगा।
बीज उसके हाथ में गिरता है।
उसकी मुट्ठी बन्द होते ही --
पोखर में कमल का फूल खिलता है।
कोई फुसफुसाता है --
ईश्वर वहाँ वास करता है जहाँ नदियाँ हों, कुंज हो, पर्वत हों, चश्मे हों, बाग हों।

तन्मयता

जैसे
वर्षा से
अन्न पैदा
होता है उसी तरह ध्यान
से तन्मयता।
तन्मयता से
मनुष्य
दिव्य की ओर अग्रसर होता है।

शिल्पी पेड़ के नीचे सोता है।
आकाश में एक पक्षी उड़ता है।
शिल्पी उठ खड़ा होता है।

उसे प्रतीत होता है --

जैसे उसे आज्ञा मिल गयी हो ।

ज्ञान

प्रतिमा के आकार के निर्माण के लिए छह अंगों का ज्ञान आवश्यक है :

शैलम
खिलपंजर
मरमाणि
शैलभेदन
अंगप्रयोग
सम्बन्धप्रमोदन

जब
यह सोचता है वह --
थैला खोलता है।
सामान निकालता है
दायरा बनाता है --
दायरे में तरह-तरह के आकार जन्म लेते हैं
त्रिकोण-षटकोण में जो बदला।
वह दिशा-भ्रमित होता है --
फिर वह बुदबुदाता है :

शैलम
खिलपंजर
मरमाणि
शैलभेदन
अंगप्रयोग ....

पानी व पत्थर

शिल्पी आँखे मूँदता है --
स्मरण करो
कि अनुरेखन न करने से आकार बिगड़ जाता है।
इनको अनदेखा करने से प्रतिमा त्रुटिपूर्ण हो जाती है।
जैसे कि
समस्त ब्रह्माण्ड सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में प्रतिबिम्बित होता है।
तत्वरेखाओं पर आधारित होने से रूप की आत्मा उजागर होती है --
उकेरी गयी प्रतिमा की भी।
शिल्पी आँखें खोलता है --

सामने
पत्थरों पर पानी के बहने की आवाज़ --
पानी पत्थरों पर निशान छोड़ता जाता है।
पानी व पत्थर धूप में चमकते हैं।

पत्थर का फूल

बिम्ब
के रूपों
से प्रतिमा
के अंगों
का जन्म होता है।

वृक्ष की जटाओं से पत्थर की मूरत झाँकती है।
उसके हाथ में पत्थर का फूल है।

पत्थर के हाथी पर पत्थर का शेर है।
पत्थर का कलश -- पत्थर की माला।
पत्थर का चुम्भन -
पत्थर के वाद्य-यन्त्र।
पत्थर के पक्षी
पत्थर के तोते -- पत्थर के कबूतर
पत्थर की मूरत के हाथ में पत्थर का फूल है।
पत्थर का भँवरा है।
पत्थर का रंग भी भँवरे जैसा है।
अरे यही पत्थर तो श्रेष्ठ है !

श्रेष्ठ

पाँच प्रकार के लोहे की छेनियाँ उत्तम मानी जाती हैं :

१. लांजी -
२. लांगली
३. गृढ़दन्ति
४. शूचिमुख
५. वज्र

वैसे ही यह शिष्य :
मैं तत्तपुरुष गांधार से।
मैं छड़योजात-कलिंग व मगध की श्रेणियों से।
मैं वामदेव काश्मीर के प्रमुख गणों में से एक
मैं भैरव -- दक्षिण के महान गुरूओं के कुल से --
जिनके आवास पहाड़ों की गुफाओं में है।

चेतना

धरती स्वयं दिव्य चेतना है --
छोटे से छोटे में भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाहित होता है।
हर किसी में हर कोई निहित है।
समस्त में समस्त निहित है।
प्रकाश व चेतना
वह मूल बिम्ब
जो
संसार के समस्त तत्त्वों में प्रतिबिम्बित होता है।

वह शिल्पी के मन में बैठा है।

किसी कस्तूरी मृग की तरह --

वह प्रकाश को ढूँढे।

पुशण के ज्वलंत पद-चिन्हों पर चलना आसान नहीं।

पहाड़ पर एक सोने की दिव्य भेड़ दिखती है।

उसकी चमक में शिल्पी को रात में राह दिखती है।

शिल्पी अचानक ठिठक कर रुक जाता है।

सामने चौराहे पर उसके औज़ार पड़े हैं --

और चार रास्ते।

पर उसको जाना कहाँ है ?

कौन सी दिशा है ?

कौन है वह ?

कौन है वो ?

जिसका आव्हान हुआ है ?

कौन है ?

कौन है ?

.....

मैं जहाँ भी रहूँ

मोनालिसा जेना की कविताएँ

ओड़िया से अनुवाद : दुष्यन्त

मुद्रा

एक बंगाली कवि वृक्ष की जड़ से
कविता का गठबन्धन कर रहे थे
शब्दों के किसलय...
कविता का अरण्य
भावों का मलयस्पर्श, कविता की छाया
सब बिखर जाएगा
बंजर ज़मीन पर
एक डलिया हृदय के फूल
कविता के

हाथ फैलाये बैठे थे उत्कल के एक शिल्पी-

मैंने कहा-
उन्हीं फूलों से सजाओगे
हमारी सन्ध्या
फूल भी सूने!
तुम मुझे फूलों से भी अधिक एक कोमल स्पर्श से
अवश कर गये थे
कैसे एक चाँदनी रात में!

तुम्हारे निपुण निहाण
बना रहे थे
पत्थर की दीवार पर
उस नृत्यरत मानसी की मनोमयी मुद्रा.. !

आँसू भरी रात

कल जो कह दिया था तुमने
भीड़ के बीच में
दोहराया था मैंने उसको
हज़ार योजन दूर
झरते हुए कदम्ब फूलों की कातर रात्रि में!

अनुभवी की तेज़ नज़र
ऐसे कैसे पा लेती है
इन्द्रधनुष जैसी शाखा
हिला देती है
और फूल बनकर झरता है
मेरे जीवन का सारा प्रेम?
सुने हैं वे स्वर मैंने
थर्राये भी मेरे पैरों के तलवे
मैं जानती हूँ वह कह देगा शेषकथा
अनदेखा करके मैं जो
छुपाऊँगी मेरी व्यथा।
जैसे कोमल नीरवता बोलती है
भरता जाता है मेरा आघात
और मेरी निसंगता।

लेकिन तुमने वचन दिया था
स्वप्न मेरा
दायित्व तुम्हारा

जो तुमने कहा नहीं
इसलिए
इतने मेघ आकाश में
स्पर्शकातर काया
क्या तुमने सोचा
मैं छुपी हुई हूँ
उन अँधेरों में,
तुम्हारी तरह
मैं भी क्या सब बातें कहती हूँ?

वह अन्तहीन हमारे आलाप की मरूभूमि
नहीं है क्या ये मृगतृष्णा?
मिलन की ईषत् कामना?
देखो तुम अब दिखायी देते हो
स्वप्निल की तरह खोयी हुई नींदों में...

कहा था तुमने
नहीं रहोगे पास मेरे
कल रात चाँद आया था शेष प्रहर में
उसने परख लिया था
आँसू थे! सारी रात।
वो नहीं था
पहले की तरह।

केवल तुम

अनभ्यस्त उँगलियों के छूने से नहीं छेड़ता
सितार सातवीं सिम्फनी

कुछ बातें रह जाती है
जो तुम्हें लौटा देती है
बीते हुए सारे दिन
और उनकी अपूर्ण आकांक्षाएँ ..

तुम भी गा सकते हो गीत
प्रथम लहर में
तुम कर सकते हो
तुम सब कर सकते हो
नदी की तरह
बाँध तोड़ कर
बना सकते हो अपना मानचित्र
तुम वही प्राचीन नाद हो
जो टूटता है खतरे के संकेत पर

केवल तुम्हीं पढ़ पाओगे
तालपत्र की पोथी की तरह
मेरी
निषिद्ध कविता।

प्रवाल, बालू, शून्यता
सब भीगा सकते हैं
एक उन्मादी सैलाब...।
केवल तुम्हीं समझ पाओगे
'कौड़ी खेल' का रहस्य

तुम्हीं लिख पाओगे
मेरे अनुराग का अन्तिम विज्ञापन।

सिमट रही हूँ मैं

कैसे कहूँ अब

डूब जाती हूँ, ये कैसी मादकता है
मेरा और है क्या
पंखुड़ियों से बनी देह
सुगन्ध से भरा मन
अचानक इश्तहार आकण्ठ तृष्णा का

जाओ तो!
सिमट रही हूँ मैं
बिना कह पाये
लाज रे लाज
अब तो जाने दो!

मैं तो जानती हूँ, तुम भी जानते हो
शेषकथा नहीं है और
वे तरंगे, विरल सानिध्य
पारसमणि जैसा स्पर्श
तुम्हारे हाथों में
बजती हैं निशब्द मेरे पाँवों की मृदु मन्द थिरकन !
मृदंग बजाये कोई
तुम्हारे मेरे शब्दों के बदले
कानाफूसी कर जाता है कोई

यह कैसा संगम अभी
यह कैसा बन्धन
संचरित हो जाता है
आँखें खुद नम हो जाती हैं
अब तो शिथिल करो
खोल दो ये पिंजरा
उड़ने दो-
जाने दो मुझे
अक्षत रूप में
सब कुछ पूर्ववत्
मिटा दो वे अनदेखे स्पर्श के निशान
सूँधने से भी
न मिलने वाली हो जैसे
तुम्हारी सुगन्ध
मेरे आँखों में न रहे तुम्हारी भाषा
या होठों पर तुम्हारा प्रलेप
अवश बाँहों से जाए
अवसन्न आलिंगन व्यथा।
जाओ तो!
न कहूँगी एक शब्द भी
नस-नस में तुम हो
आकण्ठ नशे में हूँ
राह ढूँढती हूँ मत्त अन्धकार में
संकोच से निःशब्द मैं।

यह कैसा 'पद्मतोला' !
किसका यह तारों भरा रेशमी ओढना

अनुच्चरित शब्दों में अब
संगीत की यह कैसी रागिनी ?
छू जाता है
अँगुलियों के स्पर्श मात्र से ही
निःश्वास के गम्भीर स्पन्दन में
फिर भी कहते हो तुम,
यह नहीं यथेष्ट ?
फिर कब, कहाँ मिले?
कुछ तो रहने दो अनदेखा!
रहने दो माया की तरह
किंचित अँधेरा
मेरा समझकर मिलने को
कुछ अपना सा... !

असमाहित

तुम्हारी निसंगता से
उदास हो उठता है मेरा हृदय
तुम्हें छूने को
हाथ बढ़ाती हूँ अनजाने में
देशान्तर रेखा के दोनों किनारों पर टूटती लहरें अविराम

सोचो तो!
अगर मेरे प्रेमी होते तुम
क्या वश में कर पाते सातकोसिया खाई के
अतल जल को?
पहाड़ भी झुक जाते हैं वहाँ

पंखहीन मेघमाला
पानी के नीचे, पत्थरों पर होते हैं शिथिल।

मैं भी तो नहीं कर पाऊँगी
बन्द मुट्ठी में तुम्हारे
समर्पित अपने आप को
एक ताज़े फूल की पँखुड़ियों जैसे!

अहर्निश झरते हुए उन
नदी-तटों के शिमूल के स्पन्दन जैसे
बहती फिरती हूँ
मैं भी अकेली-अकेली
घाटी-रास्तों के घुमावदार संकरे मुहानों में
कौन-सी कस्तूरी जलती है जठर में
मैं खुद भी नहीं जानती-

जानती हूँ तुम सारी रात
पाते मुझे, अपने पास
हृदय के गहरे सपनों में
जैसे अन्तर के मोती जैसा उज्ज्वल धागों में
मैं भी तो आ जाती हूँ, अपनी इच्छा से कई रात
खुद को भुलाकर
तुम्हें ढूँढती हूँ
नक्षत्रों के बीच, बड़ी व्याकुलता से।
सोचो तो!
अगर हम मिले होते
कभी नदी किनारे के अँधेरे में, निविड़ उन्माद में?
सम्भाल रहे हो रुद्ध श्वास को

क्या मिला पाती मैं
मेरी साँसों में वह उष्मा, वे इप्सित चाँदनी रातें?

तुम्हें उदास करके
आकाश में उड़ जाऊँ अगर
तुम भी कल्पना के काँचघर में मुझे पाते हो
स्वप्न के अनचाहे भग्नांश जैसा

अगर हम मिलते
सम्पूर्ण अजाने, अवांछित की तरह
दुर्लभ एकान्त में अस्वीकार कर बैठे एक-दूसरे को?

शायद मैं डूब जाऊँ
अतल खाई में
आँसू पोंछकर लौट जाओगे तुम
एक निष्ठुर संन्यासी की तरह
मेरी सलिल समाधि के एकमात्र साक्षी।

अगर हुआ विपरीत
तुम मेरे हाथ थामकर
रुक जाने को कहो
विपन्न सुबकियों से,
नीलमाधव की तरह आह्वान करते मुझे
अहोरात्र, प्रतिमुहूर्त!

तब भी नहीं कर पाऊँगी
नहीं रह पाऊँगी, कोई अंगीकार जैसे
रहो तुम नक्षत्र की तरह
मुझे अपने धूलधूसरित घर में
विलीन हो जाने दो!

मैं जहाँ भी रहूँ

तुम अगर प्यार नहीं करते मुझे कहो,
और कौन प्यार करता मुझे
तुम्हें याद नहीं क्या
सुपर मार्केट का वह कोलाहल
और लिफ्ट में जाते समय
धीरे-धीरे फीका होता जा रहा मेरा स्वर
तुम चीत्कार कर रहे थे
हमारी भाषा में
एक प्रार्थना जैसा माँग रहे थे
हमारे पुनर्जन्म की दीर्घ परमायु

सौ-सौ लोगों की अनवरत प्रवाहमान छवियाँ
पिघल जाती थीं छायाएँ
तैरते हुए आते थे चेहरे
कोई नहीं चाहता था एक नियमित वास-भूमि
सुपर मार्केट की मरीचिका में अन्ततः

अकस्मात् अनुभव हुआ तुम्हारा निश्वास
एक अस्थायी हिलोर जैसा
और घूम रहा था मेरे चारों ओर
जैसे कि तुम सोना चाहते थे
मरु-उद्यान के भीतर
और मैं वह मादकता-

जैसे कि मैं एक उपनदी
तुम्हारे लक्ष्यहीन राह के मोड़ पर
अन्तःसलिल सार्वकालिक सार्वदैशिक

तुम्हारी हथेलियों में बीज सब अंकुरित
तुम्हारी हज़ार उँगलियाँ
मुझे सराहते
मैं जहाँ भी रहूँ।

मात्र ४० दिन

मात्र चालीस दिन
एक-एक कदम
समर्पण का
गिन-गिनकर बीती हैं रातें
प्रतिपदा से पूर्णिमा,
फिर एक बार, दिशाहीन होने वाली रात।
शब्द कम हो जाते हैं
मुखरित होता है विश्वास।

चालीस दिनों के अर्धाहार
शुचिता और संयम के भीतर
जपमाला की तरह
तुम्हारी प्रतीक्षा
अष्ठ प्रहर।

चालीस दिन पश्चात्
तुम्हें मिलती हूँ
पाँव मेरे ज़मीन पर नहीं रहते
तुम उठा ले जाते हो मुझे
चक्रवात की तरह
मैं बदल जाती हूँ

आषाढ़ के कृष्णचूड़ा में।
चालीस दिनों के शुद्धिकरण
आँखों में स्फटिक-सी स्वच्छता
मैं पकड़ी जाती हूँ
अपनी सरलता से
तुम मेरा आदर करते हो
विनियम में।

अथवा, तुम नहीं रुक पाये
स्थितप्रज्ञ प्रतिमा की तरह
हृदय के ठीक नाभि केन्द्र में।

चाँद आता है
जाता है-
वर्ष के बाद वर्ष
शतभिषा[१] की मन्त्रित सन्ध्या में
उस एक दिन का उत्सव।
तुम अधिकार से मांगते हो
चालीस दिनों का विरह।

---

[१]शतभिषा - तारापुंज।

हिरेन भट्टाचार्य की कविताएँ

असमिया से अनुवाद : किशोर कुमार जैन, अपराजिता डेका

छाया

पेड़ से छाया
जैसे तैसे उड़ गयी
मानो कहीं चली जाएगी...

पेड़ से छाया
जैसे तैसे
उड़ गयी
मानो दूसरी छाया में मुँह डालकर कहेगीः

मेरी छाती रेगिस्तान है
हाथ रखकर देखो तुम को जला देगी।

पेड़ से छाया
पत्तों से छाया
छाया जमीन से
उड़ गयी है...

कौन-सा फूल खिला है

कौन-सा फूल खिला है? केतकी !
काँटों से फूलों को ढँककर पेड़ ने कहा,
तोड़ लोगे क्या?

फूल को तोड़ने का साहस क्या मुझमें है ?
फूल तोड़ने का साहस ?
काँटों भरे पत्ते काटकर फूल तोड़ने की वासना !

कौन-से फूल खिले हैं ? हवा में उड़ रहा है पराग...
और मैं?
दूर बैठा क्या चाहता हूँ ?

फूल की खुशबू ?
फूल की खुशबू!
सुनहले फूल की खुशबू!
कौन-से फूल खिले हैं? केतकी!

बसन्त का एक दिन

तुम्हारे शयनकक्ष से होकर
धूप के संग हाथ से हाथ मिलाते हुए, हवा
मेरे बहुत ही क़रीब आकर बैठ गयी, पीठ पर अंगुलि फिराते हुए,
मेरे कन्धे पर सिर रखकर दोनों हाथ फैलाये
चम्पक फूल की अधबुनी हुई माला :
आलोकित इन्द्रधनुष की तरह।

एक दिन शरद

सुखमय हरसिंगार की उड़ती हुई सुगन्ध, तुम्हारी निर्मल देह की
शरदमय सुनहली छाया, स्वच्छ तालाब के पानी का शीतल शब्द
मेरी देह के क़रीब से निर्विघ्न गुज़र जाती है...

हर फूल की महक में मेरी ही इच्छा है,
मानो मैं ही हूँ उसका स्रोत

मेरे भीतर का आदमी उड़ता है धूल की तरह
स्वर्णाभ पड़ोसी के उद्वेग के बीच से।

फिर देश

सारा देश
सारे देश की निद्राहीन आँखों के गझिन अँधेरे में
गरजता है इच्छाओं का मेघ
मेरे तेज़ कदमों से उद्वेलित देश,
देह के अन्त में फिर देश।

दुःसाहसी खून की कविता

आधी रात को नदी में गोता लगाकर धो आता हूँ तुच्छ दैनन्दिनता,
संकल्प-मन्त्रों से सजाता हूँ इच्छाओं का आनुष्ठानिक-अश्व
हवा में उड़ती है हर दिशा में मेरी दुःसाहसी खून की कविता।

तुमसे मुझ तक

तुमसे मुझ तक लौटने में
मुझे बहुत देर हो जाती है
सनिर्बन्ध अन्धकार से महकती हास्नाहाना की खुशबू
जब उड़कर आती है चुपचाप
उस समय तक मैं तुम्हारे क़रीब ही
रुका हुआ रहता हूँ।

मेरे स्वप्न में एक चंचल हिरण-शावक
सारी रात डोलता है।
लौटकर मैं जो नहीं आ सकता!

मेरे ये शब्द

सपनों के उद्यान को छूकर आनेवाले मेरे शब्दों में है जीवनधारा की सुषमा,
समय का घनिष्ठ उत्ताप, मेरी अपनी कोई खोज नहीं है,
मेरे अन्दर का मानो एक किसान, मैं शब्दों को जीभ से चखकर देखता हूँ,
किसका क्या स्वाद है, हथेली पर रखकर देखता हूँ, कितने गरम हैं,
मैं जानता हूँ शब्द मनुष्य की महान सृष्टि की तेजोदीप्त सन्तान हैं,
मैं सामान्य कवि,
कन्धा बदलते हुए ढोकर लाये हुए इन शब्दों में
मनुष्य का दयाहीन अनुभव है, इतिहास की निष्ठुर खरौंच।

असमिया से अनुवादक : किशोर कुमार जैन

ज्योति, वह ज्योति

मुझे उस संकीर्णता से
ऊपर उठाओ। तुम्हारे साथ गाने दो
तूफ़ानों का गीत, वज्रों का गान।

मृत्यु के इन हिम शीतल हाथों से
ढँककर रखे हुए हृदय को
एक मुट्ठी आसमान का आश्वासन दो।
घृणा और अविश्वासों से घिरा
संकीर्ण जीवन में आये :
साहस की प्रबल बाढ़।
थरथराती चेतना का अन्धकार प्रहर तोड़कर
तुम्हारे गीतों से ही करता हूँ ज्याति स्नान!

वो नदी

गुनगुनाती मधुमक्खी के झुण्ड जैसी
मेरे गाँव की वह नदी,

जिसकी मधुर लहरों में
भागता है मन मेरा बन्दी।
कभी
दैनन्दिन जीवन की तुच्छता के बीच भी
महसूस करता हूँ उस शीर्ण नदी की
सपनों की विस्तृति
अन्धे आकाश में भर उठती है
स्मृतियों की चाँदनी।

मेरे गाँव की वह लावनी नदी
लहर-लहर में लहर बनकर
बह रही है मुझमें
बहुत दूर से।

बसन्त का गीत

कल रात ढेर सारा कुहासा पड़ा था
पहाड़ी के नीचे
एक पक्षी ने सारी रात
गीत गाते हुए आकाश को रुलाया था।

सुबह,
पेड़-पौधो, पर्वत शिखरों में
वकुल फूल के जैसे
दाने-दाने-सी बर्फ़ गिरी थी

एक चिड़िया की
पुकार पर बसन्त आया होता तो।
उसके कोमल पंखों से
कुहासे को हटाया जा सकता तो।

नागरिक

निरुत्ताप ये जीवन, निर्लज्ज आशाओं में अन्धा।
टूटा हृदय अज्ञात भय से आच्छन्न। फिर भी
समय-शय्या में तलवार की चमचमाहट में
अब भी जल रही है एक पृथ्वी-
दिशाहीन हृदय का आश्रय।

कारखाने का काला धुआँ
एक दिन आकाश में बिजली जलाएगी
सड़क के पास के ये लड़के
जीवन के रास्तों में फूल खिलाएगें
यह बीमार नगर एक दिन
आकाश की ओर मुँह उठाकर देखेगा, आकाश इतना विशाल!
गहरी साँस लेकर कहेगा, हवा इतनी कोमल!
रोशनी में इस स्वर्ण-स्पर्श ने रोशन किया
मेरा अन्धकार हृदय। उद्दाम किया निस्तेज मन
जिस मन के स्तर-स्तर में चेतना का विद्युत विस्मय।

मेरा देश

मेरे जीवन का जीवन, मेरे गीतों के गीत, मेरा देश।
मेरा हर काम, मेरी हर चिन्ता इस देश के हृदय में रचती है
शस्य सुवर्ण भविष्य का स्वप्न। मेरे जीवन के रोम-रोम में
मेरे यौवन की कली-कली में उस स्वप्न का कल्लोल।
देश-देश में देश है। ऐसे बहुत देशों की गली-गली में
मैं घूमा हूँ। बहुत से मित्रों के साथ हाथों में हाथ डाल कर घूमा हूँ।
कभी सागर किनारे, कभी खजूर के नीचे, अथवा
पहाड़ी के नीचे क्षणिक विश्राम किया है।

मित्र के साथ दिल खोलकर मन की बात की है। उसके बाद फिर शुरु की है नयी यात्रा।
ऐसी बहुत-सी यात्राओं का अन्त था मेरा देश। जिसके हृदय की गरमाहट मुझे देती थी
प्रेम का आनन्द, यौवन का प्राचुर्य। जीवन का नया अर्थ।
इस देश की हर सुबह मेरे लिए छिपाकर लाती है ऐश्वर्य का विपुल सम्भार
हर शाम बहाकर लाती है स्निग्ध फूलों की सुवास। हर ऋतु मुझे दे जाती है जीवन का आशीर्वाद।

इस देश के लिए मैं जी रहा हूँ। इस देश के लिए मैंने
जीवित रहने का मैने वचन दिया है। सैनिक, मज़दूर, किसान
इन सब के बीच मैं हूँ-अपने देश के लिए।
अनेकता में एकता बनकर, विरोध के बीच समन्वय की सम्भावना बनकर मैं हूँ।
जीते-मरते, सोते-जागते, सपनों में इस देश का आह्वान मैंने सुना है
शत्रु-मित्र सभी को मैंने पहचाना है। उनका दिल मैंने विश्वास से जीता है।
शान्ति की विहंग जोड़ी को आंचल भरकर मैंने दिया है-
भण्डार से एक मुठ्ठी अनाज, प्राणों का एक-एक गान।
और तो मेरे पास कुछ नहीं है।
मेरा देश मेरे कल्लोलित की उत्ताल तरंगे मुझे ले जाती है गहन से गहनता तक आदर्श के कठिन पर्वत मूल तक...

अभिज्ञान

एक दिन रात को मैं घर के बाहर बैठा था।
मन और मस्तिष्क में निराशा का अक्लान्त आक्रमण।
चेतना का शरीर मेरी वेदना की चोट से
क्षत-विक्षत।
अचानक, कहीं से हवा के एक झोंके ने आकर
उध्वस्त मन के कक्ष में हलचल मचा दी
कुहासों से स्तमित आकाश में एक दो करके
झिलमिला उठा रुपहली चिड़ियाओं का एक झुण्ड।
शीत में थरथराता उनके पंखों में

किरणों का कितना अद्‌भूत स्पन्दन।
मैंने उस दिन महसूस किया था
एक वेदनाहत रात्रि के वक्ष में सोया हुआ प्राण सूर्य का उत्ताप।
और सुखी हुई डालों में बहता हुआ
दुस्साहसी पत्तों की प्रत्ययदीप्त हरी तरंग।

विषण्ण रात्रि का फूल

झिंगुरों की करुण पुकार से रात्रि जब निस्तब्ध होती है
विषण्ण- हृदय का दिशाहीन अन्धकार
तुम्हें जब ढूँढता है रात्रि के प्रान्त-प्रान्त में
चाँदनी के आँसू जब पेड़ के पत्तों-पत्तों से झरते हैं
तब मेरे मन के निर्जन स्तरों से
तुम्हारे शरीर की कोमल सुरभि उतर आती है
अकेले।
उस तन्द्राहीन अन्तरंग क्षणों में तुम्हारे तन की सुरभि
मुझे आच्छन्न करती है। जीवन का आंगन
फूलों से भर उठता है।

एक मित्र की उक्ति

कुछ देर पहले थोड़ी शराब पी थी
उसका नशा अभी भी है।
शायद इसी तरह
पूरी रात बीतेगी।

इसी तरह कभी-कभी पी लेता हूँ
और, उसका नशा मुझे ले जाता है
मन के उस निर्जन वन में

जहाँ
मैं खुद से बातें करता रहता हूँ
कभी भी किसी के साथ नहीं की हुई बातें।

कितनी सुन्दर थी वह रातें ।
तारों-तारों में नीले आकाश में
बातों की फुलझड़ी जलती है
रात का सुडौल शरीर
मेरे जीवन को नदी में धो देता है
शीतल सुललित जल से ।

कविताएँ

पूनम अरोड़ा

१.

तुम कहते हो, मैंने तुम्हें माँसभक्षी बनाया
मुझे लगा मैंने केवल खुद को तुम्हे सौंप दिया था
तुम जिह्व के भोगे हुए आनन्द थे
मैं सन्तुलन के तर्पण का पानी
हम अपने-अपने बीज थे !

न पुत्र हूँ मैं न पुत्री
पेड़ हूँ केवल
ईश्वर के घनत्व से उपजा
सिन्धु घाटी के जल से सुवासित
तद्भव और तत्सम शब्दों की लिपि
मेरा एकमात्र घर है।

२.

विराम
है समाप्त
मेरे उष्मा केन्द्र
जाग्रत होना चाहते हैं तुमसे

केवल तुमसे
मेरा आध्यात्मिक प्रेमी
मुस्कुराता है
एक प्राचीन सत्य के साथ
उसके भोग में
कोई अंश नही दुनिया का
मैं भी
उसकी आत्मा के सीने पर
पैर रख उतारती गयी
अपनी मासूमियत
तर्क
बिखराव
स्मृतियाँ
सम्बन्ध
और देह

बहुत समय बाद वह पूरे चाँद की रात थी।

३.
अभी-अभी मेरे दो टुकड़े हुए हैं !
मैं अपने सन्तुलन में
तराजू की नोक जितनी लड़खड़ायी हूँ
मेरे दृश्य, समझ और अहं भी
विभक्त हो गये हैं
क्या किसी विषैले वन्य जीव की आँतों की लिसलिसाहट है यह?

या दर्शन की कोई पाश्चात्य दुःसाहसी विडम्बना !
रंग की भी अपनी धुन होती है !
जिन दिनों मैं रक्तिम पलाश के फूल चुनती थी सड़कों से
उन दिनों महावर और बिछुए उतार दिये थे मैंने।
अब जब नीला रंग मेरे कण्ठ में उतरा है
उसके साथ चेरी ब्लॉसम की नाज़ुक कलियाँ
मेरी रीढ़ की सीधी रेखा पर
कोई प्रेम कहानी बुनना चाहती है।
इन दिनों मैं बेमतलब मुस्कुराती हूँ
बेमतलब क्रोध करती हूँ
बेमतलब अपने बचपन के प्रेमी को याद करती हूँ
जिसने मुझे रात के समय खिड़की से पुकारा भर था।
उस समय मैं स्ट्रॉबेरी जैम बना रही थी
और शक्कर की जगह
गाँव से मँगवाया गुड़ डालने के बारे में सोच रही थी
मेरे पिता ने सबके सामने उसे दो थप्पड़ लगाये
मैं कितनी अनजान थी प्रेम की भाषा उन दिनों
वो शायद बसन्त का मौसम रहा होगा
लेकिन स्मृति पर ज़ोर डालने से
वह पतझड़ का मौसम लगता है।
अब मैं अपने घर की चाबियाँ
कही भी रख कर अक्सर भूल जाती हूँ
पीछे मुड़ कर देखती हूँ
तो बन्द घर की जगह
सूखा खलिहान दिखायी देते हैं।

मेरे दोनों टुकड़ों में ध्वस्त शोरगुल
अपनी-अपनी दुनिया के कोनों में पड़ा
ईश्वर की आँख बनना चाहता है
लेकिन किसी भी टुकड़े को
अब स्ट्रॉबेरी जैम बनाना नहीं पसन्द।

४.
हे पार्थ !
आँखें खोलो
देखो सन्ध्यातारा
रक्त नमक नहीं होता
जो अपनी आवृति नष्ट कर देगा रेत में
वह देर तक खौलेगा मृत देह में।
देर तक उसका ताप रहेगा धमनियों में।
कुछ सियार भटकेंगे मृत देहों की सुगन्ध पाकर
कुछ भेड़िये नोचेंगे बचे हुए स्वप्नों को

हे पार्थ !
जाता नहीं कुछ कहीं भी
न समाप्त होता है कभी युद्ध
जीवन अक्सर पीड़ा देता है
और अस्त्र भी
देखो उस लहू की धार को
उन कटे अंगों को
उन जुबानों को

जो निकली पड़ी हैं अन्तिम प्यास से।
लेकिन यह साँझ है
और माँओं के चूल्हे गर्म
सन्तोष के कौर ग्रहण करना।
अपने आशीषों पर विश्वास रखना।
अगर जन्मे कोई ग्लानि
एकलव्य के अँगूठे की पीड़ा बनना।
उस छल को याद करना
जिसे द्रोण ने गुप्त साधना के बदले एकलव्य से लिया।
यह निश्चित है।
कोई युद्ध कभी समाप्त नहीं होता।
न धूमिल होते हैं इतिहास में दर्ज कुछ दृश्य।
न समाप्त होते हैं कुछ प्रसंग।
न धुँधले होते हैं कुछ प्रतिबिम्ब।
कुछ तीर तुम्हारे भी हृदय पर घात करेंगे।
कुछ शंकाओं से तुम्हारे पुत्र अभिशप्त हो जायेगें।
तुम्हारी गरजती ललकारों का सूर्यास्त
उस पतन का सूचक होगा
जिसमें ग्लानि के अभियन्ता केवल तुम बनोगे।

हे पार्थ !
कठिन है सर्वथा
अपने ही अहंकार को नष्ट करना।
और भी कठिन है उससे धर्मयुद्ध जीतना।
सरल है कुन्ती पुत्र अर्जुन होना

पर कठिन है
उसी गर्भ से कर्ण होकर जन्म लेना।
सरल है
अनैतिक सर्वनाश पर मुग्ध होना
लालसा के लाक्षागृह में एक संकोची कमल खिलाना।
और उससे भी सरल है
हर युग के अभिमन्यु के लिए चक्रव्यूह की रचना करना।
युगों के दीर्घ-स्वरों में
अब युधिष्ठिर सीख चुके हैं अमर्यादित होना।
भूल चुके हैं उस झूठ पर नेत्र झुकाना
जिस झूठ पर धर्मयुद्ध का सारांश लिखा गया।
जो युग-पुरुषों की जिह्व पर
अपने पुण्यों की विजय-गाथा कहता रहा।
भेस बदल चुके अर्जुन के सारथी।
और युद्ध हो चुके बिन हथियारों के।
लेकिन आज भी प्रलय के बाद बचे मानव श्रापित हैं।
और शायद तब तक श्रापित रहेगें
जब तक कोई एक प्रश्न अस्तित्व से ऊपर नहीं उठ जाता।
जब तक
दुर्योधन अपनी जंघाओं के
वज्र होने के तिलिस्म को त्याग नहीं देता।
निश्चित है
कोई युद्ध कभी समाप्त नहीं होता।
न शीतल हो पाते हैं कुछ रक्त।
और न भूले जाते हैं कुछ अपमान।

देवता गन्ध का अनुसरण करते हैं
त्याग करते हैं प्रायोजित अशुद्धियाँ।
किसी गर्भ में हुई हलचल का उन्हें भान होता है
भान होता है उस वीर्य का भी
जो स्निग्धता खो चुका होता है।
हर जन्म यहाँ उत्सव है।
और मृत्यु संस्कार।

हे पार्थ !
उठो अपने आचरण में।
यदि लक्ष्य-संधान को आतुर हो।
किसी असन्तुलित योजना के बल पर
कोई दुर्ग नहीं टिकता है।
न ध्वस्त होते हैं
मृत्यु तक पहुँचाने वाले विष-बाण।
करना है विद्रोह
तो त्याग दो कवच अपनी अस्थियों पर से।
त्याग दो अपने प्रेम-पात्रों की स्तुतियाँ।
त्याग दो युद्ध के मध्य यह कहना :
'मारा गया अश्वत्थामा'

५.
एक रात के अलाव से निकले लावा ने
अबोध स्त्री के माथे पर शिशु उगा दिया
वह जब-जब रोया

अकेला रोया।
अबोध स्त्री के हाथ अपरिपक्व थे और स्तन सूखे।
किसी बहरूपिये ने
एक रात लम्बी नींद स्त्री के हाथ पर रख एक गीत गाया।
शिशु किलकारी मारने लगा।
देवताओं ने चुपचाप सृष्टि में तारों वाली रात बना दी।
गीत गूँजता रहा सदियों तक।
अबोध स्त्रियाँ जनती रहीं
कल्पनाओं के शिशु
और बहरूपिये पिता सुनाते रहे
समुद्री लोरियाँ।

६.
तुम्हे लौटना होगा !
अपनी यौन इच्छाओं के साथ
व्याकुल देह को रिक्त कर
मुझसे विरक्ति के बन्धन का निर्वाह करना होगा।
क्यों तुम मेरी मादक आत्मा की राह में खड़े हो?
उतर जाओ उन खाली सीढ़ियों से।
अपने डूबते हृदय को सम्भालो।
सुन !
जासूसी उपन्यास पढ़ने वाले,
मैं एक गौरैया हूँ
मेरे स्वर में मधु है ताजा और सुगन्धित
मैंने हत्या की है उन छोटे प्राणियों की

जिन्होंने मेरे स्वर को इतना तल्लीन बनाया है।
करनी पड़ी हत्या
क्योंकि उनका प्रेम मुझे डसता था।
पर मैं कसम खाती हूँ
मुझे दुःख हुआ था
बस उतना ही जितना तुम्हारी हत्या करने में होता।
तुम्हारा संहार कर मुझे तृप्ति मिलेगी।
मैं सच कहती हूँ।
हुगली नदी का जादुई जल मेरे हाथ में है।
उस जल की सौगन्ध।
बताओ किस रीति से हत्या करूँ तुम्हारी?
क्या बर्बाद कर दूँ तुम्हारी उम्र?
या किसी बंगाली बाबा से पुड़िया ले आऊँ ?
कि तुम्हे खिला सकूँ मिष्टी दोई और चाय के साथ ?
मैंने गिरीश घोष से जड़ी-बूटी खरीद ली है।
तुम्हारे यौनिक भूत की पिपासा का अन्त करने के लिए।
उसने पान खाते हुए मुझे सब विधि समझायी;
प्रेम का अर्थ गहन है
भूत की लकड़ी के तन्त्र से कहीं ज़्यादा गहरा और असरदार।
इस लकड़ी का काढ़ा कड़वा होता है थोड़ा
तो तुम अपनी जिव्हा की नोक से चखना
और अपने स्वर का मधु मिला देना।
हत्या के बाद मुझे सच में कोई ग्लानि नहीं हुई।
खाती हूँ तुम्हारी कसम।
मेरे भटकते प्रेमी !

तुम्हारी सूनी आँखे सदा रहेंगी मेरी स्मृति में।

७.

मुझसे कहा गया 'धर्म पर विश्वास रखो'
मैंने पूजा-पाठ त्याग दिये।
और छोटे पौधे रोपने लगी जगह-जगह।
मुझे नास्तिकों की मित्रता से दूरी के संकेत दिये गये।
मैंने दार्शनिकों की किताबों से अपना कमरा भर लिया।
और बिल्लियाँ पालने लगी।
जो लोग दुविधा में जीते रहे
पुरुष में स्त्री और स्त्री में पुरुष को महसूस करते हुए
वे मुझे मौलिक और सैद्धान्तिक नागरिक लगे देश के
जबकि मैं रात को सोते समय
अक्सर अपने ही अस्तित्व से डर जाया करती थी।
मैं स्त्री हूँ !
यह बात कई अलग-अलग अवसरों पर पता चली मुझे।
लेकिन एक दिन
मैंने आँखों में चुभती
हिंसक, क्षुद्र और अनैच्छिक चुप्पियाँ तोड़ दी।
छोड़ दिये अखबार पढ़ना
और इस बात पर भरोसा करना
कि प्रेम केवल हृदय में होता है
ऊब की कुंजियों में नहीं !
अब मेरे पास बहुत विकल्प है।
केवल एक विकल्प त्याग दिया है मैंने :
स्त्री होना !

८.

हवा में बहती
एक गन्ध
जो स्थगित कर देती है तुम्हारी निर्वसन स्मृतियाँ।
कि तभी अचानक याद आ जाता है मुझे
हमारा प्रथम सहमा और सकुचाया संवाद
और उस संवाद के बीच में किसी और स्मृति का आ जाना।
स्मृति में वह हाईवे भी आता है
जिस पर भूलवश मेरी गाड़ी का स्टेरिंग घूम गया था।
स्मृति का यह टुकड़ा तुम्हारे शहर के साथ चलते
रेत के टीलों से अभिन्न प्रेम रखता है।
अस्थिर स्मृतियों में तुम्हे देखने से कब रोक पायी मैं खुद को।
मोरोकन चाय पीते हुए
जब तुम सुनते थे जॉर्ज माइकल के गीत
उस समय मैं स्मृतियों में
नीले आकाश के खालीपन को ढूँढ रही होती थी।
और तुम्हारी मेरी नाभि छूने के अविरल संकेत पर
मैंने बुन ली थी मन में एक टूटी-सी कविता।
स्मृतियों की सृष्टि कितनी सघन होती है
कि दृष्टि और दृश्य में मेरे केश अब तक खुले हुए हैं रागों से।
अनन्त अन्धकार में
मैंने एक दिन बाँध दी थी सब स्मृतियाँ
अपनी बिल्लियों के गले में।
अब मैं हवा हूँ
किसी भी अर्थ में ध्वनि नहीं, मेघों की।

९.

मैं अपने दोष गिनने बैठी
तो आसमान की सारी चिड़ियाँ एक स्वर में रोने लगीं।
जबकि धरती के नीचे
फूलों के पौधों की जड़ें लोरियाँ बन रही थीं।
क्या आपने देखा नहीं ?
सारी चिड़ियाँ अपने घरौंदे इन्ही लोरियों से बनाती हैं।
और दोषी लड़कियाँ
उन चिड़ियों की आँखों से झरती हुई
धरती के हर कोने में जंगली फूल-सी उग आयी हैं।
क्या वाकई आपने देखा नहीं?

१०.

स्मृतियों का एक पूरा जंगल उग आया है मुझमें।
एकदम ताज़ा !
और उतनी ही हलचल भरा
जितना कोई निराश प्रेमी हो सकता है
अपने एकान्त के क्षणों में।
जितने मूर्त हो सकते हैं परजीवी मृत त्वचा पर
और जितने अमूर्त हो सकते हैं
प्रेम दिवस के हमारे प्रगाढ़ चुम्बन।

एक आदमकद आईने में
एक बार खुद को देखा था बहुत गौर से
देखते-देखते मालूम हुआ

कि मुझमें सीढियाँ हैं बहुत से दुखों की।
जिनके दैत्य मुझे न कोई सांत्वना देते हैं
न चाँदनी की शीतल चाशनी।
इसलिए मैं डूबती जाती हूँ
अपनी उत्तेजना के कवच में।
ठण्डी होती जाती हूँ
बर्फ़ का फूल की तरह।
मेरे जिस्म पर उगी आँख भी
स्वप्न में खून बहाती है
और वो जम जाता है मेरी गर्म मुट्ठियों में।
मेरा स्वप्ननायक मार्क्स की विचारधारा में औंधे मुँह गिर कर लहूलुहान है।
किसी प्राचीन लड़ाई का अन्त वह टुकड़ों में करना चाहता है।
बुद्धम शरणम गच्छामि के खण्डरों में भटकते हुए।
एक पल रुक कर मैं देखती हूँ
उसी आदमकद आईने में।
जब लॉंग वॉक हॉक स्ट्रीट पर पहली बार
अचानक और बेपरवाह हुए
मेरी सहमी पीठ पर
तुम्हारे हाथों की कम्पन ने मेरी आत्मा को बेतरतीब किया था।
उस कम्पन की आँखें अभी तक नहीं झपकी हैं।

११.
यह विवादास्पद हो सकता है
कि देह का आकर्षण किसी से हो
और मन का किसी से।

स्वप्न किसी के आयें और तृप्त कोई और करे।
नदी ने कब जाना
अपना मन।
समग्र होकर भी चेतना कब बँधी है
और
कब रुका है यह भयावह लेकिन आलौकिक नृत्य।
इस एक देह में
कितनी देहें बसीं हैं कल्पनाओं कीं।

१२.
मैं जब भी सोचता हूँ
उसी आदम चेतना से सोचता हूँ
जिसमें लहू का एक कतरा भी
अपनी दाढ़ी नही खुजाता।
पैरों के नीचे की ज़मीन सरकती है
तो सरकने दो।
ये गर्म खून की बूँदों का उफान है।
और मेरी आदत का पिंजरा भरा है।
मैं आदमी की जात हूँ
यही जताना चाहता हूँ।
मैं एक काग़ज़ हूँ
बेतरतीब हूँ अपनी जेबों की तरह।
मैं खाली हूँ अपने जूतों में
कड़वे संघर्षों की तरह।
एक तरसा हुआ जलसा हूँ

भड़की हुई आग हूँ।
मसान की दहकती दुर्गन्ध
तपते जून की पीली घास हूँ।
मेरे कोष्ठकों में बन्द है
शंकराचार्य के आसन में भूलवश आया अहम्
मेरी माया में बेचैनी है सुलगती।
मैं त्रस्त हूँ उस प्यास के लिए
जिसके खाँचों में अनेक तस्वीरें बन्द है।
मैं त्रस्त हूँ उस तस्वीर से
जिसको पी सकूँ घूँट-घूँट।
मैं आदिम हूँ।
मैं आदमी हूँ।
मैं आदिम की जात हूँ।
यही जताना चाहता हूँ।
मैं जब भी सोचता हूँ
उसी आदम चेतना से सोचता हूँ।

आख़िरी दावत

ख़ालिद जावेद

अनुवाद : डॉ. रिज़वानुल हक़

मैं पहाड़ियों से लाशें उतार लाया हूँ,
तुम्हें बता सकता हूँ कि दुनिया रहम से खाली है,
और सुनो, अगर खुदा ही रहम से खाली हो,
दुनिया में भी रहम नहीं हो सकता।

यहूदा अमीखाई

सबसे पहले मुझे ये इजाज़त दें कि मैं आपको बता सकूँ कि इस कहानी के तमाम किरदार और घटनाएँ काल्पनिक हैं और अगर दुनिया में मौजूद किसी किरदार या होने वाली किसी घटना से उनकी किसी भी किस्म की समानता साबित होती है तो उसके लिए कम-से-कम मैं ज़िम्मेदार नहीं हूँ।

मगर मुझे एक मुखौटा चाहिए। सच बोलने के लिए।

और इस तरह ये कहानी मेरे या आपके नैतिक जीवन में दाखिल होती है। लेकिन मैं आपसे ये कह दूँ कि कहानी की सच्चाई किसी अदालत में नहीं, जबान की अन्दरूनी दुनिया में अपनी शर्तों पर ही हलफ़ उठा सकती है। ये एक किस्म का बड़बड़ाना है। मद्धम और धीमे लहजे में बड़बड़ाना। दूसरी बात ये कि मेरे अन्दर इतना नैतिक साहस कभी नहीं रहा कि मैं किसी सूरते हाल या शख्स पर व्यंग कर सकूँ। इसलिए अगर कहानी को पढ़तें वक्त कहीं-कहीं व्यंग का गुमान हो, आप उसे व्यंग न समझ कर व्यंग का भ्रम ही समझें।

मुझे इस सूरतेहाल से बाहर आये एक अरसा गुज़र चुका है। अब ये उस सूरतेहाल की याद भी नहीं है बल्कि उस याद की याद है। बारिश में भीगते एक फ़िल्मी पोस्टर की तरह। इस तरह कि अब उस सूरतेहाल के नैन नक्श और भंगिमाएँ बहुत कोशिश करने पर ही नज़र आ सकती हैं बल्कि यूँ कहना चाहिए कि उनके बारे में सिर्फ़ अंदाज़ा लगाया जा सकता है। हालाँकि उस सूरतेहाल के बाद जो कुछ हुआ उसकी एक-एक तफ़सील मेरी आँखों के सामने है। एक जमे हुए मंज़र की तरह। मुर्दा और खामोश मंज़र। मगर इसमें मेरी दिलचस्पी नहीं

है। मैं तो दरअस्ल जिस सूरतेहाल के बारे में बात करना चाहता हूँ, उसमें सच कहूँ तो कोई वाकेया सिरे से था ही नहीं। वहाँ सिर्फ़ एक एहसास था जो मेरी पीठ पर गंदी और लिजलिजी छिपकली की तरह चिमटा हुआ है। एक वहम या अपशगुन की तरह और जिसे झटक देने के लिए ही मैंने ये कहानी कहने का इरादा कर लिया है। मगर जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, इंसान को सच बोलने के लिए एक मुखौटा चाहिए। ख़ासतौर से मेरे लिए सच्चाई बयान करना इसलिए और मुश्किल-सा मालूम हो रहा है कि अगर वो हालात एकदम आमतौर के न थे तो फिर उनकी सरहदें मज़ाकियेपन से खुद को कतई तौर पर महफूज़ कर लेने में नाकाम रही थीं। ऐसी सूरत में मज़ाकियापन और उसकी बेरहमीं आपस में इस कद्र गड्डम और घुल-मिल जाती हैं कि दोनों को अलग-अलग करके देख सकना बेहद जान खपाने और पसीना बहाने वाला काम है। और इस कोशिश में मैं अपने होशो-हवास पर ज़्यादा भरोसा नहीं कर सकता और अपने व्यवहार के सिलसिले में तो बजा तौर पर असन्तुलित ठहराया जा सकता हूँ, इस कमज़ोर-से कारण के बाद भी, कि अब हमारा हीरो और मसख़रा एक ही शख़्सियत में गुम हो चुका है और उसकी कोई अपनी समाजी पहचान बाकी नहीं रही है।

अब देखिये मैं अपनी तरफ से हरगिज़ ठोस अहसासों को अमूर्त रूप देने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ, ये ज़रूर महसूस कर रहा हूँ कि किसी अनदेखी ताकत के तहत ये अहसासात अमूर्त बनते जा रहे हैं। ऐसा क्यों हो रहा है, मैं भी नहीं जानता।

मगर अब इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता भी तो नहीं है। मुझे अपनी याददाश्त का पीछा करने के अलावा कोई चारा नहीं बचा है। मैं एक बेचेहरा भूत की तरह अपनी याददाश्त को फिर से पकड़ने के लिए भटकता फिर रहा हूँ। इसके लिए जगह-जगह मुझे बीचा का चेहरा लगाना पड़ सकता है। आप जानते हैं ना कि बेचेहरगी हर भूत का मुकद्दर नहीं। मैं नहीं जानता कि मेरी ये भिनभिनी सी आवाज़ कब तक ज़िन्दगी से अपने हिस्से की रोशनी माँगती रहेगी।

'आप के पास माचिस होगीं ?'

यकीनन अगर ज़िन्दगी ने पीछे मुड़कर देखा तो पत्थर की हो जायेगी।

तो ये दरअस्ल अपने हाफिज़े के पीछे मेरी ही दौड़ है। एक जंग की तरह ये एक दूसरा रास्ता है। अपनी निजी और उदास बदशगुनियों से भरा हुआ रास्ता। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है वह शाम इन्तेहाई ठण्डी मगर जाड़ों की आम शामों की तरह अँधेरी-सी या अपने बिल में दुबकी हुई-सी नहीं थी।

'आज भी चाँदनी रात होगी।' मैंने दिल में ख्याल किया था। अँधेरी चक्करदार गलियों में से गुज़रता हुआ जब मैं उनके घर के दरवाज़े के तकरीबन सामने पहुँचने ही वाला था तो अचानक बिजली आ गयी। कतार से

बने तकरीबन एक जैसे घरों की दीवारों के निचले हिस्से पर बने हुए संडास रोशन हो गये। गली को बीच से काटती हुई नालियों में काला पानी चमकने लगा।

टीन के किवाड़ मेरी दस्तक से ग़ैर मामूली तौर पर बजने लगे। खिड़की का एक पट थोड़ा-सा खुला। काले मफ़लर में लिपटा उनका चेहरा थोड़ा-सा बाहर आया, फिर पट ज़ोरदार आवाज़ के साथ बन्द हो गया।

अन्दर हल्की-सी हलचल महसूस हुई जैसे कोई मेज़ या कुर्सी फर्श पर इधर से उधर खींची गयी हो। टीन के किवाड़ खुल गये।

'आओ-आओ, कहाँ रह गये थे ?' काले मफ़लर में लिपटे उनके ग़मज़दा और गम्भीर चेहरे पर दो आँखें अफ़सोस से भरी थीं।

मैंने अपना हाथ उनके हाथ से मिलाने के लिए आगे बढ़ाया। मगर तब ही मैंने गौर किया कि उनके दोनों हाथ किसी चीज़ में सने थे। जिनको वह जानबूझ कर कपड़ों से अलग किए हुए थे। मैंने अपना हाथ पतलून की ज़ेब में डाल लिया और उनके बैठकनुमा कमरे में दाखिल हो गया। वहाँ तख्त पर खाना लगा हुआ था। हम दोनों के दोस्त (जो ग़ज़ल के बहुत उम्दा शाइर हैं और अब आगे कहानी में मैं उन्हें ग़ज़ल गो कहकर मुख़ातिब करूँगा) चमड़े की काली जैकेट पहने खाना खा रहे थे। ग़ज़ल गो का चेहरा हमेशा रूखा और उदास रहता है। सर्दियों में उनके चेहरे की ये ख़ासियत और बढ़ जाती है।

मफ़लर में लिपटे अपने चेहरे को एक बार आस्तीन से पोंछते हुए घर के मालिक ने कहा : 'बस जल्दी से आ जाओ।'

'क्या बात है ? आप लोगों ने इतनी जल्दी शुरू कर दिया ?' मैंने घड़ी को नाखुशगवारी से देखते हुए कहा।

'अरे भाई... हम लोगों ने अभी-अभी खाना शुरू किया है। काफ़ी देर से तुम्हारा इन्तज़ार कर रहे थे। बल्कि ये तो आधे घण्टे पहले तुम्हें घर से लेने भी गये थे, मगर तुम घर पर थे ही नहीं।'

ग़ज़ल के शाइर ने बड़ी सज्जनता से सफ़ाई दी। 'मगर जनाब अभी तो आठ बजे हैं। नौ बजे से पहले ही रात के खाने की कल्पना भी नहीं कर सकता। मुझे तो अभी-भी बिल्कुल भूख नहीं है।' मैं पशो-पेश में पड़ते हुए बोला।

'नहीं, तुम समझे नहीं। बस आओ बैठ जाओ। ये लो रकाबी।'

घर के मालिक (ये नज़्म के बहुत उम्दा शाइर हैं) ने अफ़सोस के अन्दाज़ में कहा। वह जब मफ़लर बाँधते

हैं तो उनका चेहरा हद से ज़्यादा ग़मग़ीन नज़र आने लगता है। मगर आज ग़मग़ीनी के साथ-साथ उसपर रहस्य के आसार भी नुमायाँ थे।

मैं आज रात यहाँ एक दावत पर बुलाया गया था। ये दावत इस सिलसिले में दी गयी थी कि उनकी नज़्म एक बड़ी साहित्यिक पत्रिका में छपी थी। नज़्म में मुल्क के प्रतिकूल हालात को बड़े नाटकीय अंदाज़ में पेश किया गया था और मेरे ख़्याल में ये नज़्म बयानिया शाइरी की एक अच्छी मिसाल थी। इस दावत के सिलसिले में दो बातें बताना ज़रूरी है।

पहली तो ये कि ये दावत हमारे साझा दोस्त (जो ग़ज़ल के बहुत उम्दा शाइर हैं) के बेहद इसरार पर आयोजित की गयी थी और दूसरी ये कि ये दावत एक बहुत ही पारम्परिक किस्म के खाने पर आधारित थी। इस पारम्परिक किस्म के खाने की लोकप्रियता सर्दियों में बढ़ जाती है। इस खाने के बहुत-से बल्कि सभी हिस्से बड़ी-बड़ी हड्डियों पर आधारित हैं। मैं एक बात ज़ोर देकर कहूँगा कि इस खाने के दौरान आप इन बड़ी-बड़ी हड्डियों को हरगिज़ नज़र अन्दाज़ नहीं कर सकते, हरगिज़ नहीं।

इतनी जल्दी खाना खाने का मेरा कोई इरादा नहीं था। मैं कई लोगों से मिलकर और वहाँ बाक़ायदा नाश्ता वग़ैरा करके यहाँ आया था। मेरा पेट भरा हुआ था। मैं तो सिर्फ़ इसलिए अपनी समझ से यहाँ जल्दी पहुँच गया था कि खाने से पहले उनकी नज़्मों और उनकी ग़ज़लों और अपने अफ़सानों पर (हालाँकि अफ़सानों पर आखिर में) पर बातचीत करने का मौका मिल जायेगा। ये तो है कि बातचीत हमेशा की तरह कुछ घिसी-पिटी और सुनी-सुनायी बातों पर ही आधारित रहती है। फिर भी बिल्कुल बातचीत न होने से बेहतर एक घिसी-पिटी बातचीत ही है। जी हाँ और आप ये बात फख्र के साथ कह सकते हैं बल्कि बहुत मशहूर वचन के बराबर में शान से लिख सकते हैं जो कुछ उस तरह है या इससे मिलता जुलता है। फिलहाल मैं इसे सही तौर पर याद नहीं कर पा रहा हूँ। 'ये बेहतर है कि तुम एक अतृप्त और ग़मज़दा सुकरात बन जाओ, बजाय इसके कि तुम एक तृप्त और नशे में डूबे हुए सुअर बन जाओ।'

हम सुअर नहीं बनना चाहते हैं। जी हाँ हमारी सारी दिमाग़ी कोशिश दरअस्ल इस बिन्दु में छिपी है कि हम एक अतृप्त और ग़मज़दा सुअर बनना नहीं चाहते।

मगर आगे चलकर आपको इस अफ़सोसनाक बात के बारे में पता चलेगा कि हमें बातचीत करने का मौका ही नहीं मिल सका। मगर ये उस बातचीत का जोश ही था जो मैं बहुत तेज़-तेज़ चलता हुआ इन अंधेरी चक्करदार गलियों से गुज़रता हुआ यहाँ तक पहुँचा था।

जब मैं तेज़-तेज़ चलता हूँ तो मेरे कन्धे आप ही आप झुक जाते हैं।

मगर आप खुद समझ सकते हैं कि मुझे कितना बुरा लगा होगा कि जब मैं उनके बैठकनुमा कमरे में दाखिल हुआ तो घर के मालिक और ग़ज़ल के शाइर दोनों बाकायदा खाना खा रहे थे बल्कि खाना खत्म कर चुके थे।

मैं कुछ कशमकश में पड़ता हुआ तख़्त पर बैठ गया।

'जूते उतारों और सम्भल कर बैठ जाओ। ये लो रकाबी।' घर के मालिक ने अपनाइयत भरे लहज़े में कहा।

मैंने जब जूते उतारे तो एक नागवार बू कमरे में फैल गयी। सर्दियों में मेरे पैर बहुत पसीजते हैं।

'दरअसल बात ये है कि...' वह बहुत राज़दाराना लहजे में मेरे कान के पास अपना मुँह लाये '...कि उनकी हालत आज शाम पाँच बजे से बहुत खराब है.... तुम मेरा मतलब समझ रहे हो ना? किसी भी वक़्त कुछ भी हो सकता है।'

'अच्छा...?' मैं बेवकूफ़ी भरे अन्दाज़ में बोला हालाँकि उनके लिए या उस बात के लिए ये मेरा सबसे ज़्यादा गम्भीर अन्दाज़ था।

'हाँ' उन्होंने सर हिलाया और मफ़लर में लिपटे उनके चेहरे की ग़मग़ीनी कुछ और बढ़ गयी।

'इसीलिए हमने देर नहीं की।' ग़ज़ल गो ने खाना ख़त्म करके पानी का कटोरा होठों से लगा लिया। कटोरा ताँबे का था। वो हमेशा ताँबे के कटोरे में ही पानी पीते हैं। इससे उनके खून का दबाव ठीक-ठाक रहता है।

'बस शुरू करो। लो ठीक से सालन निकालो। अब देर मत करो। वो कभी-भी... मेरा मतलब है कि. ... मर सकती हैं।' घर के मालिक ने सफ़ेद तामचीनी का खूबसूरत डोंगा मेरी तरफ़ बढ़ाया। डोंगा छोटी-बड़ी और अलग-अलग शक्लों वाली हड्डियों से लबालब भरा था।

'वह कभी-भी मर सकती हैं।' मैंने एक बार अपने दिल में दोहराया और फिर खाने पर टूट पड़ा।

अब कमरे में तकरीबन सन्नाटा था। सिर्फ़ दीवार पर लगी घड़ी टिक-टिक कर रही थी। वो दोनों तख्त से उतर कर सामने पड़े सोफ़े पर बैठ गये थे और उन्होंने अपने-अपने सिगरेट सुलगा लिये थे। मैं तख्त पर पालती मारे बैठा था। मेरी तंग पतलून कमर और पेट पर फँस रही थी। (इधर कुछ माह से मेरी तोंद फिर निकल आयी है।) मैं बेतहाशा खाये जा रहा था और ये यकीनन एक हैरतअंगेज़ बात थी। एक समझ ना आने वाली बात। उनकी जुबान से ये जुमला सुनते ही कि वह कभी भी मर सकती हैं, मेरे अन्दर न जाने कहाँ की और कब की सोयी हुई भूख जाग उठी थी। मैं दुनिया की शुरूआत से भूखा था। हालाँकि भूख इंसान के मन में छिपे

एक जानवर की ज़रूरत बल्कि इच्छा थी। मगर शायद इस वक़्त मेरे कन्धों पर एक सामूहिक भूख सवार थी। मैं अपने लिए नहीं अंजानी भूख के फन्दे में फँसी इंसानी नस्ल से पहले पैदा होने वाली तमाम छिपकलियों के लिए खा रहा था। मैं विकास की यात्रा में अज़नबी रास्ते पर एक खुद से उगने वाले जंगली पौधे की तरह उगे हुए इंसानी जबड़े का कर्ज़ अदा कर रहा था। वह एक अकेला जबड़ा जिसने चबाना सीखा था। काया-कल्प होती हुई, घटती और लिथड़ती हुई ज़िन्दगी का उतारा गया एक-एक छिलका मेरे ऊपर भूत की तरह सवार था।

लेकिन ये सब तो मैं अब सोच और बता सकता हूँ। उस वक़्त तो मैं सिर्फ़ खा रहा था। पागलों की तरह। बग़ैर किसी जज़्बे के। न सुख, न दुःख, न घबराहट, न परेशानी। ये भी हो सकता है कि मैं एक प्रकार से भूत के साये से घिरा हूँ।

'इससे पहले कि वह मर जाए, तुम खाना खा लो।'

मेरे जिस्म में अपने नंगेपन को समेटती हुई बेहया ज़िन्दगी लालच भरे लहजे में बोली। मैं खाये जाता था। मेरे मुँह से हड्डियाँ चूसते वक़्त सिसकारियाँ निकलतीं, थूक के झाग उड़ते, शोरबे में उँगलियों के पोर और नाखून सब डूबे जाते थे।

कपड़ों पर सालन गिरने लगा। सामने रखी रोटियाँ आहिस्ता-आहिस्ता कम होने लगीं। तामचीनी का डोंगा खाली होने लगा। तख़्त पर बिछी सफ़ेद चादर गन्दी होने लगी।

दरअसल मुझे अपने मुँह और हलक में चलते निवालों और किसी की दम तोड़ती हुई साँसों के दरम्यान एक ख़ास रफ़्तार को बरकरार रखना था।

मैं एक दौड़ लगा रहा था। एक लम्बी निजी मगर बेहद खुदगर्ज़ दौड़। मैं एक सजे-सजाये बिजली की रफ़्तार से दौड़ते घोड़े पर शाहाना अंदाज़ से सवार था। ज़िन्दा मैं मौत से आगे निकल जाना चाहता था। क्या मैं अपनी मौत से मुकाबला कर रहा था ? शायद हाँ, शायद नहीं। क्योंकि इस मुक़ाबले में जीत का अंदेशा सिर्फ़ इस तरह पैदा हो सकता था कि मैं अपने दाँतों, जबड़ों, ज़ुबान और राल में बदल जाऊँ।

नब्बे साल की एक बूढ़ी औरत की पल-पल डूबती साँसें, बन्द आँखें और पोपला मुँह मेरे खतरनाक दुश्मन थे। मुझे उनसे मुक़ाबला करना था। मैं यकीनन हार भी सकता था।

मगर देखिए अब मुझे ये एहसास होने लगा है कि ये तो कुछ वजह या सफ़ाई पेश करने जैसी बात होती जा रही है। नहीं, मैं आपसे कसम खाकर कहता हूँ कि उस वक़्त मैं सिर्फ़ खा रहा था और ये भी कसम खाकर कहता हूँ कि मैं लाख कोशिश करने पर भी आपको ये नहीं बता सकता कि मैं उस वक़्त खाने के अलावा और

क्या कर रहा था। इसलिए मेरी नीयत पर आप शक हरगिज़ न करें वरना इस कहानी में आपकी दिलचस्पी अगर ख़त्म नहीं तो कम ज़रूर हो जाएगी।

अब अगर बेहद सादगी से कहूँ तो बस इतना है कि मैं ये चाहता था कि वो मेरे खाना खा लेने से पहले ही कहीं मर न जाएँ।

असल बात तो इस काम में छिपी है। हालाँकि मैं इसे इतनी आसानी और बेहयायी से उजागर नहीं करना चाहता। अभी तो मैं एक अहसास को दूसरे अहसास की ज़मीन पर बिसात की तरह बिछा रहा हूँ। ये शतरंज की एक मक्कारी भरी चाल है। किसी हद तक कमीनापन लिए हुए जिसमें मेरे दाएँ हाथ की लिखती हुई उँगलियों की अकड़न का अहसास भी शामिल है।

और आखिरकार मैं कामयाब हुआ। मैंने खाना खत्म कर लिया और वो नहीं मरीं। मैंने सुर्ख होकर माथे से पसीना पोछा (मसालेदार खाना की वज़ह से जाड़ों में भी मुझे पसीना आ जाता है। हालाँकि हद से ज़्यादा वहशियों की तरह खाना खाने की वज़ह से मेरे सर के बालों के बीच भी पसीना आ गया था और बाल गीले हो गये थे।)

लेकिन ये इस अहसास का सिर्फ़ एक पहलू या आम-सा बयान है। अगर गहरायी से सोचूँ और गौर करूँ तो पाता हूँ कि भूख के आगे मैं एक बदकार औरत की तरह बिछ गया था। मेरी आँखों बल्कि नाक तक से पानी निकल रहा था।

'मिर्च कुछ खुल गयी है।' घर के मालिक ने कुछ अफ़सोस के साथ कहा।

'कुछ शोरबा भी पतला रहा।' ग़ज़ल के शाइर ने सिगरेट का लम्बा-सा कश खींचा और उनके होंठ और ज़्यादा खुश्क नज़र आने लगे।

'नहीं... ऐसी बात नहीं... बहुत अच्छा माल था। तरी के ऊपर का तेल भी खूब दिया। मेरी उँगलियाँ आपस में चिपक रही है।' मैंने घर के मालिक को अपनी उँगलियाँ दिखाते हुए दिल खोल कर खाने की तारीफ़ की। फिर तख़्त पर बिछे दस्तरख़्वान पर पड़ी हड्डियों को देखने लगा। मेरा हमेशा से ये यकीन रहा है कि खाना या नाश्ता वगैरह जब दस्तरख़्वान या मेज़ पर लगाया जाता है तो बड़ा आकर्षक महसूस होता है। और ये भी है कि उसे आकर्षक बनाने की पूरी कोशिश भी की जाती है। लेकिन अगर आप उसे आकर्षक बनाने की परवाह न भी करें तो भी पकाये जाने वाले बरतनों में से निकला हुआ खाना अपने सामान्य रूप में एक किस्म का आकर्षण रखता है। मगर होता ये है कि लोग खाना खा चुकने या नाश्ता कर लेने के बाद इस बात की आमतौर पर

ज़्यादा परवाह नहीं करते। मिसाल के तौर पर प्लेट में छोड़े गये एक-दो बिस्किट उदासी से इधर-उधर पड़े रहते हैं और हड्डियाँ, उनकी तो बात ही मत पूछिये। वह तो बहुत ही भद्देपन और बदसलीकेपन के साथ प्लेट में डाल दी जाती हैं। मेरा ख़्याल है कि छोटी-बड़ी हड्डियों को अगर ज़रा हिसाब-किताब से जमा करके लगा दिया जाए तो खाना खाने के बाद के हैवानी सन्तोष के बाद काफ़ी हद तक सौन्दर्यात्मक या आत्मिक सन्तोष भी हो जाए। कुछ-कुछ इस तरह जैसे जिस्मानी मिलाप के बाद औरत और मर्द करवट बदलकर खर्राटे न लेने लगें और थोड़े से रोमानी होकर (दिखावे में ही सही) एक-दूसरे की बाहों में सिमट कर आँखों में आँखें डाल दें।

यही सबब था कि खाना खाने के बाद दस्तरख़्वान और रकाबी में पड़ी ये हड्डियाँ अपने आर्टिस्टिक ढंग से न होने की वजह से उदास-सी नज़र आयी। मगर अब सोचता हूँ तो साफ़ महसूस होता है कि चूसी गई हड्डियों का यह ढेर शायद अपनी उदासी की वज़ह से कुछ दिलचस्प भी नज़र आता था। या मुमकिन है कि ऐसा सिर्फ़ हड्डियों को खराब ढंग से रखने या भद्देपन की वजह से हो। वैसे मैं एक अरसे से इस उधेड़बुन में फँसा हूँ कि उदासी और भद्देपन के बीच जो एक समझ में न आने वाला रिश्ता है उसे कोई नाम दे दूँ।

माचिस की एक तीली निकाल कर मैं दाँत कुरेदने लगा और थोड़ी-सी देर के लिए खाली दिमाग हो गया। जब आप माचिस की तीली से दाँत कुरेदते हैं तो एक सूफ़ी की तरह बनियाज़ हो जाते हैं।

'सुना है आजकल यूरोप में शुतुरमुर्ग, कंगारू और जेब्रा का गोश्त खाया जा रहा है।' ग़ज़ल गो ने बुलन्द आवाज़ में कहा।

'ऊँ... वह, वहाँ बकरों वगैरह में मुँह और पैरों की बीमारी फैल गयी है।' घर के मालिक (जो नज़्म के बहुत अच्छे शाइर हैं) की तकरीबन कँपकँपाती आवाज़ इस जानकारी की तमाम फालतू मात्रा को कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक रगड़ने लगी।

'कंगारू का गोश्त कैसा होता होगा ?'... मैंने माचिस की तीली फेंकते हुए कहा।

'मेरा ख़्याल है कि कुछ खट्टा-खट्टा-सा होगा।' नज़्म के शाइर ने आत्मविश्वास भरे लहज़े में जवाब दिया।

'ज़रूरी नहीं। मगर रेशे बहुत होते होंगे।' ग़ज़ल के शाइर ने अपनी काली चमड़े की जैकेट पर हाथ फेरा।

रेशों वाला गोश्त मुझसे खाया नहीं जाता। इसकी वजह मेरी दाढ़ में लगा कीड़ा है। कीड़े ने वहाँ न जाने क्या-क्या चाट डाला है। वहाँ जो चीज़ भी फँस जाए, सड़ने लगती है। इसके बाद गाल का निचला हिस्सा सूजने लगता है। हलक़ की छिपी हुई गिल्टियाँ बाहर उभर आती हैं। दाँत में टीस उठती है। मगर इस बीमारी की वजह से मुझे अपनी दाढ़ को हमेशा जुबान से कुरेदते और ठेलते रहने की आदत पड़ गयी है। और जब मैं ऐसा करता

हूँ तो नर्म, मुलायम, अजनबी गोश्त का निहाल कर देने वाला ज़ायका मिलता है। जिनकी दाढ़े नहीं गलतीं या गिरती वो इस रहस्यमय अन्धे ज़ायके को कभी महसूस नहीं कर सकते।

अभी इंसान के अन्दर कितना गोश्त, कितनी हड्डियाँ और कितनी झिल्लियाँ ऐसी है कि 'जुबान' की पहुँच वहाँ कभी मुमकिन नहीं होगी।

मैंने चाहा कि तार्किक सकारात्मक सोच वालों के भाषायी विचारों को बुलन्द आवाज़ में बयान करने लगूँ। मगर इसके बजाय मैंने हिलती दाढ़ के पीछे छिपे गोश्त के उस ज़ायके को फ़तह करने के लिए गुरूर किया।

'अच्छा साहब ये लोग सब कुछ खा लेते हैं। बस बातें ही बातें हैं।' घर के मालिक ने अपना काला मफ़लर कुछ और कायदे से लपेटा।

'कौन लोग ?' ग़ज़ल के शाइर ने पूछा। फिर फौरन ही समझ गये। आँखें चमक उठी। 'अच्छा.... ये लोग। हाँ ये तो है।'

'मगर ये लोग ऐसे नहीं खा सकते।' मैंने बिखरी हुई हड्डियों की तरफ इशारा किया।

'बनते हैं। साले सुअर खा रहे हैं। ये नहीं खा सकते!' नज़्म के शाइर ने अपने चेहरे पर बड़ा तंज़ पैदा कर लिया जो काले मफ़लर की वजह से कुछ और गहरा महसूस हुआ।

ग़ज़ल के शाइर ने खँखारा। जब वो इस तरह खँखारते हैं तो हमारे इल्म में ज़रूर इज़ाफा हो जाता है। उन्होंने कहना शुरू किया :

'इन लोगों का सांस्कृतिक रूप से स्वाद का कभी पूरी तरह से विकास ही नहीं हो सका। मेरा मतलब है, यूँ तो ये लोग जाने क्या अला-बला खाते रहे। घास-फूस से लेकर तरह-तरह के जानवर, कीड़े-मकोड़े, मगर वह जो एक स्तर होता है स्वाद का.... बुलन्द, आला और नफ़ीस, उसके लिए उनकी जुबान में कभी स्वादेन्द्रिय ही पनप न सकीं। ये सब उनकी तहज़ीब के विकास के अचानक ठहर जाने के कारण हुआ। और साहब खाने का कोई सम्बन्ध आत्मा से नहीं होता। आप किसी भी किस्म का गोश्त खाकर किसी भी किस्म के ऋषि-मुनि हो सकते हैं।'

मुझे माफ़ कीजिए अगर मैं इस दृश्य और बातचीत को हू-ब-हू आप तक नहीं पहुँचा पा रहा हूँ। शायद ये सब उन्होंने बिल्कुल इसी तरह नहीं कहा था। आप ये भी सोच रहे होंगे कि शायद मैं उस मौत को भूल गया हूँ जिसे मैंने खाना-खाकर जीत लिया था। मगर नहीं। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि फिलहाल मैं एक अहसास को दूसरे अहसास पर बिसात की तरह बिछा रहा हूँ और मेरा ये अय्याराना खेल अभी जारी है। मगर आप

मुझ से कसम ले लीजिए कि मैं कहीं भी तमसील (जिसमें अमूर्तकथा का सजीव पात्र के रूप में वर्णन हो) या प्रतीक का इस्तेमाल करूँ। और रूपक, इससे तो मैं बहुत पहले तौबा कर चुका हूँ कि वह तो कहानी के खूबसूरत बाग में घुस आया हुआ जंगली सुअर है। (इस कमबख़्त जानवर का नाम न जाने क्यों आज बार-बार दिमाग में चला आ रहा है।)

'आप लोगों ने शायद कभी इस बात पर ग़ौर नहीं किया, घर के मालिक ने दूसरा सिगरेट सुलगाते हुए कहा। इस वक़्त उनका चेहरा बहुत गम्भीर था जिस पर किसी बेहद खुफिया मगर अहमतरीन पहलू को उजागर कर देने का जुनून भी नज़र आ रहा था।

'...कि ये लोग दरअस्ल डरते हैं। इन हड्डियों को बर्दाश्त नहीं कर पाते। इन्हें वह देख ही नहीं सकते। इस क़िस्म के खाने देखकर हमारी कौम और मज़हब की शान-ओ-शौकत अचानक उनके सामने आकर खड़ी हो जाती है और ये लोग बेपनाह एहसासे कमतरी में मुब्तला होकर हमारी इबादतगाहों पर हमला करके उन्हें ढहाने लगते हैं।'

कमरे में खामोशी छा गयी, मगर मेरे दिमाग़ में एक बात खटकी।

'ये हड्डियों से डरने की बात मेरी समझ में नहीं आयी। ये लोग तो छड़ों और मटकों में अपने मुर्दों की हड्डियाँ लिए-लिए फिरते हैं।'

'बात हड्डियों की नहीं है। खानों की है। इसीलिए तो वह और डर जाते हैं। अस्ल में हम लोगों के खाने बड़े रोबदार किस्म के हैं। हड्डियों का क्या है, वह तो चूस कर फेंक दी जाने वाली चीज़ें हैं।' ग़ज़लगो ने सिगरेट का धुआँ मेरे मुँह पर फेंका और इस कोशिश में उनके होंठ और सूख गये। मगर फ़ौरन ही उन्होंने दोबारा कहना शुरू कर दिया।

'अब इस बाक्ये को ही ले लीजिए। याद नहीं आ रहा है कि किसने अपनी किताब में लिखा है कि एक अँग्रेज़ पुरानी दिल्ली की एक गली में बैठने वाले नानबाई की दुकान से बिरयानी खाकर अपनी बीवी-बच्चों के साथ मुसलमान हो गया था। उसका कहना था कि जिस क़ौम के खानों का स्तर ऐसा ऊँचा और कुलीन हो, उस क़ौम का दीन और मज़हब कैसा बुलन्द और ऊँचा होगा।'

'बस यही तो मैं कहना चाहता था।' घर के मालिक जोश में आ गये।

'गोश्त-वोश्त खाने से कुछ नहीं होता। साले सुअर खा रहे हैं। बात इस बहादुरी और ताक़त और हौसले की है। हमने जिस तरह दुनिया की पशुवत ताक़तों को हराकर विकास के सफ़र को आगे बढ़ाया और अपनी

आत्मीय और रचनात्मक सलाहियतों को आगे बढ़ाया, इसमें कहीं इस भरपूर यक़ीन का सहयोग भी शामिल था कि हमारा खाना एक पाकीज़ा और जुर्रतमन्द शिकार, जिसमें बड़े-बड़े जानवरों की हड्डियाँ, यूँ ही चूसकर फेंक दी जाती हैं। यही देख और समझ कर ही तो उन पर एहसासे-कमतरी छायी हैं।' नज़्म के शाइर (जो घर के मालिक भी हैं) ने जल्दी-जल्दी अपनी बात ख़त्म की और फिर बेपरवाह से नज़र आने लगे।

ज़रा मुलाहिज़ा फरमाएँ कि मैं किस कद्र मुश्किल में गिरफ़्तार हो गया हूँ क्योंकि मैं कहानी बयान कर रहा हूँ इसलिए मुझे इसमें दिलचस्पी की चीज़ें भी बरक़रार रखना चाहिए। अब इस घिसी-पिटी बात को कैसे दुहराऊँ कि कहानी और ज़िन्दगी दोनों एक शै का नाम है। ज़िन्दगी कभी तो दिलचस्प होती है और कभी बड़ी ठस। ये कहानी भी जगह-जगह तो ज़रूर दिलचस्प है मगर जगह-जगह बड़ी ठस। इसलिए दिल से तो मेरी नेक नियत और कोशिश ये है कि मैं कहानी को ज़िन्दगी की तरह आगे बढ़ाता चलूँ। जब कहानी के हिस्से की फ़ितरी दिलचस्पी आएगी तो आप उससे ज़रूर फ़ायदा उठाएँगे। मगर शायद मैं ऐसा नहीं कर पा रहा हूँ और नकली दिलचस्पी पैदा करने के सिलसिले में बेवजह ग़ैर ज़रूरी चीज़ें कहानी में ठूँसता जा रहा हूँ। मगर ये भी है कि ये ग़ैर ज़रूरी चीज़ें अस्तित्व की अर्थहीनता का रूपक बन सकती हैं। यूँ तो मैं रूपक से तौबा कर चुका हूँ, मगर अगर मेरे किसी शब्द या वाक्य ने खुद ही रूपक बनने की ठान ली हो फिर समझ लीजिए कि कहानी के खूबसूरत बाग़ में जंगली सुअर घुस आया है (अब याद नहीं कि सुअर का लफ़्ज मैंने पाँचवीं बार इस्तेमाल किया या छठी बार)।

'लाइये साहब मुझे भी एक सिगरेट दें।' मैंने हाथ बढ़ाया। घर के मालिक ने जो नज़्म के बहुत उम्दा शाइर हैं, मेरी तरफ़ सिगरेट का पैकेट बढ़ा दिया।

जब मैं सिगरेट सुलगाने के लिए झुकता हूँ तो हमेशा कनखियों से इधर-उधर ज़रूर झांका करता हूँ। अज़ब बेतुकी आदत पड़ गयी है। मैंने कनखियों से देखा।

ग़ज़ल के शाइर ने अपनी काले चमड़े की जैकेट को सहलाते हुए शरारती अन्दाज़ में नज़्म के शाइर की तरफ देखा उनके सुते हुए गाल फैलने लगे और फिर वह काफ़ी बदली हुई-सी आवाज़ में बोले।

'उनकी औरतें.... उनकी औरतें दिल ओ जान से चाहती हैं कि एक बार कोई हममें से एक दिन उनको. ...'

उन्होंने अपनी पतलून की जेब में हाथ डालकर खुजाया, फिर शायद हँसते-हँसते रह गये।

'औरत ताक़तवर मर्द के जूतों को बोसा देती है। हमारे खाने बेहद मर्दानगी देने वाले होते हैं।' नज़्म के

शाइर (घर के मालिक) ने फैसला सादिर कर दिया।

इसके बाद उन दोनों में औरत और उसकी कामवासना विषय पर एक 'मर्दाना' मकालमा शुरू हो गया जिसमें उन दोनों ने अपनी ऊँची नैतिकता का प्रदर्शन करते हुए मुझे हिस्सा लेने का मौक़ा इसलिए नहीं दिया कि एक तो मैं उम्र में उनसे बहुत छोटा था और दूसरे अभी मेरी शादी नहीं हुई थी।

यहाँ ये एतराफ़ कर लेने में कोई सन्देह नहीं कि मैं एक बेहद बुज़दिल आदमी हूँ और बुज़दिली अपनी कमीनगी को हमेशा पीठ पर लादे-लादे फिरती है। ऐसी कमीनगी कभी अपना अस्तित्व ख़त्म नहीं करती जो बुज़दिली के गर्भ से पैदा होती है।

यह मेरी कमीनगी ही थी जो मैं वहाँ शर्मा-शर्मा कर झेंपती हुई मुस्कराहट के साथ अपने जूतों को देखने लगा जो तख़्त की नीचे थके-थके से पड़े थे। हालाँकि मैं अगर अपनी पर उतर आता तो इस विषय पर ग़ज़ल के शाइर और नज़्म के शाइर दोनों की जुबान बन्द कर सकता था। मगर मैंने रियाकारी से काम लिया। इस क़िस्म की मक्कारियों में हमेशा से मेरा कोई जवाब नहीं है। मैं न सिर्फ़ बेहद ध्यान और दिलचस्पी के साथ उनकी चटखारेदार गुफ़्तगू को सुन रहा था बल्कि इस विषय और बातचीत को एक उच्च स्तर प्रदान करने के लिए बेहद सम्मान के साथ झेंपा-झेंपा सा मुस्करा रहा था और अपने जूते देखे जा रहा था।

'पता है दुबली-पतली हड्डियों का ढाँचा जैसी औरत अगर एक बार पूरी तरह से जोश में आ जाए तो बड़े से बड़े मर्द को भी कुचल कर रख देती है। उसकी हड्डियों में तो अस्ल जान छिपी रहती है।' ग़ज़ल के शाइर ने दबी हुई आवाज़ में सूचना दी और उनका चेहरा पहले से भी ज़्यादा सुता हुआ और बेरौनक़ नज़र आने लगा। मगर मेरा दिमाग़ अचानक भटकने लगा। मुझे बेएख़्तियार 'वह' याद आ गयी।

वह अब इस दुनिया में नहीं है मगर मुझे न जाने क्यों उसकी ये बुरी आदत लज़्ज़त के साथ याद आ रही है कि वह मुझे बोसा देने के लिए अपने होंठों को हमेशा खुला रखती थी। आहिस्ता से उसकी उंगली छू लेने पर भी उसके होंठ अच्छे खासे खुल जाया करते थे और आँखें बोझिल होकर बन्द होने लगती थीं (यह एक बुरी आदत थी न)।

ये सारी गुफ़्तगू ठोस चीज़ों के बारे में नहीं थी। ठोस चीज़ें वही होती हैं जो कि वह हैं। उनके तमाम इमकानात लगभग सब पर ही उजागर होते हैं। वह अपने भेद अपने 'होने' में खोल देती हैं। मगर जब वह बेजा तौर पर इंसानी दुनिया और इंसानों के बदलते हुए आपसी रिश्तों की दुनिया में दख़लअन्दाज़ी करती हैं तो उसका नतीजा वही बिखरी हुई सूरते हाल होता है जिसका सबसे प्रमुख घटक मज़ाक है तो क्या हमारी तमाम बातें बेमतलब थीं ? मुझे एक पल को शदीद तौर पर महसूस हुआ कि हम इसके अलावा और कुछ नहीं कर सकते

थे। तरह-तरह के खानों के बारे में गुफ़्तगू करना उनके लिए एक पनाहगाह बन गयी थी।

अब अपनी-अपनी शाइरी के बारे में बातचीत करना इसलिए मुमकिन नहीं रहा था कि यहाँ से गुफ़्तगू की ग़ैरमहफूज़ सरहदें शुरू होती थीं। एहसासे जुर्म को कहीं दबा ले जाना ज़रूरी था। हाँ एक हल्का ही सही, मगर एहसासे जुर्म वहाँ मौजूद था। सिर्फ़ इसलिए कि खाना खाया गया था। उस वक़्त भी जब मौत उन पर मक्खी की तरह भिनभिना रही थी। यह जल्द ही घटित होने वाली एक तैशुदा मौत थीं जो बहुत ही साफ़ और बिना उलझे अन्दाज़ में हमारे दरम्यिान में आ और जा रही थी। मगर हमने उसे झुठलाया था।

खाना खाकर हमने अपनी आँतों, पेटों और जबड़ों की सलामती का जश्न मनाया था।

लेकिन मैं कुबूल करता हूँ कि उन लम्हों में मुझे किसी एहसासे-जुर्म का सीधा-सीधा पता नहीं चल सका (यह तमाम चर्चा तो मैं अब कर रहा हूँ) घर के मालिक के चेहरे पर कभी ज़रूर परेशानी या ग़मगीनी की-सी कैफ़ियत नज़र आ जाती थी मगर उसकी वजह शायद उनके घर में सरसराती हुई वह मौत नहीं बल्कि एक क़िस्म की उलझन और झुँझलाहट रही हो कि आज दावत के मौके पर ही रंग में भंग पड़ गया था या तमाम मज़ा किरकिरा हो गया था। खैर मैं आपको ये भी बता दूँ कि मैं बहुत ज़हीन आदमी हूँ।

और ये सतरें न तो दीवानी हैं न ही इन्हें मैंने हक्का-बक्का रह जाने की हालत में लिखी हैं। ये तमाम तहरीर बहरहाल बिलकुल ही नाकाबिले एतबार नहीं है और यहाँ से मेरी बुद्धिमत्ता का शरारत भरा पहलू शुरू होता है। अपनी और उनकी बेहूदा गुफ़्तगू के बारे में बयान करते वक़्त मैंने काफ़ी छिछोरेपन से काम लिया है मगर लुत्फ़ की बात ये है कि ये छिछोरापन भी फ़िजूल है। सरसरी नज़र से देखें तो बिलकुल इस दुनिया की तरह ही फ़िजूल है। मगर इसकी तरह अन्दर से बेहद चालाकी और फ़नकारी से रचा गया संसार। अपने अन्दर के उलझे हुए धागों में कोई बहुत ही चालाक खेल या व्याकरण ये एक न समझ में आने वाली गणित है। मगर इस गणित के सारे अंक और गिनतियाँ सुर्ख बल्ब की तरह चौकन्ने हैं। वह जलते हैं इन्सान की बुनियादी खुदगर्ज़ नैतिकता की सरहदों पर।

मगर इस तहरीर की नैतिकता की बुनियादी शर्तें ही बेईमानी, बुज़दिली और सतही हैं, और जिन्हें मैं शरारती बुद्धिमत्ता के बलबूते अभी तक पूरा करना रहा हूँ। वरना सच्ची बात तो यह है कि ये तमाम सतहें इसी हास्यप्रद सूरतेहाल से आयी हैं। अपनी याददाश्त को बेशर्मी के साथ झुठलाती हुईं। और अब बेशर्मी का क्या है। अब तक मैंने क्या-क्या न बेशर्मी के साथ झुठला रखा था।

पोपला मुँह, सर के बाल इस दर्जा सफ़ेद कि उन्हें देखकर दहशत होती थी। उन बालों की सफ़ेदी की भयानक छूत उनके सारे जिस्म पर पड़ती थी। जिस्म जिसमें कुछ था ही नहीं। खासतौर से हड्डियाँ तो बिलकुल

ही नहीं। मुँह से लेकर पाँव की एड़ियों तक बेपनाह झुर्रियों वाली बेहद सूखी और बदरंग खाल शायद हवा जैसी किसी चीज़ पर झूलती रहती थीं। हड्डियाँ उनके अस्तित्व में भेष बदलकर कहीं छिप गयी थीं इस तरह कि उनका एहसास मुश्किल से ही हो सकता था। हालाँकि वह यूँ तो बिलकुल सामने ही थीं। खौफ़नाक पिंजर की सूरत बिलकुल सामने दस्तरख़्वान पर पड़ी बेहंगम छोटी बड़ी हड्डियों पर एक पतंगा डोल रहा था।

जब मैंने उन्हें हफ़्ते भर पहले देखा था तब वह ऐसी ही थीं। मैले बांदों की एक बोसीदा-सी चारपाई थी। जिसके दरम्यिान इतना गड्ढा हो गया था कि वहाँ के बाँध तक़रीबन ज़मीन को छूते रहते थे। चारपाई पर एक पुरानी और गन्दी दरी बिछी हुई थी। उस पर वह लेटी थीं। या शायद पड़ी हुई थीं। उनकी नाक में लगी हुई नलकी साँस के ज़रिए आहिस्ता-आहिस्ता हिलती थी। उनके पैरों के ऊपर चादर थी जिस पर एक बड़ा-सा धब्बा था। धब्बे पर मक्खियाँ चिपटी हुई थीं। उनका बायाँ हाथ बार-बार हवा में उठता था फिर बेजान होकर पलंग की पट्टी से नीचे झूल जाता था।

चारपाई घर के छोटे से आँगन में पड़ी थी, जाड़ों की सुनहरी धूप ऊपर से गुज़र रही थी। धूप से धुँधले होते हुए नीले आसमान पर एक बेरी आहिस्ता-आहिस्ता तैर रही थी। चारपाई के नीचे एलूमीनियम की सिपिलची उल्टी पड़ी थी।

उनकी आँखें अधखुली थीं। उनमें कुछ भी न था। न दुःख, न तकलीफ़, न ज़ब्बा, न एहसास, ये आँखें कहीं भी नहीं देख रही थीं और उस बेपनाह झुर्रियों वाले ख़ामोश चेहरे पर बिलकुल नक़ली तौर पर लगायी गयी महसूस होती थीं।

वह घर के मालिक की सास थीं। न जाने पहले कहाँ रहती थीं। अब अचानक वक़्त के एक झोंके ने उन्हें यहाँ पहुँचा दिया था। नज़्म के शाइर और ग़ज़ल के शाइर दोनों तरह-तरह के खानों के बारे में चौंका देने वाली बातें करते रहे। उन बातों के आम होने पर इतिहास को नये सिरे लिखने की ज़रूरत पेश आ सकती थी।

मैं तो यह नहीं कहुँगा कि इस वक़्त मैं उनकी गुफ़्तगू में हिस्सा नहीं ले रहा था, मगर बात ये थी कि वह कर्ज़ उतर जाने के बाद मैं कुछ सुस्ती सी महसूस कर रहा था और मेरी आँखें बार-बार बन्द होने लगती थीं। और यक़ीनन वह कर्ज़ था। वह उस सामूहिक भूख का कर्ज़ था जो कुछ देर पहले मैंने अदा किया था।

वह आकर चली गयी थी। जिस्म के एक-एक रोएँ के छेद पर उसके जाते हुए क़दमों के निशान बन गये थे। भूख के खूँखार पाँव, उसकी खौफ़नाक एड़ियाँ और और वहशी पंजे मेरे ऊँघते हुए और रेत की तरह संवेदनहीन होते हुए ज़िस्म पर एक सीधी लकीर की तरह चलते चले गये थे।

अचानक बिजली फिर चली गयी। घर के मालिक ने उठकर मिट्टी के तेल का लैम्प रौशन कर दिया, इस नयी और अलग रोशनी में कमरे की दीवारें काबिले रहम हद तक सपाट नज़र आयीं। कमरे में मौजूद कुर्सी, मेज़ और तख़्त, सबके कोने बहुत उभरे-उभरे से महसूस होने लगे। मैंने यूँ ही बेख़्याली में बाईं तरफ़ की दीवार की तरफ़ देखा। लैम्प की उदास थरथराती हुई रोशनी में वहाँ दस्तरख़्वान पर रखी हड्डियों की परछाइयाँ डोल रही थीं। बेतुकी मगर अपने अस्ल जिस्म से बड़ी होती हुई परछाइयाँ।

दरअस्ल इस इलाके में बिजली बहुत जाती है, यह इलाका इस बड़े शहर की अतिरिक्त आँत की तरह है। एक अन्धी सुरंग जिसमें ज़्यादातर घर एक ही कतार में बने हुए हैं, जिनकी दीवारों की निचली सतह पर संडास हैं। इन संडासों की ज्यामिति कुछ इस तरह की है कि मेहतर को ज़मीन पर लेटकर उनकी सफ़ाई करनी पड़ती है। कभी-कभी आवारा कुत्ते या सुअर भी यहाँ मुँह मारने आ जाते हैं। पतली-सी गली के दोनों तरफ़ दरम्यान में सड़क को काटती हुई गन्दी सड़ती नालियाँ हैं जिनमें हमेशा काला पानी चमका करता है। यह पानी बहता नहीं है, बस एक ही जगह काँपता हिलता नज़र आता है। गली में सर के ऊपर आसमान नहीं बल्कि बिजली के झूलते हुए तारों के जाल नज़र आते हैं।

इस गली में दूर तक इस्तेमालशुदा प्लास्टिक की गन्दी रंगीन थैलियाँ और केले के छिलके बिखरे हुए हैं।

वह खुद भी एक सूखे हुए केले के छिलके में बदल चुकी हैं। यह मौत से पहले की मौत है। एक ज़्यादा बेरहम मौत, जब वह हमसे एक ख़तरनाक खिलवाड़ करती है। हमारे बूढ़े होते ज़िस्म पर बैठ-बैठकर वह एक शैतान बदनियत और ढीठ मक्खी की तरह उड़ती रहती है।

इस इलाके के बारे में मैंने जो बयान किया उसका कोई समाजी पहलू नहीं है। और मैं पहले भी कई बार आगाह कर चुका हूँ (आगाह लफ़्ज में अभिमान की बू आती है, इसके लिए मुझे माफ़ करें) कि मैं किसी भी क़िस्म की तमसील (जिसमें विचार को जीव की तरह प्रस्तुत किया जाए) या प्रतीक का इस्तेमाल हरगिज़ नहीं करूँगा और रूपक के बारे में तो अब आप बखूबी जान गये हैं कि मेरा इसके बारे में क्या ख़्याल है।

मगर चन्द व्याख्याएँ ज़रूरी हैं, बेहद ज़रूरी।

यह बहरहाल एक कहानी है। आजकल लोग बाग कहानी में 'कहानीपन' कुछ इस तरह तलाश करते हैं जैसे 'औरत' में 'औरतपन' की तलाश या उसकी आरजू की जाती है। मगर इसे क्या कीजै कभी-कभी औरत के छुपे से छुपे अन्तर में भी 'औरतपन' ग़ायब रहता है। इसके लिए आपको माफ़ ही करना पड़ेगा।

(इस कहानी में भी कहानीपन, पता नहीं कहाँ होगा, इसके आख्यान के उलझे हुए धागों और पाठ या

अन्तरपाठ के आपसी रिश्तों के टकराव में ? अगर कहीं वह होगा तो ज़रूर मिल जाएगा वरना कहानी को आपको माफ़ करना ही पड़ेगा बिलकुल अपनी औरत की तरह।)

जहाँ तक मेरा सवाल है, आपकी क्या मजाल कि आप मुझे माफ़ कर सकें। माफ़ तो खुद को मैंने ही किया था। उस भूख के आगे अपने ज़िस्म को एक बेहया औरत की तरह बेशर्मी से पेश कर देने के लिए। यकीनन एक बेहया औरत की तरह जिसके पास इस जिल्लत भरे काम के लिए ज़िन्दा होने जैसे छिछोरे, नखरे भरे, मगर बेहद घटिया से तर्क के अलावा और कुछ न था।

जब आप खुद को माफ़ करते हैं तो हद से ज़्यादा शेखी बघारने वाले हो जाते हैं। इस कमरे में मिट्टी के तेल का लैम्प रौशन होने से बहुत पहले ही मैंने खुद को माफ़ कर दिया था। शेखी मेरी रग-रग में भर गयी थी।

मुझे अफ़सोस है कि मैं आपको बताना भूल गया कि इस गुफ़्तगू के दरम्यिान घर के मालिक का छोटा भाई कई बार कमरे में आया था। वह वहाँ से झूठी रकाबियाँ और गिलास उठाकर ले गया था। दूसरी बार आकर उसने घर के मालिक से कुछ कान में कहा था, जिस पर वह एक पल को फ़िक्रमन्द नज़र आये थे। तीसरी बार आकर उसने एक गीले कपड़े से तख्त की चादर के एक हिस्से पर गिरे सालन के धब्बे को साफ़ किया था और चौथी बार सिगरेट लाकर दिये थे। मगर दस्तरख़्वान पर पड़ी उन हड्डियों को उसने अभी तक नहीं उठाया था। शायद बाहर हड्डियाँ फेंकने का अभी वक़्त ही नहीं आया था।

और अब जब कमरे की दीवार पर उन हड्डियों की बेहंगम परछाइयाँ आहिस्ता-आहिस्ता काँप रही थीं तो मैंने साफ़ तौर पर महसूस किया कि घर के अन्दर (शायद आँगन पार कर लेने के बाद) कहीं दूर एक दो सिसकियाँ ही फ़िज़ा में गूँजती हैं और फिर दबकर रह जाती हैं।

जाड़ों की रात बढ़ी चली आ रही थी। सर्द हवा के झोंके शायद तेज़ हो गये थे। वह खिड़की जो कमरे से अन्दर आँगन में खुलती थी, उस पर पड़ा हुआ पर्दा बार-बार हिलने लगा था। आज चाँदनी रात है, मैंने सोचा, पर्दा हिलता था तो नज़र आता था। ख़ामोश आँगन में चाँदनी उनके बूढ़े और वहशतनाक बालों के गुच्छों की तरह जगह-जगह बिखरी पड़ी थी। उन बालों के गुच्छों को बग़ैर धुतकारे पार नहीं किया जा सकता था।

ग़ज़ल के शाइर किसी खाने की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अहमियत जताते-जताते अचानक रूक गये। नज़्म के शाइर ने एक पल को कान खड़े किये फिर बेहद सुकून के साथ कहा :

'तुम्हारी भाभी हैं। रो रही हैं। आखिर उनकी तो माँ हैं।'

हज़रात आप यक़ीनन सोच रहे होंगे कि वह बड़ी ड्रामाई सूरते हाल थी। मगर नहीं जनाब, ड्रामा तो यहाँ ये छिछोरी सतरें पैदा कर रही हैं। वर्ना यकीन करें कि वह बिलकुल आम और रोज़मर्रा सी सूरतेहाल महसूस होती थी और जहाँ तक मुझे याद है कि उस वक़्त पेटभर के खाने के बाद की हल्की-सी सुस्ती के अलावा मेरे दिमाग़ में कोई दूसरी बात सवार न थी। मुझे अपनी गरदन घुमाकर इधर-उधर देखने में भी दिक्कत महसूस हो रही थी। बिलकुल एक सुअर की तरह (इस बार इस बदकिस्मत लफ़्ज का यह इन्तेहाई ईमानदाराना इस्तेमाल है)।

अब वक़्त आ गया है कि मैं आपको बता दूँ कि ये एहसास उस एहसास से बिलकुल अलग है जब मैं उस हास्यप्रद गम्भीर सूरतेहाल से दो-चार था। मगर अब कहानी बयान करते वक़्त मैं उन दोनों एहसासों को बयान करने के लिए बचकाना ख़्वाहिश से खुद को बचा नहीं पा रहा हूँ और इस कोशिश में गोया भाण्ड हुआ जा रहा हूँ। मैं मायूस कर देने की हद तक एक बेवकूफ़ फोटोग्राफ़र की तरह हक़ीक़त के पीछे हाथ धोकर पड़ गया हूँ।

मगर मैं कसम खाकर कहता हूँ कि मेरा ये भाण्डपन अस्ल में एक बड़ा नैतिक पहलू भी लिये हुए हैं। मैं ज़िन्दगी के साथ-साथ लिथड़ जाना चाहता हूँ, मेरा पूरा अस्तित्व ज़िन्दगी के हर गन्दे से गन्दे चीथड़े तक को सूँघ कर उसकी बू में नहा जाना चाहता है। कुछ-कुछ उस तरह जैसे कबीलों में मर्द को अपनी औरत के दुःख-सुख में इस दर्जा ईमानदारी से शरीक होना पड़ता हे कि ये उसका बिलकुल फ़र्ज़ है कि प्रसव पीड़ा में मुब्तिला अपनी औरत की दर्दनाक और दिलचीर देने वाली चीखों के साथ वह भी उस तरह चीखे और तड़पे। उसे बच्चा पैदा करने के अमल की पूरी-पूरी नकल उतारना पड़ती है।

या यूँ कह लें कि मैं यहाँ एक व्यक्ति बन कर नहीं रहना चाहता। मैं खुद को 'कई' में महसूस करना चाहता हूँ और इस तरह मैं एक होते हुए भी 'बहुत सों' में बट जाना चाहता हूँ। इसलिए इस कहानी का हर किरदार मेरे लिए फाँसी का एक झूलता हुआ फन्दा है। मैं फन्दे में अपने सर पर काला कपड़ा डालकर गले की नाप लेने जाता हूँ और मायूस होकर वापस आ जाता हूँ। कोई फन्दा ऐसा नहीं जो एकदम मेरे गले के बराबर आये। यहाँ दम घुटता है। दम निकलता नहीं यह एक भयानक और गन्दा खेल है जिसमें अपनी आज़ादी और मुक्ति के लिए मैं खुद को मुख़्तलिफ सर्वनामों में तक़सीम करके अपनी संज्ञा की तलाश जारी रखना चाहता हूँ।

जैसा कि मैंने पहले इशारा किया था कि एक दुबका हुआ एहसासे जुर्म वहाँ ज़रूर था और आहिस्ता-आहिस्ता शायद अब इस सन्नाटे में गूँजती-डूबती सिसकियों के साथ वह अपने बल खोल रहा था।

उन दोनों को भी एहसासे-जुर्म था। मगर उससे छुटकारा पाने का हर एक का एक निजी तरीक़ा होता

है। यह मेरा अपना तरीक़ा है जो आप से मुख़ातिब हूँ। उनकी बेमानी बातें, काला मफ़लर और चमड़े की जैकेट शायद इस एहसासे-जुर्म का ही हिस्सा थीं। ये इंसान की अपनी अकेली दुनिया है, इसमें दख़ल अन्दाज़ी की इजाज़त किसी को नहीं दी जा सकती।

आपको याद है कि शुरू ही में मैंने बता दिया था कि अपनी याददाश्त को फिर से दबोच लेने के लिए मुझे जगह-जगह बीचा का मुँह लगाकर भी भटकना पड़ता है। आपको बीचा का मुँह तो याद होगा। वह जिसे बच्चे लगाये फिरते थे और आपको अचानक उठा दिया करते थे।

वह बीचा का चेहरा मैंने अपनी कमर में बाँध रखा है। एक चालाक और कमीने हथियार की तरह।

इस कहानी में मौक़ा देखकर मैं झट ये चेहरा मैं अपने चेहरे पर लगा लेता हूँ। इसकी भयानक फैली-फैली मगर हैरान-सी आँखों से आँसू गिरते हैं। बड़े-बड़े बदनुमा खौफ़नाक दाँत जबड़ों को फाड़कर बाहर निकलने लगते हैं। बीचा का चेहरा उन आँसुओं से गीला हो जाता है। उसके तेज़ सुर्ख और पीले रंग फैलने लगते हैं। वह क़ाबिले-रहम नज़र आता है और अपने पीले-लाल रंग को बहने देता है। नीचे की तरफ़। इंसानी गर्दन से लेकर इंसानी एड़ियों तक ये रंग बहते जाते हैं।

मुझे एतराफ़ है कि ये एक बचकाना हरकत है और बार-बार इसे दोहराने से तो इसका असर बिलकुल ही खत्म हो सकता है मगर हर बचकानेपन की अपनी एक बेरहमी भी होती है। एहसास और अक़्ल की एक निचली सतह पर उस बेरहमी का असर हमेशा क़ायम रहता है।

ठहरिये.... कहानी में वह मौक़ा बस आने ही वाला है। मैं आपको इस बार पहले ही से ख़बरदार किये देता हूँ और कमर से बीचा का मुँह यूँ निकालकर चेहरे पर लगा लेता हूँ।

नहीं, इस बार रोने या सिसकियों की आवाज़ नहीं थी। ये तो दो औरतें मिलकर शायद कुछ पढ़ रही थीं। मध्यम और उदास आवाज़ में।

न जाने क्यों अचानक मुझे सर्दी-सी लगने लगी। सेहन की तरफ़ खुलने वाली खिड़की का पर्दा अब बहुत तेज़ी के साथ लहराने लगा था। रात बढ़ती जाने के साथ-साथ हवाएँ भी बढ़ती जाती थीं। कमरे में रोशन मिट्टी के तेल का लैम्प भड़कने लगा। घर के मालिक ने उठकर उसकी लौ कम कर दी। कमरा कुछ और धुँधला हो गया। वह दोनों एक लम्हे को जाने क्यों खामोश हुए, ऐसा लगता था जैसे अपनी-अपनी जगह दोनों कहीं खो गये हैं। शायद वह कुछ याद करने की कोशिश कर रहे थे। अन्दर से पढ़ने की आवाज़ें फिर उभरीं। कमरे में सन्नाटा कुछ और फैला। 'यासीन शरीफ़ है।' एक ने बहुत ही धीमी आवाज़ में कहा। 'हाँ, यासीन शरीफ़ ही है' दूसरे

ने खुद कलामी के अन्दाज़ में दोहराया।

मैं झूठ नहीं कहूँगा। उस वक़्त मुझे 'व्याख्या से परे क़िस्म' का ख़ौफ़ महसूस हुआ और मेरी रीढ़ की हड्डी में सुइयाँ चुभने लगीं।

मैं जानता हूँ कि यासीन शरीफ़ जान निकलते वक़्त के हालात में पढ़ी या सुनायी जाती है। इसके सुनने से और पढ़ने से जान निकलने में ज़्यादा तकलीफ़ नहीं होती। रूह बहुत आसानी से जिस्म से निकल कर उड़ जाती है। (मगर ऐसा नहीं है कि सिर्फ़ मरते हुए इंसान की तकलीफ़ कम करने की ग़रज़ से ही यासीन शरीफ़ का पढ़ना अच्छा हो, बल्कि यासीन शरीफ़ तो हर शख़्स को पढ़ना और सुनना चाहिए। ख़ासतौर से तब जब उसके पुट्ठे और होश अच्छी तरह अपने फ़र्ज़ को अंजाम दे रहे हों)।

कौन सुन रहा था ?

'यासीन शरीफ़ तो ये लोग कल से ही पढ़ रही हैं... मगर...' घर के मालिक वाक्य अधूरा छोड़कर खामोश हो गये।

कौन सुन रहा था ?

इन्ना जअलना फ़ी अना क़िहिम आलन फ़मी इला ला ज़काने

(तहक़ीक किया हमने बीच गर्दनों उनके पट्टे। इस तरह वह ठोड़ियों तक है)

दोनों औरतों की आवाज़ें तक़रीबन ग़ैर जज़्बाती होते हुए भी काँप रही थीं या मुझे काँपती हुई महसूस हुईं।

दस्तरख़्वान पर पड़ी झूठी हड्डियों के ढेर पर वही पतंगा बार-बार उड़े जा रहा था। लैम्प की लव मद्धम हो जाने की वजह से कमरे की सफ़ेद चूने से पोती गयी दीवार पर उन हड्डियों के साये क़ाबिले रहम हद तक धुँधले नज़र आते थे। किसी भी किस्म के इमकान से यकसर खाली, क़तई मायूस कुन।

काल मन यही अलअजाम वही रहीम कुल यहीहा अलज़ी इन्शाहा अव्वल मर।

(बोलो ऐसा कौन है जो हड्डियों को ज़िन्दा करे जब वह बिलकुल गल गयीं। तुम कह दो उन्हें वह ज़िन्दा करेगा जिसने पहली बार उन्हें बनाया।)

और अब मुझे साफ़ एहसास हुआ कि धीमे लहजे में यासीन शरीफ़ पढ़ती उन दो औरतों की आवाज़ों में से एक की आवाज़ शायद आहिस्ता-आहिस्ता रूँधती जा रही है। जाड़ों की लम्बी रात अपने सन्नाटे की तरफ़

बढ़ रही थी। धुँधले होते हुए उस आधे अँधेरे कमरे और यासीन शरीफ़ दुहराती हुई उन उदास आवाज़ों के दरम्यिान एक ख़ामोशी आकर खड़ी हो गयी।

सबसे पहले ग़ज़ल के शाइर उठे थे। आखिरी सिगरेट जूते से मसलकर उनकी काले चमड़े के जैकेट का कालर खिड़की से आने वाली हवा में फड़फड़ाया। मैं तख़्त से उठकर अपने जूते पहनने लगा। और तब मेरे साथ घर के मालिक भी अपना काला मफ़लर सख़्ती से कानों से लपेटते हुए खड़े हो गये। उन्हें ज़ुकाम बहुत जल्द-जल्द हो जाता है। उस वक़्त भी उनकी नाक सुरसुरा रही थी।

जब मैं जूते पहनकर खड़ा हुआ तो मुझे महसूस हुआ कि मेरे जूते तंग नहीं है और पैरों को कहीं से नहीं काट रहे हैं। हालाँकि जब भी मैं खाना खाकर ज़्यादा देर इस तरह बैठा रहता हूँ तो मेरे पैर सूज जाते हैं और जूते उन्हें काटने लगते हैं। मगर इस बार सब ठीक था। कोई मसअला ही न था।

'देखो शायद आज रात में ही....' नज़्म के शाइर ने फ़र्श की तरफ देखते हुए दबी-दबी ज़बान में कहा। मगर उनका लहजा सन्देह की दहशत से खाली था। 'हाँ लगता तो यही है। कल दिन भी अच्छा मिल जाएगा।' ग़ज़ल के शाइर ने जवाब देने के से अन्दाज़ में आहिस्ता से कहा (कल जुमा है)।

'बहर हाल.... जैसा भी हो। फ़ौरन ख़बर कर देना।' मैं अपने संवेदनशील होने का सुबूत देते हुए कुछ-कुछ तसल्ली देने वाले अन्दाज़ में बोला था। खड़े होने पर कमरे की दीवार पर हम तीनों की देव-सी लम्बी परछाइयों ने हड्डियों के उदास साये को पूरा-पूरा ढँक लिया। मगर तब ही मुझे इस नाक़ाबिले यक़ीन बात का एहसास हुआ कि वह हड्डियाँ जो चौपायों के घुटनों और पिण्डलियों में पायी जाती हैं, अचानक उन दोनों के चेहरे पर उग आयी हैं। खुद शायद मेरे चेहरे पर भी, क्योंकि हाथ फेरकर उनकी नोकें और उभार मैंने साफ़ तौर पर महसूस किये।

लैम्प की धुँधली और मैली-सी रोशनी में उन दोनों के चेहरे गन्दे सालन की तरह नज़र आ रहे थे।

दाँतों के दरम्यिान फँसे गोश्त के चन्द रेशे और सरसराती हवा और पेट में बनने वाली नर्म गैस की बदबू लिए हुए एक सुअर (सुअर लफ़्ज़ अब मैंने आख़िरी बार इस्तेमाल किया है) की तरह जब मैं सामने को गर्दन उठाये घर से बाहर डोलता हुआ चला तो मेरे पीछे टीन का दरवाज़ा हवा से बजने लगा। अचानक बिजली आ गयी। नालों में रुका काला पानी चमकने लगा।

गली के दोनों तरफ़ तक़रीबन एक से बने मकानों के नीचे सण्डास फिर रौशन थे। उन पर मेरी निगाह पड़ी तो मैंने उकार ली (या शायद उकराया)। यहाँ तक की रात तो गुज़र गयी थी। अब घर पहुँच कर सो जाना

था।

बस अब राम गंगा में क़िले की नदी गिरती है। मायूस नाली की तरह, सुस्त रफ़्तार और सड़ती हुई। ये मेरी भटकन की बन्द गली है। अपनी याददाश्त का पीछा करने की मेरी आखिरी कोशिश। ये एक क़िस्म की बेचेहरगी है। एक भिनभिनी नाक से निकलती आवाज़ के अलावा मेरे पास अब कुछ नहीं है। वह बीचा का चेहरा मैंने उतारकर रख दिया है कि अब उससे मुझे या आपको कोई फ़ायदा नहीं पहुँचने वाला।

ये एक क़िस्म की खुदकशी है। बुज़दिली, बेईमानी, सुस्ती और काहिली के साथ जब आप मौत को फ़तह करने के लिए निकलते हैं तो अंज़ाम यही होता है। इसके बावजूद कि ये कहानी एक क़िस्म की खुदकुशी थी, मैं आपको ये बता देना चाहता हूँ कि ये सतरें हरगिज़ उदास न थीं। ये दरअस्ल उदास हो जाने की कोशिश में लिखी गयी थीं।

मैं तो खुशी के एक झूमते हुए कीचड़ के रंग के हाथी पर सवार हूँ। मस्त हाथी, गुरूर से भरा, नशे में झूमता हुआ शहर की चौड़ी-चौड़ी सड़कों पर डोलता है। शेख़ी उसकी मिची हुई आँखों और हिलती हुई सूँड से टपकती जाती है। बिखरती जाती है। उसके खम्भों जैसे बेख़बर पैरों के नीचे उसकी अपनी ही शेख़ी कुचली जाती है। अपनी ही अना और अपना ही नशा कुचला जाता है।

चलिए.... चवन्नी वाला खेल ख़त्म हुआ।

तमसील, प्रतीक और रूपक से बिलकुल खाली ये कहानी इस मक़ाम पर आकर ख़त्म हो जाती है। अब मुझे कुछ नहीं करना है सिवाए ये देखने के कि क्या मेरी पीठ पर वह गन्दी लिजलिजी छिपकली अभी तक चिपकी हुई है या उतर चुकी है। मगर अपनी पीठ तक हाथ ले जाने में मुझे ख़ौफ़ क्यों महसूस होता है।

ज़िन्दों के लिए एक ताज़ियतनामा*

ख़ालिद जावेद

> हम एक साँप बनाना चाहते थे। या वह एक नुक़्ता था जो साँप हो जाना चाहता था मगर रास्ते में उसने अपना इरादा बदल दिया और अपनी दिशा बदल दी।
>
> अब वह कुछ और हो गया है। अपने अधूरेपन में लटका, हवा में इधर-उधर डोलता हुआ।
>
> **क्लेमण्टे**

पेट में किसी तूफ़ान की तरह लगातार बढ़ते हुए तेज़ दर्द से होश खोते होते हुए, उसने पहले तो सड़क के एक तरफ़ दौड़ लगायी, फिर ख़तरनाक ट्रेफ़िक की कोई परवाह किये बगैर, सड़क के उस पार, दूसरी तरफ़, इस पार भी बहुत दूर तक दौड़ा। यहाँ भी वही जगमगाता हुआ बाज़ार, साफ़-सुथरी दुकानें और खूबसूरत चमचमाते हुए घर। बाक़ायदा शहरी मन्सूबा बन्दी के तहत बनवाये गये तक़रीबन एक जैसे घर जैसे एक ही डिज़ाइन की क़ब्रें। हर क़ब्र एक-दूसरे की नक़ल या हर मौत एक-दूसरे का चर्बा।

वह मायूसी से एक बिजली के खम्बे से टिक कर खड़ा हो गया और हाँपने लगा।

उसने सोचा राजपथ से उतरकर इन गलियों में निकल जाना चाहिए जो एक-दूसरे को नब्बे डिग्री के कोण से काट रही हैं। शायद इधर मिल जाए। वह शाहराह से हटकर जल्दी-जल्दी एक गली में घुसता चला गया। सामने बड़ा-सा पार्क था। यह गलियाँ भी अन्दर से शाहराह की तरह चमक रही थी। हर तरफ़ बिजली के बल्ब लटक रहे थे, किसी भी कोने में, कहीं भी कोई तारीकी नज़र न आयी। वह तारीकी के लिए तड़प रहा था। काश कोई ख़ाली दीवार होती। किसी मकान का कोई अन्धेरा पिछवाड़ा ही होता।

वह चोरों की तरह मकानों के आगे-पीछे चक्कर लगाने लगा। मगर किसी मकान की कोई पीठ न थी।

*जीवितों के लिए शोक-पत्र

मकानों के जिस्म पर सिर्फ़ उनके चेहरे ही चेहरे थे। हर तरफ़ गज़ब की सफ़ाई थी।

सारा शहर साफ़-रौशन और चमकता हुआ जैसे अभी-अभी लाण्ड्री से लाया गया सफ़ेद कलफ़ लगा कुर्त्ता-पाजामा हो। उसने सूँघा। चारों तरफ़ से कपड़े धोने वाले खुशबूदार साबुन की तेज़ महक आ रही थी।

काश कहीं से कोई बदबू का झोंका भी आ जाता। उसने सोचा मगर ठीक उसी वक़्त, पार्क में लगे हुए फूलों के पौधे हवा में लहराने लगे। साबुन में फूलों की खुशबू भी मिल गयी। अब वह और भी घबरा गया।

सामने वाली गली में चलना चाहिए। उसने सोचा और एक हस्यास्पद जल्दबाज़ी के साथ किसी परेशान हाल मेंढक की तरह उछलता-कूदता वह सामने वाली गली में आ गया। मगर यहाँ भी बिल्कुल उसी तरह का पार्क, वैसी ही खुशबू। पार्क में बैठे हुए उसी क़िस्म के लोग, हँसते-बोलते और काना-फूसी करते हुए।

नाली नाली कहाँ है ? उसने किसी नाली की तलाश में नज़रें दौड़ायी मगर तमाम नालियाँ शायद पाताल में बह रही थीं।

जानवर ? जानवर कहाँ है ?

मगर तमाम जानवर शायद गन्दगी के नाम पर काटे जा चुके थे।

सुअर ही नहीं, कुत्ते और बिल्ली तक नहीं।

अफ़सोस कि उसने अभी तक किसी कुत्ते को नहीं देखा और न कहीं से उसके भौंकने की आवाज़ आयी। मायूस होकर वह धम से ज़मीन पर बैठ गया और अब उसे महसूस हुआ जैसे वह ज़मीन पर नहीं, एक तनी हुई उजली सफ़ेद चादर पर बैठा था। चादर जो हवा में लटकी थी। शायद बैठते वक़्त उसे चक्कर आ गया था। वह फ़ौरन उठकर खड़ा हो गया और दोनों हाथ खला में फैला दिये ताकि आने वाले चक्करों से लड़ सके। दर्द अब बढ़ रहा था। चक्कर उसके करीब आ रहे थे। वह ज़ोर-ज़ोर से हाथ हिला-हिलाकर, चक्करों को अपने से दूर हटाने की कोशिश करने लगा। फिर वह आगे बढ़ा और इसी तरह झूमता, चकराता, बायीं तरफ़ वाली पतली गली में जाने लगा मगर जल्द ही यह गली फिर उसी बड़ी रौशन सड़क से जाकर मिल गयी जहाँ से वह इधर आया था।

उसने एक बार फिर दौड़ते हुए खतरनाक ट्रेफ़िक को पार किया और सड़क के दूसरे किनारे पर आ गया। वह आहिस्ता-आहिस्ता दक्षिण की तरफ़, फुटपाथ पर चलने लगा। फुटपाथ के किनारे बस गुब्बारे ही गुब्बारे या फिर चाट के ठेले, ही ठेले जहाँ पकी-पकाई औरतें, अश्लील अन्दाज़ में अपने लिपिस्टिक लगे होंठ खोल-खोलकर गोल-गप्पे खा रही थीं।

एक जगह रुककर उसने आसमान की तरफ़ उन्हीं औरतों की नक़ल में फ़ोहश अन्दाज़ में मुँह खोलकर देखा। आसमान काला और सुर्ख़ हो रहा था। उसके मुँह में दिसम्बर का कोहरा भर गया। उसकी नाक से पानी बहने लगा। उसे एक के एक कई छींके आयीं और वह तकलीफ़ से बिलबिला उठा। उसे महसूस हुआ जैसे इन छींकों में एक चमकता चाकू उसके पेडू में धँस गया हो, सारा जिस्म हिल रहा था।

कहीं कोई गड्ढ़ा, कोई तालाब, कोई पोखर ?

कहीं कोई गटर, कोई नाली ?

मगर नहीं अब दुनिया में ऐसी चीज़ें कहाँ।

कहीं कोई कूड़ाघर ?

नहीं सारे कूड़े के ढेर फूलों के बाग़ान में बदल चुके थे।

उसकी नज़र सामने लगे चमकते हुए साईन बोर्ड पर पड़ी जहाँ सुर्ख़ रंग का फाँसी का फन्दा बना हुआ था और तहरीर थी।

सड़क पर सिगरेट पीने वाले का जुर्माना सजाए-मौत है। फ़िज़ा को किसी तरह गन्दा करने वाले को जनपथ पर फाँसी दी जाएगी।

वह बुरी तरह ख़ौफ़ज़दा हो गया। उसे सर्दी लगने लगी। उसकी चमड़े की पुरानी जैकिट में बड़े-बड़े सुराख़ हो गये थे। इन सुराख़ों से सर्द हवा और कोहरा अन्दर पहनी हुई मुद्दतों से मैली उसकी नीली कमीज़ में सीने के पास आ गये। इस नीली कमीज़ में भी छेद थे। कोहरा उसके सीने के बालों को गीला करने लगा। उसके बरसों पुराने जूतों में ठण्डी हवा आकर बैठ गयी। उसने यूँ ही एक बार फिर आसमान की तरफ़ देखा। एक पल को चाँद नज़र आया मगर उसके देखते ही चाँद अचानक कोहरे की क़नात के पीछे चला गया।

वह फुटपाथ से उतरकर कोलतार की स्याह सड़क पर आ गया।

दर्द इसी तरह आगे बढ़ रहा था जैसे एक ख़राब छड़ी की सुई, रुक-रुककर झटके लेकर आगे बढ़ती है।

रात ज़्यादा हो गयी थी। बाज़ार बन्द होने लगा। सड़क पर चहल-पहल कम होने लगी मगर पुलिस बढ़ने लगी। सफ़ाई की हिफ़ाज़त करने के लिए, चप्पे-चप्पे पर सफ़ेद वर्दियाँ पहने पुलिस वाले मौजूद थे। उनकी वर्दियाँ साबुन और फूलों की खुशबू से महक रही थीं। और वे इतनी ज़्यादा सफ़ेद थीं कि कोलतार की काली सड़क इनके चमकते हुए अक्स से, नाक़ाबिले यकीन हद तक सफ़ेद नज़र आती थी। वह सड़क पर सिगरेट-बीड़ी पीने

वालों या फ़िज़ा में गन्दगी फैलाने वालों को यहीं शार-ए-आम पर फाँसी देने की तैयारी करके निकले थे। उनके हाथों में सफ़ेद चिकनी रस्सियों के फन्दे थे। वह अपने आप में खुद मुक्तफ़ी जल्लाद भी थे। इसी लम्हे उसे महसूस हुआ जैसे उसका पेट फट जायेगा। वह पागलों की तरह दायीं तरफ़ वाली गली में भागने लगा जैसे यमदूत उसका पीछा कर रहा हो।

सामने उसे एक घर नज़र आया जिसकी खिड़कियों से रौशनी बाहर आ रही थी। रौशनी में उसने अपनी बेढंगी और डोलती हुई परछाई को गौर से देखा और फिर जल्दी-जल्दी कुछ न सोचते हुए उस घर के दरवाज़े पर ज़ोर-ज़ोर से दस्तकें देने लगा।

दरवाज़ा अभी अन्दर से बन्द न था। वह उसके हाथों के ज़ोर से खुल गया।

उस कमरे में दो मर्द और दो औरतें खाने की मेज़ पर बैठे थे।

उसने इनके सामने हाथ जोड़ दिये।

'बस। पेशाब करने के लिए.... यक़ीन करें। खुदा के लिए कि बस पेशाब करने के लिए।' वह घिघिया रहा था। कोई मेज़ से उठा तक नहीं।

दोनों मर्द जुड़वाँ थे और औरतें भी। दोनों की उम्रों में भी फ़र्क न था। वे एक मनहूस और न समझ में आने वाली एक जैसी खाने की मेज़ पर तारी थे। वे अपना शोरबा पीने में मगन थे।

'मैं पेशाब करने के लिए आपके घर चला आया हूँ, मुझे अहसास है कि यह एक असभ्य और ग़लत बात है। आपका घर, जनाब कोई आम पेशाबघर नहीं, जहाँ कोई ऐरा-ग़ैरा मुँह उठाये घुसा चला आये। मगर आप मुझे एक बिन-बुलाया या ग़रीब मेहमान समझकर माफ़ कर दें। मुझे बहुत तकलीफ़ है। मेरा मसाना फटा जा रहा है। मेरे गुर्दे में पथरी है। बराहे मेहरबानी मुझे पेशाबघर का रास्ता दिखा दें। मैं ज़िन्दगी भर आपका एहसानमन्द रहूँगा। आप लोगों के क़दम धो-धोकर पीता रहूँगा।'

उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। उसने अपने दोनों हाथों से पेट पकड़ लिया और तकलीफ़ की शिद्दत से दोहरा हो गया मगर फ़ौरन इस अन्दाज़ को बदतमीज़ी समझते हुए उसने पेट पर से हटाकर दोबारा उनके सामने हाथ जोड़ दिये।

मर्द ने अपने हमशक्ल की तरफ़ और औरत ने अपनी हमशक्ल की तरफ़ देखा। फिर वे चारों सफ़ेद छत की तरफ़ देखने लगे।

'मैं मजबूर हूँ, बेहद मजबूर और शदीद बीमार। मुझ पर रहम कीजिये।' उसने सर्दी और तकलीफ़ की

शिद्दत से कँपकँपाते हुए मिन्नत की। मगर उसकी यह कँपकँपाहट सर्दी खाये हुए, बुख़ार में मुब्तिला किसी कुत्ते के जैसी थी।

'हम तुम्हें पुलिस के हवाले करने जा रहे हैं। बताओ तुम कहाँ से आये हो।'

उन चारों ने एक साथ कहा। मर्दाना और जनाना आवाज़ों ने मिलकर इस जुमले को एक भुतहे शोर में तब्दील कर दिया।

'नहीं। खुदा के लिए नहीं।' तक़रीबन यकसा आवाज़ों के इस आसेबी शोर से घबराकर उसने इल्तिजा की।

'मेरा यक़ीन कीजिये मैं चोर नहीं, एक शरीफ़ आदमी हूँ। शायद इस दुनिया में, मैं भी कहीं रहता ही होऊँगा मगर आज मैं भटक गया हूँ। अपने घर जाने का रास्ता भूल गया हूँ। यह शहर मुझे अजनबी लग रहा है। शायद मैं बहुत दिन तक सोता रहा हूँ या बेहोश रहा हूँ या फिर मुमकिन है कि मेरी अक़्ल और याददाश्त दोनों ही खराब हो गये हैं मगर इतना मैं यकीन के साथ कह सकता हूँ कि आप यकीन करें कि आपके घर में सिर्फ़ पेशाब करने के लिए ही आया हूँ। बाहर सड़कों पर, चौराहों पर, गलियों में मुझे कहीं भी अवामी पेशाबघर नज़र नहीं आये। मैंने उन्हें बहुत ढूँढा। शाम से इधर-उधर ठोकरें खाता फिर रहा हूँ। गलियों-गलियों भटक रहा हूँ मगर सड़क पर पेशाब करने की सज़ा फाँसी है। वे सब फाँसी का सफ़ेद फन्दा लिए हुए शिकारी कुत्तों की तरह मेरी तलाश में हैं।'

यह कहते-कहते अपने दोनों हाथ जोड़े वह उनके सामने घुटनों के बल बैठ गया और किसी भीगे हुए, कमज़ोर और बीमार बिल्ले की मानिन्द काँपने लगा। उन सबके कपड़ों से साबुन और फूलों की मिली-जुली खुशबू आ रही थी। इसी खुशबू पर कभी-कभी भुने हुए करमकल्ले की बू हावी हो जाती थी।

एक मर्द ने खाने वाली सफ़ेद चमकती हुई छुरी उठायी और कुर्सी से उठकर, उसके करीब आ गया। 'ज़लील चोर, तुझे नहीं मालूम कि घरों में टॉयलेट नहीं होते ? वह गुर्राया।'

क्या मतलब ? इस बार दर्द से नहीं, हैरत से उसकी आँखे फूटकर रह गयीं। 'चलो पुलिस को फ़ोन करो।' मर्द ने दूसरे मर्द से कहा।

दूसरे मर्द ने पहली औरत से कहा, 'चलो पुलिस को फ़ोन करो।'

पहली औरत ने दूसरी औरत से कहा, 'चलो पुलिस को फ़ोन करो।'

जुड़वा इंसान उसे हमेशा भयानक और रहस्यमय लगते थे। इससे उनकी ताक़त, नफ़रत और तरहुद में

ज़बरदस्त इज़ाफा हो जाता था, वह ख़ालिक़े कायनात की खुलेपन के खिलाफ़ नज़र आते थे। अगर एक शख़्त आपको ज़मीन पर गिराकर ज़िबाह कर रहा हो तो आप उसके दूसरे साथियों से कम अज़ कम रहम की भीख माँग सकते हैं। या आँखों ही आँखों में इल्तिजा कर सकते हैं। मगर इत्तिफ़ाक से वे सब एक-दूसरे के हमशक़्ल हों या जुड़वाँ हो तो यह क़तई नामुमकिन है।

'नहीं, मुझे माफ़ कर दें। मैं इनके हाथों क़त्ल होना नहीं चाहता। मैं मरना नहीं चाहता, मैं चोर नहीं।' वह उसी तरह घुटनों के बल उनके सामने हाथ जोड़े बैठा रहा।

उसके मुँह से बार-बार लरज़ती हुई आवाज़ में यह अल्फ़ाज निकल रहे थे। 'पेशाब, बस पेशाब, मैं बेक़ूसूर हूँ, बीमार हूँ।'

'तुम पागल हो, घरों में ऐसी चीज़े बनाने से गन्दगी और बीमारियाँ फैलती हैं। अब कोई ऐसी घिनौनी और गलीज़ हरकतें नहीं करता। चलो निकलो। अपने दिमाग़ के इलाज के लिए अस्पताल जाओ।'

फिर वह चारों एक साथ बोले।

मगर जुमले के शोर में वह कुछ भी न समझ सका और उसी तरह उनके सामने पड़ा बिलबिलाता रहा।

तब वह मर्द जिसके हाथ में खाने वाली चमकती हुई छुरी थी, उसके और क़रीब आया। चमकती हुई छुरी का सफ़ेद दस्ता उसके सिर पर पड़ा। वह एक खाली डिब्बे की तरह पीछे दरवाज़े की तरफ़ खुद-ब-खुद लुढ़कता चला गया। वह एक मामूली कीड़े की तरह घर से बाहर फेंक दिया गया।

दरवाज़ा एक तेज़ आवाज़ के साथ अन्दर से बन्द कर दिया गया।

वहाँ, ज़मीन पर औंधे पड़े-पड़े उसने अपने सिर के क़रीब ताँबे के एक ख़ाली कटोरे को रखा हुआ महसूस किया और ख़ला से टपकती हुई ख़ून की भयानक बूँदों की डरावनी 'टप-टप' को सुना जो वक़्फ़े-वक़्फ़े से कटोरे में गिरती थीं।

बहुत देर बाद दोनों हाथ ज़मीन पर टेककर वह बड़ी मुश्किल से उठ सका। उसे लगा जैसे पेट का दर्द ग़ायब हो गया है। अब पेशाब भी शायद नहीं लग रही थी। मगर सिर बुरी तरह दुख रहा था और आँखों में तारे नाच रहे थे। वह कोहरे की चादर में लिपटा हुआ, डगमगाता हुआ दिशाहीन आगे बढ़ने लगा। सड़कों पर ट्रेफ़िक का शोर ख़त्म हो रहा था। सन्नाटा छा रहा था मगर सर्दी बढ़ने लगी। सर्दी का अपना शोर था। इस शोर को उसके कान नहीं बल्कि उसकी खाल सुन रही थी। जिस तरह साँप आवाज़े सुनता है। उसके फेफड़े और दिल सर्दी के इस काले भयानक शोर से सहमकर सिकुड़ जाते थे। अब उसे फिर अपने पेट में दर्द महसूस हुआ

और इस असर का खुलासा भी कि उसके पेट में रहने वाला दर्द, उसके दुखते हुए सिर को दिलासा देने के लिए कुछ लम्हों के लिए पेट और पेड़ू से रेंगता हुआ, ऊपर सिर की तरफ़ आया था और अब वापिस अपने असल ठिकाने की तरफ़ जा रहा था।

उसे बहुत ज़ोर से पेशाब की हाजत हुई। उससे बर्दाश्त न हो सका। बगैर कुछ सोचे और अपनी जान की परवाह किए वह अपने काँपते हाथों की उँगलियों से पतलून की फ़्लाई के बटन खोलने लगा।। वह अब इस सुनसान सड़क पर पेशाब कर देने के लिए तैयार था।

चप्पे-चप्पे पर झूमते हुए फाँसी के फन्दों को वह इस तरह भूल गया जैसे वह रस्सी के नहीं, बल्कि धूल और ख़ाक से बने हुए फन्दे थे और जिन्हें कभी उसने ख़्वाब में देखा था। मगर फ़्लाई के बटन खोलते ही उसे यह भयानक अहसास हुआ जैसे वहाँ सिर्फ़ बर्फ़ का एक टुकड़ा था। पेशाब की हाजत बर्फ़ की जलती हुई आग बन गयी थी। एक ठण्डा बर्फ़ का गहरा जख़्म। उसकी उँगलियाँ बर्फ़ के इस जहन्नम में सुन होकर कटने लगीं, खुली हुई फ़्लाई में दिसम्बर की आधी रात की सर्द हवाएँ और कोहरे की उड़ती हुई धज्जियाँ दाखिल होने लगी।

शायद लाशऊरी तौर पर खौफ़ की वजह से यहाँ पेशाब न उतर रहा हो। उसने सोचा और उसे एक बार फिर सड़कों पर मार्च करते हुए, सफ़ेद वर्दी में लिपटा, साबुन और फूलों की खुशबू से नहाये हुए हाथों में फाँसी के फन्दे उठाये हुए जल्लाद याद आ गये।

उनका ख़्याल आते ही वह घबरा गया और फ़्लाई के बटन बन्द करना भूल गया। बुरी तरह परेशान और बेहाल होते हुए वह जल्दी-जल्दी बड़ी सड़क की तरफ़ जाने वाले रास्ते पर चलने लगा।

चलते-चलते एक जगह ठिठक गया। यह एक सिनेमा हॉल था। वह खुशी और उम्मीद से भर गया। यहाँ तो हर हाल में पेशाबख़ाना होगा। उसे जगत टाकीज़ में कतार से बने हुए पेशाबख़ाने याद आ गये। अभी रात का शो छूटने में कुछ वक़्फ़ा था। सिनेमा हॉल का चौकीदार अन्दर से बन्द ताले खोलने की तैयारी करते नज़र आया। वह झपटता हुआ चौकीदार तक पहुँचा। यहाँ भी साबुन और फूलों की महक मौजूद थी। चौकीदार ने उसे ग़ौर से देखा।

'एक मिनट के लिए दरवाज़ा खोल दो भाई' उसने आग्रह किया।

'अब क्या भाड़ झोंकने आये हो, फ़िल्म खत्म हो रही है। अगर एक घण्टा पहले आते तो चुपके से बाल्कनी में बिठा देता। सिर्फ़ दस रुपये में। अब क्या हो सकता है। अब तो हीरोइन अपनी जान दे भी चुकी है। फ़िल्म खत्म हो गयी।'

'मैं फ़िल्म देखने नहीं आया मुझे पेशाब करना है।'

'क्या पागल है तू।'

'नहीं भाई। मेरे गुर्दे में पथरी है। मेरा पेट फटा जा रहा है। मैं कहीं मर न जाऊँ। मुझे हाल के अन्दर किसी पेशाबख़ाने तक पहुँचा दो। बस पेशाब करके अभी आ जाऊँगा।' वह और भी शिद्दत के साथ गिड़गिड़ाया।

'चल-चल। आगे बढ़। यहाँ अब पेशाबख़ाने नहीं बनाये जाते, आगे बढ़, वरना पुलिस को बुलाता हूँ।'

गार्ड ने अपना डण्डा हाथ में उठाते हुए उसे बुरी तरह धुत्कारा।

उसने नज़र उठायी तो सिनेमाहाल के ऊपर विशाल पोस्टर हवा में फड़फड़ा रहा था। उसे यह हिलता हुआ पोस्टर फाँसी के फन्दे जैसा नज़र आया। वह किसी खौफ़ज़दा जानवर की तरह वहाँ से भड़क कर भागा।

इस तरह भागने की वजह से उसके जिस्म के निचले हिस्से में बुरी तरह चुभन होने लगी जैसे नोंकदार ककरी वहाँ आकर फँस गयी हो। यह भयानक चुभन कभी उसके पेडू तक पहुँचती और कभी नाफ़ तक। दर्द और तकलीफ़ की इसी हालत में दूर तक भागता चला गया। पता नहीं यह शहर उसके भागते हुए क़दमों की आवाज़ सुन रहा था या नहीं मगर उसने भागते-भागते दूर कहीं रेल की सीटी ज़रूर सुन ली।

वह रुक गया और अपनी साँसे दुरुस्त करने लगा।

रेलवे-स्टेशन चलना चाहिए। वहाँ तो ज़रूर पेशाबघर होंगे। जाने कहाँ-कहाँ से मुसाफ़िर आते-जाते रहते हैं। उसने अपने दिल को तसल्ली दी और उसे एक बार फिर अपना बचपन याद आ गया जब रेलवे-स्टेशनों पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा होता था।

'बम पुलिस मर्दाना' 'बम पुलिस ज़नाना।' एक बार फिर क़रीब ही कहीं, रेल की सीटी सुनायी दी और उसने आवाज़ से अन्दाज़ा लगाते हुए, सड़क से उतरकर दाँयी तरफ़ चलना शुरू कर दिया। उसका अन्दाज़ा गलत नहीं निकला, वह एक छोटे-से मगर जगमगाते हुए रेलवे-स्टेशन के सामने खड़ा था।

भीड़ नहीं थी। इक्का-दुक्का मुसाफ़िर ही नज़र आ रहे थे। स्टेशन पर ग़जब की सफ़ाई थी, इमारत सफ़ेद थी और गोया इत्र की खुशबुओं में बसी हुई थी। वह दौड़ता हुआ अन्दर आया। जैसे उसकी ट्रेन छूट रही हो। प्लेटफ़ार्म सुनसान पड़ा था। एक सफ़ेद पट्टी के मानिन्द जिसके नीचे लोहे की बेड़ियाँ दूर तक बिछी हुई नज़र आ रही थीं और लाल-हरे सिग्नलों का एक जाल था। वह प्लेटफ़ार्म के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ता चला गया। कई जगह उसने खोंचे वालों से टकराकर ठोकरें और गालियाँ भी खायी मगर जिसकी तलाश थी, वह नज़र नहीं आया।

मजबूर होकर, थके हुए उसने एक बूढ़े मुसाफ़िर की तरफ़ देखा। बूढ़ा अपना एक अजीब सा बैग, जो

तक़रीबन एक फुटबाल की तरह था और जिस पर गधे के कान बने हुए थे, काँधे पर डाले लोहे की पटरियों को खामोशी से तके जा रहा था।

उसने पूछा, 'जनाब यहाँ टॉयलेट किस तरफ़ है ?'

'क्या' बूढ़े के मुँह से एक सीटी-सी निकली।

'टॉयलेट, मेरा मतलब है पेशाब वगैरह करने के लिए।'

बूढ़े ने उसे और उसने बूढ़े को ग़ौर से देखा।

बूढ़े का चेहरा एक गहरे ज़ख्म के निशान की वजह से दो हिस्सों में बटा हुआ था। लगता था जैसे यह एक चेहरा न होकर दो चेहरे हैं, जो एक साथ उसे रहस्यमय अन्दाज़ में घूर रहे थे। यह एक लम्बा ज़ख्म था, जो पेशानी से लेकर ठोरी तक जा रहा था। एक गुलाबी सफ़ेद लकीर।

'मुझे पेशाब करना है। मेरा पेडू फूल रहा है। मेरे गुर्दे में पथरी है। अगर मैंने पेशाब नहीं किया तो मर जाऊँगा। मेहरबानी करके मुझे बताएँ कि मैं कहाँ पेशाब करूँ ?'

उसने तोते की तरह रटे-रटाये जुमले अदा किये।

'तुम कहाँ से आये हो ?' बूढ़े की आवाज़ वाकई एक सीटी की तरह थी।

'जनाब-यक़ीन करें। इस वक़्त मुझे याद नहीं आ रहा। दर्द की शिद्दत ने दिमाग कुन्द कर दिया है। मेरा दिल बैठा जा रहा है।' उसने लरज़ती आवाज़ में जवाब दिया।

'क्या तुम भूल गये कि अब इस दुनिया में कहीं कोई पेशाबख़ाना नहीं।'

'आप मज़ाक कर रहे हैं। मैं बहुत तकलीफ़ में मुब्तिला हूँ।'

'मैं तुम्हें मज़ाक करने वाला आदमी नज़र आता हूँ। मज़ाक मेरे रुतबे की चीज़ नहीं। देखते नहीं मैं कितना संजीदा हूँ। मैं एक प्रोफ़ेसर हूँ।' सीटी बहुत ज़ोर से गूँजी।

'ओह माफ़ कीजिएगा। भला मुझे क्या पता। मैं तो पेशाब....'

क्या तुम अन्धे हो। मेरे चेहरे पर इल्म-ओ-दानिश का यह ज़ख़्म नहीं देखते। 'हर सच्चे प्रोफ़ेसर के चेहरे पर यह ज़ख्म होता है।'

उसने अपने कानों में एक के बाद एक कई खतरनाक सीटियों को सुना। उसी वक्त एक बेहद तेज़ रफ़्तार ट्रेन शोर मचाती दिल दहलाती और पटरियाँ हिलाती गुज़री। वह इस स्टेशन पर रुकी नहीं। ट्रेन के गुज़र जाने

के बाद, उसे इतना सन्नाटा महसूस हुआ जैसे वह सांय-सांय करते हुए एक जंगल में खड़ा था।

'देखो अहमक आदमी। स्टेशन के बाहर पुलिस वालों की चौकी है। अगर तुमने उनसे अपनी इस वाहियात और भद्दी ख़्वाहिश का ज़िक्र किया तो तुम्हें फ़ौरन फाँसी दे दी जाएगी। गन्दगी में वृद्धि करने वाले पर कोई मुक़दमा नहीं चलाया जाता बस फौरन फाँसी दे दी जाती है।'

बूढ़े की साँसों के दरम्यान बजने वाली सीटियों से एक खौफ़नाक बोली बरामद हो रही थी। न जाने क्यों एक पल के लिए उसके पेडू में चुभने वाली कँकरी शायद इधर-उधर हो गयी।

दर्द कुछ हद तक काबिले बर्दाश्त महसूस हुआ। 'तो जनाब क्या इस शहर के लोग फ़ितरी ज़रूरियात रफ़ा नहीं करते ?' उसने डरते हुए सवाल किया।

'हाँ, अगरचे मुझे इल्म है कि तुम या तो पागल हो या फिर कोई जासूस। मगर मैं तुम्हारे हर सवाल का जवाब दूँगा। जबसे यूनिवर्सिटी ने मुझे रिटायर किया है। लोगों ने मुझसे सवाल करना बन्द कर दिये हैं। जब बहुत दिनों तक किसी प्रोफ़ेसर से सवाल नहीं पूछा जाता तो उसके चेहरे पर लगे हुए इल्म-ओ-दानिश के ज़ख़्म में ख़ारिश होनी शुरू हो जाती है और ख़ारिश बजाये खुद एक गन्दगी है।'

बूढ़ा रुका और फिर कुछ इस तरह बोलना शुरू कर दिया जैसे मजमे को सम्बोधित कर रहा हो।

'ज़माना हो गया, ज़माना हो गया। जब इंसान गन्दगियों की पोटली अपने साथ लिए-लिए फिरते थे। इंसान के पास एक जिस्म का होना ही सबसे बड़ा गुनाह था। जिस्म के संस्कार और कर्म ही रूह को बन्धन में डालते थे। सारी मुसीबतों की जड़ आदमी का जिस्म ही था। ध्यान से सुनो। पेट को क्यों बार-बार पकड़ रहे हो। वह तो कुछ भी नहीं है। एक धोखा, फ़रेब, माया या मरीचिका। इंसान के साथ जिस्म की यह झंझट दुनिया की शुरुआत से ही चली आ रही थी और इसीलिए वह जन्नत से नीचे फेंका गया और रूह की निजात मुश्किल होती चली गयी।' उसने बूढ़े को पागल समझा और प्लेटफ़ार्म की सफ़ेद, बेदाग पट्टी पर पालती मारकर बैठ गया। इस तरह बैठने में उसका पेट और भी तन गया। पतलून कमर पर बूरी तरह फँसने लगी। उसकी साँस सीने में न समा रही थी। वह फ़ौरन दोबारा उठकर खड़ा हो गया। बूढ़ा बहुत ऊँचे कद का था। वह उसके सामने बौना नज़र आता था। उसने मुँह ऊपर उठाकर मजबूरन बूढ़े की बेतुकी तक़रीर सुनना शुरू कर दी। सिर्फ़ इस उम्मीद पर कि शायद अपनी दिल की भड़ास निकालने के बाद बूढ़ा उसे पेशाब से निपटने का कोई तरीक़ा बता ही दे।

'सुनो, बहुत ग़ौर से सुनो', सीटी गरजी।

इंसान का जिस्म गन्दगी की पोटली है और गन्दगी ख़्वाहिशात का ज़खीरा है। इश्क और मुहब्बत के नाम जिस्म अपनी गलीज़ ज़रूरतों पर हमेशा परदा डालता आया। मगर माद्दे से छुटकारा पाना फिलहाल मुमकिन

नहीं इसलिए शहरी योजनाकारों ने साईंस, मज़हब और फ़लसफ़े के साझे के जरिये, सबसे पहले 'मुहब्बत' के कूड़े को झाड़ू लगाकर शहर बदर कर दिया और इस तरह और इसी क़िस्म की दूसरी कोशिशों से, आख़िरकार जिस्म को उसके लक्षणों से यकसर पाक कर दिया। सारे जानवर पाताल में डाल दिये गये। यह आधुनिक साईंस समाज मुकम्मल तौर पर सब्ज़ी खोर है। गोश्त के मानी, नयी नस्ल, पुरानी फरसूद। लुग़ात में ढूँढती फिरती है।

'आप मेहरबानी करके, मुझे किसी अस्पताल का रास्ता ही दिखा दें। मैं बीमार हूँ वहाँ मैं अपने पेट में भरे हुए इस मनहूस पेशाब से छुटकारा पा सकता हूँ।'

उसने बूढ़े की बातों को नज़र अन्दाज़ करते हुए बेचैनी के साथ इल्तिजा की।

'तुम बीमार नहीं हो। तुम्हारी रूह बीमार है। अब दरम्यान में बोले तो तुम्हारा अन्जाम बहुत बुरा होगा।'

बूढ़े ने उसे खौफ़नाक नज़रों से घूरा। उसके चेहरे का वह गहरा, लम्बा जख़्म किसी ज़हरीले साँप की खाल की तरह चमकने लगा। रात शायद आधी से भी ज़्यादा गुज़र चुकी थी। अचानक प्लेटफार्म पर सर्द हवाओं के झक्कड़ चलने लगे। लोहे की पटरिया और हरे-लाल सिग्नल कोहरे में छिपकर रह गये।

उसके सिर के बाल गीले होने लगे। खड़े-खड़े, मुँह ऊपर उठाये, उसे फिर चक्कर-सा आने लगा। फटे हुए जूतों के अन्दर उसके थके हुए पाँव बुरी तरह सूज रहे थे। पेशाब न आने की वजह से उसके पूरे जिस्म पर सूजन चढ़ती जा रही थी। गुर्दों में टीस उठने लगी।

वह दर्द पर काबू पाने के लिए बार-बार अपने निचले, खुश्क और पपड़ी जदा होंठ को दाँतों में दबा लेता। अस्पताल अब लोग सिर्फ़ अपनी रूह का इलाज करवाने जाते हैं। बलगम, खाँसी, छींक, पस और जरासीम से जिस्म ने छुटकारा पा लिया है। अस्पताल पागलखानों में तब्दील हो चुके हैं।'

यकबारगी उसका जी चाहा कि वह उस पागल बूढ़े को मार-मारकर कीमा बना दे जो इतनी देर से उसे बेवकूफ बनाकर दिमाग़ खाये जा रहा है मगर इस वक़्त उसमें शायद हाथ ऊपर उठाने की भी ताकत न थी। वह हिम्मत करके, बस यह तन्ज़ ही कर सका।

'जनाब, क्या अब लोग मरते नहीं यहाँ ?'

'नहीं मरते, मौत पुरानी चीज़ हो गयी। सिर्फ़ जो गन्दा होगा और गन्दगी फैलायेगा, वही मरेगा। मौत तारीख के गन्दे कूड़ेदान में कहीं पड़ी होगी जिसे कुतरने के लिए अब इस दुनिया में चूहे भी नहीं।'

अचानक प्रोफ़ेसर का लहजा राज़दाराना हो गया। वह अपनी आवाज़ को तकरीबन एक सरगोशी की हद तक ले गया और फिर अचानक बुलन्द आवाज़ में फट पड़ा।

अब यह पाक ओ साफ़ शहर एक अज़ीम अमरत्व के साये में है। जैसे ही जिस्मानी मजबूरियों और उसके दोषों और आलायशों पर काबू पा लिया गया वैसे ही मौत दुम दबाकर भाग गयी। हा-हा।'

बूढ़े ने गला फाड़ एक भयानक कहकहा लगाया। एक साथ कई हज़ार खतरनाक सीटियाँ फ़िजा में गूँजी और उसके कांधे पर लटके हुए थैले पर बने हुए गधे के कान ज़ोर-ज़ोर से हिलने लगे।

'तो अब बच्चे नहीं पैदा होते ?' वह खौफ़ज़दा होते हुए कराहा।

'क्यों नहीं पैदा होते। मगर वह अब मरेंगे नहीं। उनकी उम्र बढ़ती जायेगी। वह पुरोन होते जाएँगे। सिर्फ़ पुराने मगर मौत उनको कभी नहीं आयेगी जैसे मैं हमेशा ज़िन्दा रहूँगा।'

'तो बगैर गन्दगी के बच्चे कैसे पैदा ?'

बच्चे अब माँओ के पेट में नहीं बल्कि साफ़-सुथरे फूलों के बाग में पैदा होते हैं। उनके लिए औरत के गन्दे जिस्म की कोई ज़रूरत नहीं। बस अपने ज़हन और रूह में बच्चे पैदा करने की ख़्वाहिश का कवीतर होना ज़रूरी है। नई दुनिया मुकम्मल तौर पर मर्दों की दुनिया है। हमने औरत की अन्दायेनिहानियों को मुर्दा करके, महज़ परछाईयों में बदल दिया है। वह अब गन्दे खून में लिथड़े हुए, महीनों के कपड़ों से मुक्ति पा चुकी है। औरत ही तो गुनाह का उत्प्रेरक है। मगर अब कोई शरीफ़ और नेक औरत मुहब्बत का गुनाह नहीं कर सकती। सब कुछ पाक-साफ़ हो गया।'

'देखिये- प्रोफ़ेसर साहब, बहुत हो गया। आपने मुझ गरीब बीमार का जी भरके मज़ाक उड़ा लिया। मगर अब तो खुदा के वास्ते मुझे बस इतना बता दें कि मैं पेशाब कहाँ करूँ ?'

'उसे कुछ और नहीं सूझा तो वह बूढ़े के आगे भी अपने दोनों हाथ जोड़कर मिन्नत समाजत करने लगा। दोनों हाथ जो सर्दी और तकलीफ़ से लगातार काँप रहे थे। प्रोफ़ेसर के चेहरे का ज़ख्म एक बार फिर किसी साँप की तरह कुलबुलाने लगा।

बूढ़ा प्रोफ़ेसर अपने इस लम्बे गहरे ज़ख्म के बाइस, जो उसके चेहरे को दो बराबर हिस्सों में तक़सीम करता था, तक़रीबन एक शैतान या बदरूह की तरह नज़र आया।

'इंसानों के ज़िस्म अब बस देखने में ही जिस्म नज़र आते हैं। किसे नहीं मालूम कि देखी हुई चीज़ सच्ची और असल नहीं होती। जिस्म अब पूरी तरह ज़हन बन चुके हैं। क्या यह विकास की अज़ीमतरीन मंज़िल नहीं। जिस्म अब हर क़िस्म की ग़िलाज़त और गन्दगी से पाक है। वह इंसान की रूह का एक सच्चा अक्स है।'

शैतान ने सीटीनुमा आवाज़ निकालते हुए खुलासा किया।

'मगर मैं पेशाब' वह जुमला पूरा न कर पाया कि प्रोफ़ेसर बोल उठा।

'देखो अगर तुम वाक़ई हुकूमत के जासूस हो तो अब तक तुम्हें यह खूब अन्दाज़ा हो गया होगा कि मैं इस क़वी तरक्कियाती प्रोजेक्ट का दिल से कायल हूँ, जिसके तहत शहरी योजना और महकमा ए सेहत के सहयोग के ज़रिये सारी दुनिया में सफ़ाई की मुहिम चलायी जा रही है। साईंस, फ़लसफ़ा और मज़हब से ताल्लुक़ रखने वाले तमाम दानिश-वरान भी इस महान प्रोजेक्ट के हामी हैं। और अगर तुम जासूस नहीं हो तो वाकई तुम्हें अस्पताल जाना चाहिए जहाँ अब सिर्फ़ ज़हनी इमराज़ का इलाज होता है। जिस्म के किसी हिस्से में होते हुए दर्द का नहीं। दर्द महज़ एक वहम है। दिमाग़ी फ़ितूर, रूह हर दर्द से परे है। तुम जिस्म नहीं। एक रूह हो। सिर्फ़ रूह।'

बूढ़ा प्रोफ़ेसर किसी तरह खामोश होने का नाम ही नहीं लेता था। प्लेटफार्म कुछ ज़्यादा सुनसान हो गया था। हर तरह़ से ताज़ा साबुन और फूलों की तश्हुद आमेज़ और बेरहम महक आने लगी। एक लम्हे के लिए, वाक़ई, उसने भी खुद को पागल तसव्वुर किया। उसका जी बेतहाशा पेशाब की खरांद सूँघने को चाहा। वह अपने जिस्म की तमाम ताक़त अपने हलक में लाते हुए बोला।

'सूअर के बच्चे, खब्बीस शैतान, मैं तेरे मुँह में पेशाब करने वाला हूँ।'

यह कहते हुए, वह एक वहशी की तरह बूढ़े की तरफ़ झपटा मगर फ़ौरन ही लड़खड़ाता हुआ पीछे हट गया। उसे महसूस हुआ जैसे बूढ़े के चेहरे का लम्बा ज़ख्म साँप की तरह उसकी तरफ़ लपका था। उसी वक़्त फ़िज़ा में एक सीटी गूँजी और उसने साफ़ देखा कि वह इधर को चले आ रहे थे। फाँसी के फन्दे हाथ में लिए। सफ़ेद वर्दी वाले, उसकी तरफ़ आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ रहे थे। मगर वह मरना नहीं चाहता। वह शार-ए-आम पर फाँसी के फन्दे में झूलना नहीं चाहता।

२

वह प्लेटफ़ार्म से रेलवे लाईन पर इस तरह कूदा जैसे एक खौफज़दा और रंग बदलता हुआ गिरगिट एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदता है। वह कोहरे से लदी हुई रेलवे-लाईन पर दूर तक भागता चला गया। दूर अँधेरे में गिरता-पड़ता, फिसलता और ठोकरें खाता। उसके जूतों के झिल्ली जैसे तले लोहे की सख्त ठण्डी पटरियों से रगड़ खाकर, चिथड़े-चिथड़े होकर हवा में उड़ रहे थे। पटरियों का ठण्डा बेरहम लोहा उसके पैरों के पंजों और एड़ियों पर भयानक ज़र्बा[५६] लगा रहा था, जिसकी धमक सीधी उसके दिल तक जा रही थी।

उसके आस-पास से मुसाफ़िर और मालगाड़ियाँ गुज़रती रहीं। वह भागता रहा और उसके मसाने में इकट्ठा पेशाब उछल-उछलकर उसके पेड़ू, पसलियों, सीने और यहाँ तक कि दिल को भी डुबोने लगा। हवा बहुत

तेज़ थी। उसकी जैकिट फड़फड़ा रही थी। वह कोहरे के उठते हुए बगूलों के अन्दर दाख़िल हो रहा था। उसे महसूस हुआ जैसे बूँदा-बाँदी भी शुरू हो गयी हो या मुमकिन है कि यह कोहरे की परतों के बीच फँसी हुई ओस की बूँदें हों। सर्दी उसके ऊपर कोड़े की तरह बरस रही थी।

क्या उसे इल्म था कि जल्द ही वह एक पेट फूले हुए लावारिस कुत्ते की तरह मरने वाला था?

उसे अब यह मालूम था कि अब कहीं कोई ऐसा ज़िन्दगी बख़्श मुकाम नहीं था, जहाँ खरांद हो और इंसानी सीलन हो जिस पर दीवाना वार चीटिंयाँ उमड़ी चली आती हों और जहाँ मर्दाना कमज़ोरी को दूर करने वाली सस्ती दवाओं के घटिया इश्तहारात चस्पा हों और जिसकी दीवारों पर तवायफ़ों और बुरी औरतों के फ़ोन नम्बर और पते लिखे हों।

नहीं, अब वह कहीं नहीं होगा, न किसी होटल में, न किसी स्कूल में, न किसी इबादतगाह के हुजरे में और न जुँए खाने या किसी शराब खाने में।

लोहे की पटरियों पर चढ़ता-उतरता वह इस तरह चला जा रहा था जैसे अपनी खुदकुशी का पीछा कर रहा हो। हालाँकि वह अभी मरना नहीं चाहता। मगर खुद उसके तआकुब में स्याह कोहरे को चीरती हुई टार्चें थी। भूरे वज़नी बूट और सफ़ेद महकती हुई वर्दियाँ थीं और फाँसी के झूलते हुए फंदे थे, मगर वह फाँसी से नहीं मरना चाहता था। इससे अच्छा था कि उसका मसाना फट जाता या वह किसी रेलगाड़ी के सामने आकर कट जाता या किसी पहाड़ से टकरा जाता। और यकीनन सामने एक काला ऊँचा पहाड़ आ रहा था। तेज़ हवाओं के झक्कड़ इसी पहाड़ से आ रहे थे। पहाड़ जैसे सर्दी से जलकर और स्याह हो रहा था और अपनी चट्टानों की दरारों में से कोहरे का धुआँ उंडेल रहा था। इस पहाड़ के रास्ते में सुरंगे थीं। जो काली-काली रात से भी ज़्यादा काली और अन्धेरी थी। एक उजाड़, बेरौनक लम्बी मालगाड़ी सुरंग से होकर निकल रही थी जैसे एक अन्धा अजगर रेंगता हुआ जा रहा हो। काला पहाड़ मालगाड़ी के बन्द और अँधेरे डिब्बों में गरजने लगा।

गरज से उसके कान बन्द हो गये। जब मालगाड़ी का आख़री डिब्बा भी सुरंग के दहाने से निकल गया वह भी उसके पीछे-पीछे काली सुरंग में दाख़िल हो गया।

यहाँ आकर उसने खुद को, टार्चों की रौशनी से महफूज़ पाया। मालगाड़ी सुरंग से निकलकर कहीं दूर जा चुकी थी। बहुत दूर उसने उसे सीटी देते हुए सुना मगर सुरंग में उसकी गुज़री हुई धुएँ से भरी आवाज़ अभी तक फँसी हुई थी। वह अँधेरी सुरंग में हल्के-हल्के चलता रहा। उसका जी मालिश कर रहा था। पेट पहले से भी ज़्यादा फूल आया था। चलने में यह फूला हुआ वज़नी पेट ज़ोर-ज़ोर से हिलता था। उसका कलेजा मुँह को आने लगा। शदीद प्यास से उसने अपने बदन को तेज़ी के साथ खुश्की में फँसता हुआ महसूस किया।

वह सुरंग की दीवार की तरफ़ मुँह करके खड़ा हो गया और पतलून की फ्लाई में हाथ डाल दिया जिसके बटन पहले से ही खुले हुए थे। मगर वहाँ तो वही बर्फ़ की जलती हुई क़ाश। उसने अपनी पूरी ताक़त के साथ ज़ोर लगाया। उसके गुर्दे फट जाने के क़रीब थे। रीढ़ की हड्डी के गुरिये अपनी जगह छोड़ रहे थे। मगर पेशाब की एक बूँद भी बाहर न आयी।

वह समझ गया कि गुर्दे की पथरी नीचे आकर कहीं फँस गयी है। उसे फ़ौरी तौर पर ऑपरेशन की ज़रूरत थी। मगर अब अस्पताल कहाँ। सिर्फ़ पागलखाने थे। उसे मुकम्मल हो गया कि वाकई वह एक कुत्ते की ज़लील मौत मर जायेगा। सिसक-सिसक कर और एड़ियाँ रगड़-रगड़कर।

सुरंग में दिसम्बर की भयानक और वहशतनाक हवाएँ एक ताण्डव कर रही थीं। हाथ को हाथ सुझाई नहीं देता था। अब उसे अपनी मौत का मुक़ाम तय कर ही लेना चाहिए।

यहाँ ?

नहीं यहाँ नहीं। काले पहाड़ की इस सुरंग में तो हरगिज़ नहीं।

आगे-आगे, अभी उसे और आगे चलते जाना चाहिए। चिथड़ा-चिथड़ा होते जूतों के साथ इस तारीक और पत्थर की सुरंग में उसके पैरों की धमक सदियों पुराने किसी वहशी गीत के जैसी थी। उसे कुछ याद करना चाहिए। यही वक़्त है, अपना मुकद्दर तो काली सुरंग के इन पथरीले आयीनों में वह देख आया। अब मायूसी का जश्न कब तक मनाये। मगर अभी एक जिस्म उसके साथ है। वह इस मायूसी का बिलबिला-बिलबिला कर जश्न मनाता है। रूदन करता है। जिस्म बीमार है, थककर चूर हो रहा है और पता नहीं कब सड़ना भी शुरू हो जाये।

यही वक़्त है उसे कुछ याद करना चाहिए। कोई दुआ। कोई तौबा कि मौत आसान हो। उसे कुछ याद करना चाहिए। यूँ ही चलते-चलते। फूले और सूजे हुए मसाने के दर्द के अन्दर खुद को गुम करते हुए। उसे किसी पुरानी याद के बारे में सोचना चाहिए लेकिन इतना तो उसे मालूम है कि उसके अन्दर एक बुरा ज़मीर है। उस के दुखते हुए सिर में यह बुरा ज़मीर अपने अजीबो-गरीब अहसासात के साथ ज़िन्दा था। इस ज़मीर का शिकार करने के लिए कोई दुआ नहीं थी। मगर उसे यह ज़रूर याद कर लेना चाहिए कि मुहब्बत के अज़ीम, पाकीज़ा, इंसानी और सफ़ेद बर्फ़ के तूदे जैसे सोते सूख गये। और फिर उसकी पहली मुहब्बत बड़ी आसानी के साथ शिकार कर ली गयी, दूसरी मुहब्बतों के ज़रिये।

बस वे दो बदनसीब, खला में ताकती आँखें रह गयीं। वे आँखें जो मुहब्बत करती थी।। वे आँखें सुबह के मद्धम होते हुए तारे देखकर बेनूर हो जाती हैं। वे आँखें उन रास्तों को याद करती हैं जहाँ से होकर मुहब्बत गुज़री। मगर उसको अब कुछ भी नहीं याद। उसके जिस्म की खाल न अँधेरे का स्पर्श महसूस करती है और

न रौशनी का। खाल सुन्न हो गयी है। सुरंग के काले पत्थर जैसी हो गयी है।

सुरंग की दीवारों से रगड़ खा-खाकर वह चलता रहा। दूर एक सिरे पर, अन्धेरा कुछ कम हो रहा था। हवा ने अपना रूख़ बदल लिया। अब वह बजाये पूरब के उत्तर की तरफ़ से आ रही थी। एक बिल्कुल अलग हवा। सुरंग का दूसरा दहाना आ रहा था। आख़िर कार वह सुरंग से बाहर निकल आया और घटा टोप अँधेरे में रेलवे लाईन को पार कर अपनी मौत का मुक़ाम तलाश करने के लिए एक तरफ़ चल दिया।

'छपाक की आवाज़ के साथ उसके पैर पानी में उतरे। वह रुका नहीं, पानी में चलता रहा। पानी उसके जूतों में भर गया और वे बहुत भारी हो गये। उसके पैर सुन्न होने लगे। मगर वह चलता रहा मौत उसके पैरों तक आ पहुँची थी। उसकी पिंडलियों पर इस काले पोखर की ज़ोकें आकर चिमट गयी और उसका खून पीने लगी। वह पानी से बाहर आया। उसके जूतों को आबी सीवार और काई के रेशों ने जकड़ रखा था। कुछ फ़ासले पर रौशनी नज़र आयी जैसे कहीं ऊँचाई पर बहुत-सी मोमबत्तियाँ जल रही थीं।

कोई बस्ती थी, छोटी-सी बस्ती।

धीरे-धीरे उसने गाने की आवाज़ सुनी कोई गा रहा था। शायद औरतें गा रही थी। ढोल भी बज रहा था और घुँघरू भी। कभी-कभी दरम्यान में सारंगी की आवाज़ भी बुलन्द होती। सारंगी की आवाज़ हमेशा इंसानी आवाज़ की भोंडी नक़ल करती है।

मगर इन आवाज़ों के साथ एक ख़ामोशी भी थी, उसने इस खामोशी को अपने कान के बहुत अन्दर सुना। उसने एक गहरी साँस ली तो खामोशी और सघन हो गयी। मगर शायद उसने साँस नहीं ली थी। साँस खुद उस तक चलकर आयी थी।

'मैं कहाँ आ गया ?' क़तार से बने हुए छोटे-छोटे टूटे-फूटे मकानों के क़रीब आते हुए उसने अपने आपसे बात की। मगर उसका दिल अपनी खुदकलामी से भर आया। अब इस खामोशी में उसकी अपनी खामोशी का ईमानदार हिस्सा भी शामिल हुआ। रात गुज़रने वाली थी। इस वक़्त रात हमेशा ख़ामोश होती है। वह इन्तज़ार करती है कि तारे मद्धम पड़ जाएँ।

वह उन मकानों के एक दम सामने आ गया। हर मकान उदास था। हर मकान के ऊपर जीने जा रहे थे। अन्धेरी, तंग सीढ़ियाँ हर मकान की बालाई मंज़िल पर हिलती और टिमटिमाती हुई रौशनी थी। वहाँ घुँघरू थे, ढोल थे, घटिया गीत थे और इंसानी आवाज़ की नक़्ल करती हुई सारंगी थी।

यह ज़िला वतनों की बस्ती थी ?

दर्द और मायूसी से बेहाल होते हुए, अपनी अध-खुली आँखों से उसने देखने की कोशिश की। उसके हाथ पत्थर के हो गये। उनसे सुरंग के पत्थर की बू आ रही थी।

वह तवायफ़ों के कोठों के सामने खड़ा था। अपने पत्थर जैसे भारी मगर मौत जैसे हल्के पैरों के साथ उसने एक कोठे की सीढ़ियाँ चढ़ना शुरू कीं।

३

वह खिड़की के पट खोले, चुपचाप, अन्धेरे में आसमान को ताक रही है। रात अब ख़त्म होने वाली है। इस वक़्त रात हमेशा खामोश होती है। वह इन्तज़ार करती है जब तारे मद्धम पड़ जाएँ।

सीलन-ज़दा, अफसुर्दा सी कोठरी में मोमबत्ती की रौशनी उसके आधे चेहरे पर पड़ रही थी, यह आधा चेहरा बेहद हसीन है। चमकती हुई रौशन और बहुत सुतवा नाक, एक बड़ी मासूम और तेज़ कत्थई आँख और एक छोटा-सा सफ़ेद कान, जो खामोशी को सुनते रहने के बाइस कभी-कभी पीला होने लगता है। आधे चेहरे पर जो आधे होंठ नज़र आते हैं, वह गहरे जामुनी रंग के हैं। यह आधा चेहरा बहुत रौशन है, मगर सुबह के सितारे की मानिन्द इसकी चमक बार-बार मद्धम होती है फिर बढ़ जाती है।

बराबर वाले कोठे पर साज़िन्दों ने रात का आखरी साज़ छेड़ दिया। थके हुए घुँघरूओं की ताल पर उदास भारी कूल्हे ढोल की तरह बजने लगे। फूहड़ और फोहश गीत फ़िज़ा में भद्दी-भद्दी आवाज़ों के साथ उभरने लगे, मगर इनमें 'असल अश्लीलता' का तत्त्व ग़ायब है। इन नंगे गीतों में एक क़ाबिले रहम किस्म की महरूमी और मायूसी है। यह गन्दे ऊल-जलूल गीत किसी शय के खो जाने का शोकगीत महसूस होते हैं।

वह इन गीतों को सदियों से सुनती आयी है मगर आज वह इन्हें नहीं अपने बहुत क़रीब आती हुई खामोशी को सुन रही है। वह खामोशी की चाप का इन्तज़ार कर रही है और यह यक़ीनन क़दमों की चाप है। वह मुड़ी और लकड़ी के कमज़ोर से दरवाज़े को देखने लगी जो इस तरह हिल रहा है जैसे ज़लज़ला आ गया हो। वह अन्दर आया है। वह जिसकी पुरानी जैकिट में बड़े-बड़े सुराख हैं, वह जिसके जूते चिथड़े-चिथड़े हो रहे हैं और वह जिसकी पतलून की फ़्लाई के बटन खुले हुए हैं, दिसम्बर की सर्द काली हवाओं और कोहरे से उसका चेहरा स्याह हो रहा है। उसके सिर के बाल उड़कर पीछे की तरफ़ गुट्टी तक जा पहुँचे हैं, जिसकी वजह से उसका माथा एक छोटे-से सपाट पत्थर की तरह नज़र आता है जिस पर न जाने कब का निकला हुआ खून जमकर काला पड़ चुका है और वह जिसकी पिण्डलियों में ज़हरीली जोंके लिपटी हुई है, और जिसके पेट का निचला हिस्सा एक फूलता हुआ गुब्बारा बनता जा रहा है।

वह आते ही लड़की के सामने अपने दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

'मैं यहाँ मरने आया हूँ, मैं एक पेशाबख़ाने में मरना चाहता हूँ। मेरी आख़री उम्मीद यही कोठा है। यहाँ तो वह ज़रूर होगा।'

'हाँ, सिर्फ़ मेरे कोठे पर है।'

लड़की ने उदासी के साथ कहा और मोमबत्ती की रौशनी में उसके चेहरे का दूसरा आधा हिस्सा भी सामने आ गया है, बेशुमार दानों और फुँसियों से भरा हुआ है जैसे किसी डबलरोटी के आधे टुकड़े पर लातादाद मोटे-मोटे लाल-लाल चींटे चिपके हुए हों। इन दानों और फुँसियों में उसकी आँख, नाक, कान और होंठ महज़ एक भ्रम बनकर रह गये हैं।

मगर उसने इस चेहरे को नहीं देखा, वह अपने दोनों हाथ उस तरह जोड़े-जोड़े, लड़की के आधे हसीन चेहरे से रहम की भीख माँग रहा है।

'तुम पेशाबख़ाने में क्यों मरना चाहते हो ?'

'क्योंकि इस साफ़-सुथरी, पाकओ साफ़ और शफ़्फाफ दुनिया में किसी और जगह, एक सड़ते हुए और फूलते हुए पेट वाले कुत्ते की ज़लील मौत मरने से बेहतर है कि तवायफ़ के कोठे पर बने पेशाबखाने में दम तोड़ दिया जाए।'

'इधर देखो, अपना चेहरा सामने लाओ, मैं तुम्हारा इन्तज़ार कर रही थी।'

उसने अपना मुँह उठाकर लड़की को गौर से देखा। लड़की जिसका आधा चेहरा दुनिया का सबसे खूबसूरत चेहरा था और आधा चेहरा इतना भयानक और दोषपूर्ण।

वह उसे पहचानने की कोशिश करने लगा। उसकी आवाज़ उसे जानी-पहचानी सी महसूस हुई जैसे कोई खोई हुई शय वक़्त के सदियों पुराने टीलों के पीछे से किसी को पुकारती है, मगर उसके दुखते हुए ज़ख्मी सिर में एक बुरा ज़मीर है, बुरा ज़मीर हमेशा याददाश्त को ही धुत्कारता है।

'मैंने कितनी बार प्यार किया। मैंने तुम्हारे उस कान पर भी बोसा दिया है, जो बचपन में बुरी तरह बहता था।'

लड़की ने बरसों पुराने विषाद के साथ कहा।

'तुम कौन हो' उसने कुछ खौफ़ज़दा और कुछ बेयक़ीनी के साथ पूछा।

'मैं ? मैं एक ग़रीब ज़लील तवायफ़ हूँ, जिसके कोठे पर कोई नहीं आता। मैं फाँसी के फ़न्दे से छिपकर इस सीलन भरी कोठरी में रहती हूँ। अगर किसी को पता भी चल जाए तो वे डरते हैं क्योंकि मेरे जिस्म का

एक हिस्सा खतरनाक और घिनौनी बीमारियों का खज़ाना है।

'क्यों ?'

'क्योंकि मेरे पास एक ज़िन्दा योनि है। अब शायद ही किसी औरत के पास यह हो। यह जो नाच रही है, इसके पास मुर्दा अन्दाये-निहानियाँ हैं या महज़ उनकी परछाईयाँ। मर्द यहाँ ज़हनी सम्भोग करने के लिए आते हैं। उनके लिंग सिर्फ़ लरजते हुए तारीक साये हैं। इन औरतों के गीतों में गोश्त और खाल की बू नहीं, वह अपने भारी और चर्बी के कूबड़नुमा कूल्हों पर, अपने बाल बिखराकर, ज़ोर-ज़ोर से दोहत्तड़ मारती हैं और वे फटे हुए ढोल की तरह बजते हैं।'

'तुम पता नहीं क्या कह रही हो। मेरा पेट फटा जा रहा है। मेरे जिस्म का सारा खून बर्फ़ बनकर जम गया। मैं जल्द ही मरने वाला हूँ।'

'तुम हमेशा से ही खुदगर्ज़ हो। ज़िद्दी और खुदग़र्ज़। तुमने कभी मेरी बात नहीं सुनीं।'

'मगर मैं मरने वाला हूँ।'

'तुम नहीं मर सकते।'

'तुम क्या जानो।'

'मैं जानती हूँ, मैंने तुमसे मुहब्बत की है।'

'मैं नहीं पहचानता। मुझे पानी दो, मैं रेगिस्तान का खुश्क पहाड़ हूँ।'

'मैं तुम्हारे साथ उस दिन से हूँ जब तुम माँ के पेट में थे।'

लड़की ने मिट्टी की सुराही से ताँबे के बदरंग प्याले में पानी उँडेला। वह प्याला उसके होठों तक आ पहुँचा।

पानी पीते ही अचानक उसका दर्द जानलेवा हो गया। उसे महसूस हुआ जैसे हलक़ से लेकर मेदे तक वह पानी पत्थर में तब्दील हो गया। उसे एक भयानक उल्टी आने को हुई और उसे लगा जैसे उसकी आँतें हलक़ से बाहर आ जाएँगी। दाँतों से अपनी ज़ुबान को बुरी तरह काटता हुआ वह दोहरा होता चला गया है। उसने अपने मुँह में खून का ज़ायका महसूस किया। उसकी आँखों की सफ़ेद पुतलियाँ बाहर आने लगीं, उसकी नाभि ऊपर उभर आयी और पेडू इस तरह फूलने लगा जैसे किसी गुब्बारे में हवा भरते-भरते वह फटने वाला हो। उसका पूरा जिस्म अकड़ गया है। वह पहाड़ी सुरंग का काला पत्थर बन गया है।

लड़की अब उसके बहुत क़रीब आ गयी है।

'मुझे अपनी बाहों में कसकर पकड़ लो, पूरी ताक़त से अपने सीने से लगा लो।'

'नहीं, वह धीरे से सिसका फिर रोने लगा।'

'मैं मरना नहीं चाहता। मैं मर जाऊँगा।'

'तुम नहीं मरोगे क्योंकि तुमने कभी किसी से मुहब्बत नहीं की। डरो नहीं मैंने अपनी सारी पाकीज़गी और मुहब्बत अपने जिस्म के एक अलग हिस्से में तुम्हारे लिए बचपन से सम्भाल कर रखी है। मैं तुम्हारी हूँ।'

'वह उसके क़रीब आयी। बहुत क़रीब। मोमबत्ती की लौ भड़कने लगी, वह ख़त्म हो रही है। उसका मोम पिघलकर ईंटों के बदरंग फ़र्श पर जमता जा रहा है।

वह जैसे ही उसके क़रीब आयी। उसने उसे सूँघा और पहचान लिया।

लड़की ने कसकर अपने जिस्म से उसका जिस्म मिला दिया जैसे दो चट्टानें आपस में मिलती है। लड़की के हाथ-पैर उसे मिट्टी के बने हुए महसूस हुए। लड़की ने उसका जख़्मी, ठोकर खाया हुआ माथा अपने एक नर्म, गोल और बड़े से पिस्तान पर रखा, जिसमें से जामुन के पुराने तेज़ सिरके की खुशबू आ रही है। लड़की ने अपने आधे जामुनी होंठ, उसके खुश्क, पपड़ी ज़दा स्याह होठों पर रख दिये।

लड़की ने अपनी आधी रौशन, सुतवाँ नाक से एक गहरी साँस ली और उसकी एक बड़ी-सी कत्थई रंग की आँख बन्द हो गयी। लड़की के मिट्टी जैसे हाथ-पाँव ने उसके जिस्म को चारों तरफ़ से जकड़ लिया। वह बुख़ार में जल रही है।

मोमबत्ती बुझ गयी, खिड़की में, आसमान पर एक सफ़ेद लकीर नमूदार हुई। अचानक उसने महसूस किया जैसे वह पेशाब कर रहा हो। उसका दर्द कम होने लगा। उसके सूजे हुए गुर्दे और पेडू अपनी जगह पर आते जा रहे हैं। पेट का तनाव कम हो रहा है, वह हल्का होता जा रहा है। इस मोजज़े पर उसका दिल खुशी से भर आया। उसे नींद आने लगी। लड़की के बदन के नमक से उसकी पिंडलियों में चिमटी हुई जोंकें बेजार होकर फ़र्श पर गिरती जा रही हैं।

'मुझे नींद आ रही है।' उसने लड़की के कान में कहा।

'सो जाओ, कितना थक गये हो।' लड़की ने मुहब्बत और खुलूस से कहा। उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं। वह जो अपनी आँखें बन्द करता है, वही अन्धेपन को महसूस कर सकता है।

'मुझे न जाने कितनी रातों सेनींद नहीं आयी।' लड़की ने उसके खुश्क और खुरखुरे बालों को सहलाया और सूँघा, जिनमें से ऐसी महक आ रही है जो जाड़ों की खामोश और मलाल अंगेज़ बारिश में दरख़्तों से गिरे

हुए, पीले पत्तों से आती है।

'तुम मेरे ख़्वाबों में आकर जागते थे, जब मैं बेख़बर सोते हुए तुम्हें प्यार करती थी।'

लड़की के मुँह से एक गहरी साँस बाहर आयी जैसे उसने सूखी, किरकिरी मिट्टी उगली है।

वह बेकाबू होकर उससे लिपट गया।

'जानती हो, उन्होंने मुझे पेशाब नहीं करने दिया। मैं कितना रोया।'

'जानती हूँ, अब भूल जाओ।' लड़की की उदास और कमज़ोर आवाज़ जैसे बहुत दूर से आयी है। उसके जिस्म में अब कहीं दर्द का नामोनिशान तक नहीं बचा है। वह हवा की तरह हल्का-फुल्का हो गया है। जैसे वह अभी-अभी पैदा हुआ है। इसी औरत की पसली से। उसी लम्हें लड़की की गिरफ़्त उसके जिस्म पर से अचानक ढीली होती हुई महसूस हुई।

फ़िजा में उभरने वाले गन्दे गीत और फ़ोहश साज़ खामोश हो गये और इसके साथ ही सारंगी ने भी आख़री हिचकी ली है। सुबह की सफ़ेदी की शक्ल में एक सन्नाटा खिड़की के रास्ते अन्दर चला आया है।

'क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं।'

वह उसके जिस्म पर से इस तरह फिसल गयी है जैसे पानी किसी काई ज़दा चिकनी चट्टान से फिसलता है।

'क्या हुआ तुम्हें यह क्या हो गया।' वह घबराकर घुटनों के बल बैठता हुआ, उस पर झुक आया।

'कुछ भी नहीं, मैं बस मर रही हूँ।'

उसने गौर से देखा। लड़की का आधा खूबसूरत चेहरा बिल्कुल पीला पड़ चुका है और दूसरा हिस्सा अब नज़र ही नहीं आ रहा है। उसके पेट का निचला हिस्सा एक गुब्बारे की तरह फूल रहा है जैसे उसमें लगातार हवा भरती जा रही हो।

'मगर क्यों, तुम क्यों मर रही हो।' वह बेतुके अंदाज़ में रोने लगा।

'रोओ मत, तुम्हारे गुर्दों का सारा पेशाब अब मेरे अन्दर है।' वह उस सच्ची खुशी के साथ बोली जो किसी को सिर्फ़ मौत के वक़्त ही महसूस हो सकती है।

'यह कैसे मुमकिन है ?'

'इसलिए कि मुझे तुमसे मुहब्बत थी।'

उसके मुँह से निकली हुई आवाज़ ऐसी थी जैसे उसने एक सूखी और किरकिरी, इंसानी मिट्टी में मिले हुए खून को थूका हो। उसके आधे होंठ पर एक उजली मुस्कुराहट फैल गयी। उसकी एक कत्थई आँख ने खुद पर झुके हुए चेहरे को, हमेशा के लिए अपने अन्दर डुबो दिया।

'जो मुहब्बत करते हैं, उन्हें मरना पड़ता है' लड़की ने अपने नन्हें से ज़र्द कान के बहुत अन्दर सुना और दम तोड़ दिया।

उसकी सफ़ेद शलवार पर खून की कुछ बून्दें तेज़ी के साथ इकट्ठा होती जा रही हैं।

उसका जिस्म अकड़ता जा रहा था। यहाँ तक कि वह पहाड़ की सुरंग के पत्थरों जैसा हो गया।

वह लड़की की लाश के पास दोज़ान बैठ गया है। सुबह के उजाले की चमक बढ़ गयी है और इस चमक के साथ तवायफ़ों के कोठों का सन्नाटा और भी गहरा हो गया है।

वह मुहब्बत को पहली बार देख रहा है। उसकी आँखों के अन्दर से दो नयी आँखें निकल रही हैं जो पुरानी आँखों को आराम से खा रही हैं।

उसे अच्छी तरह मालूम है कि कभी न कभी वह यहाँ ज़रूर पहुँचेंगे। उनके हाथों में उसकी गर्दन की नाप का सफ़ेद फन्दा होगा मगर वह यहीं बैठा रहेगा। उनकी तरफ़ से पीठ किये यहीं बैठा रहेगा। इसी लाश के पास, मुहब्बत के इसी कूड़े के पास, तवायफ़ की यह कोठरी जो इस शहर का इकलौता कूड़ाघर होगा जो इस शहर या दुनिया की ज़ालिमाना, बे-हिस और ग़ैर-इंसानी सफ़ाई के मुँह पर थूकेगा।

वह यहीं बैठा रहेगा। अभी वह मरेगा नहीं। अभी उसे मुहब्बत करना नहीं आयी, जिस दिन वह मुहब्बत करना सीख जाएगा, वह भी मर जायेगा। इसी खूबसूरत कूड़ाघर में दफ़न हो जाएगा वरना एक मनहूस अमरता उस पर हावी रहेगी। अमरता न तो मुहब्बत को पसन्द करती है और न मौत को।

उसे अमरता के काले, अश्लील खंजर से अपनी पीठ को बचाये रखना है।

संशोधन या काटाकूटी

जय गोस्वामी

अनुवाद : रामशंकर द्विवेदी

वही काण्ड फिर कर डाला ? उफ्, तुम्हारे ऊपर अब कोई वश नहीं रहा। तुम्हें लेकर अब तो चलने से रहा...' कवि ने चौंककर पलटकर देखा।

गृहिणी।

'तुमने यह क्या कर डाला, एक बार देखो तो। पूरा कमरा पानी से लबलबा भरा है। बिस्तर तक भीग गया...'

कवि को होश आया। यही तो। नहाते-नहाते तौलिया पहनकर वह निकल आया। पूरी देह से पानी झर रहा है। सिर के बालों से भी। हाँ, कागज़ों के ऊपर भी गिर गया है।

जाओ। बाथरूम में फिर घुस जाओ, जल्दी से। दो मिनिट बाद अगर वह काटाकूटी न करते तो क्या तुम्हारा काम नहीं चलता। उससे महाभारत अशुद्ध हो जाती।

कवि स्नानघर में वापस आ गया। सचमुच उससे ग़लत काम हो गया था। ऐसा काम वह पहले भी कर चुका है। छोटे-छोटे दो कमरे हैं। उसी से लगा हुआ स्नानघर है। कमरे में उजाला नहीं आता है। सवेरे से ही ट्यूब लाइट जलाकर रखनी पड़ती है। कमरे में अगर पानी पड़ जाए तो सुखाने में समय लगता है। पर नहाते-नहाते दिमाग में एक सुधार आते ही उसी हालत में खाट के ऊपर फैली हुई हाल में लिखी कविता पर झुकने से वह अपने को रोक नहीं पाया। कागज़ के भीग जाने का उसे यह खयाल ही नहीं था, काटकर हाशिये पर उसने एक शब्द 'आछिल' लिख दिया।

कवि को अपने ऊपर क्रोध हो आया। एकबार कोई पंक्ति या सुधार दिमाग में आने पर फिर दुनिया की किसी भी वस्तु का उसे कोई ख़याल ही नहीं रहता। पूरे दिन कविता की जितनी पंक्तियाँ आती हैं, उससे अधिक तो सुधार आते हैं। जैसे उस पंक्ति के बदले यदि यह पंक्ति होती। उस शब्द के बदले क्या यह शब्द ठीक है

? यहाँ तक कि इस चिह्न के बदले अगर वह चिह्न होता। खड़ी पंक्ति के बदले प्रश्न वाचक चिह्न ? या विस्मयादि बोधक! एक कविता जब दिमाग में आती है, तब लिखने के पहले दो-चार दिन वह दिमाग में घूमती रहती हैं। यह बहुत कुछ एक नशे की तरह होता है। वह गुप्त रूप से मन को आच्छन्न किये रहती है। किन्तु कागज़ पर एक बार लिखित रूप में आ जाने के बाद जैसे ही उसका संशोधन मन में आएगा और वह आएगा ही, तब उसे यदि हर बार छूटे हुए खाली कागज़ पर जब तक दर्ज न किया जाए, तब तक वह अपने को रिहाई नहीं देता। सिर्फ़ कागज पर दर्ज करने तक ही नहीं, छपने चले जाने के बाद अगर दिमाग में सुधार आ जाए और उसका ऐसा भाग्य है कि वह आता ही है, तब प्रूफ़ में जाकर उसे दर्ज कराना पड़ता है। प्रेस के लोग नाराज़ हो जाते हैं। यह स्वाभाविक भी है। एक काम तीन बार में करना पड़ता है। उसके बाद भी यदि छपने जाने के ठीक एक क्षण पहले कोई संशोधन मन में जाता है तो फिर एक और काण्ड। सभी को मना-मनू कर फिर बदलाव किया जाता है। वह समय मानो नशे की तरह होता है। दूसरों को असुविधा हो रही है या नहीं, इस ओर ध्यान जाता ही नहीं है।

इसी वजह से प्रेस के सहयोगी श्यामपद बाबू से लेकर अपनी गृहिणी तक से कवि ने बार-बार झिड़की खायी है। पर वह अपने को बदल नहीं पाया है। स्नानघर में जाकर फिर नल खोलकर नहाते-नहाते कवि ने अपनी पत्नी के नाराज़ी भरे निर्देश सुने; 'चायना, दोनों कमरों में पौंछा तो लगा दे।'

चायना! इसी चायना की वजह से यह सब झँझट हुआ है। दो दिन हुए, इस घर में काम पर आयी है यह लड़की। वे लोग सामने के घर के पीछे जो रेल लाईन है, उसके किनारे एक झोपड़ी में माँ-भाइयों के साथ, महीना भर पहले आकर ठहरे हुए हैं। दुमंजिले पर मिहिर बाबू के घर जो बड़ी लड़की काम करती है, चूँकि वह पाँच घरों का काम करती है, इसलिए उसके पास समय नहीं है, इसीलिए वह इस लड़की को लाकर काम पर लगा गयी है। उसने बताया है कि यह नयी-नयी आयी है। गृहिणी ने पूछा, इसके पहले तुम्हारा घर कहाँ था ? लड़की बोली, मेरा घर वनगाँव में था।

अभी हाल में आयी है, इसलिए भूल नहीं पायी है। आज भी सवेरे-सवेरे जब वह लिख रहा था यानि उजाला कम होने की वजह से, स्नानघर के किनारे पश्चिमाभिमुख जो खुला हुआ बरामदा है जिससे प्रकाश और प्रकृति और पक्षी, नारियल के वृक्ष, एक टुकड़ा मेघ, जो सब देखे जा सकते हैं, वहीं पर खड़े होकर रोज़ की तरह सोच रहा था कि भाग्य से दो-चार पंक्तियाँ मिल सकती है या नहीं। भाग्य से उसे मिल भी गयीं और लिखना शुरू करने के बाद वह सुन रहा था कि चायना नाम की लड़की गृहिणी से कह रही है, हमारा घर तो वनगाँव में है। वहाँ पर इतना धुँआ धूल नहीं है। इतना शोरगुल भी नहीं है। कवि सोच रहा था बेचारी भूल नहीं पा रही है, जीविका की खोज में कलकत्ता आकर अपने गाँव को भूल नहीं पा रही है।

कवि भी क्या अपने गाँव को भूल पाया है ? उसका अपना घर भी तो था गाँव की ही सीमा पर। वह भूल जाएगा। यह लड़की लोगों के घर की महरी है। वह भी काम करके ही खाता है। कुछ लिख कर भी खाता है। सभी का कहना है कि लिखकर खाने से अच्छा लिखना नहीं हो पाता है। न हो। खाना तो हो जाता है। अथवा इसी वजह से खाना कौन देता है। उसकी लिखने-पढ़ने की ही नौकरी है। एक नौकरी है घर साफ़ करना और बर्तन माँजना। दोनों गाँव छोड़कर आये हैं।

जो वह लिख रहा था, उसमें उसने दो पंक्तियाँ लिखी थीं- मेरा घर वसीरहाट में था ? अथवा मेरा घर बनगाँव में था ? स्नान करते-करते सहसा उसे लगा 'मेरा घर था बनगाँव में' कर दिया जाए तो कैसा रहे ? कैसा-वैसा तो जानता नहीं, करना ही होगा। मेरा घर था वसीरहाट में। मेरा घर था बनगाँव में। उसमें अन्तिम प्रश्न पर दो चिह्न लगाने होंगे। जैसा मन में आया वैसा काम। स्नानघर खोलकर तुरन्त सोने के कमरे में। फिर वही सब झमेला। उस दृष्टि से चायना ही तो ज़िम्मेदार है। चायना 'रहती थी बनगाँव में' अगर यह न किया जाता तो उसे कविता में न जोड़ता कवि। 'थी और रहती थी' एक बांग्ला में घटी अभिव्यक्ति है और एक बांग्ला की अभिव्यक्ति हो सकती है। दोनों तरह के लोग ही गाँव-देहात छोड़कर शहर में आ रहे हैं। काम खोजने। अनेक दिशाओं से अनेक जातियाँ आकर यहाँ मिल जाती हैं। अनेक तरह की लड़कियाँ भी आती हैं। जिन लड़कियों को काम नहीं मिल पाता है, वे आखिर में अपने शरीर को ही जीविका का साधन बना लेती है। वे अपना शरीर तुड़वाकर खाती हैं। अच्छा, अगर सन्तान बीच में आ जाए तो ये लोग क्या करती हैं ? अखबारों में प्रायः जो इस शीर्षक से विज्ञापन निकलते हैं कि पता-ठिकाना चाहिए, उनमें सद्योजात परित्यक्त शिशुओं की तस्वीरें रहती हैं, जिनके माँ-बाप को खोजा नहीं जा सकता है, वे क्या कई बार इन सब माँओं की सन्तानें होती हैं ? ये शिशु क्या भूमिष्ठ होने तक प्रतीक्षा करते हैं अथवा उसके पहले ही गर्भपात करा दिया जाता है। ओ भगवान! दुनिया में कितना कुछ घटता रहता है। एक अज्ञात भय से मानो कवि काँप उठा। जो शरीर को तुड़वाकर खाती हैं, जो शरीर को बेचती हैं, वे लोग और कौन-सा काम करेंगी ? शरीर के अलावा और कोई मूलधन नहीं है उनके पास।

कवि भी क्या बहुत कुछ उन जैसा ही नहीं है। लिखने के अलावा और कोई विद्या तो वह जानता नहीं है। इसीलिए लेखन से उसे अपनी जीविका का उपार्जन करना पड़ता है। यहीं उन सब औरतों के साथ क्या उसकी समानता नहीं है ? क्योंकि, शरीर जब शरीर के पास आता है तब वह एकान्त में आनन्द को ही व्यक्त करता है। गुप्त रूप से। केवल आनन्द नहीं, शरीर कई बार दुःख को व्यक्त करने के लिए दूसरे शरीर को अपने पास खींच लाता है। ठीक वैसे ही जो कविता एक समय कवि के एकान्तिक दुःख-आनन्द की गोपन अभिव्यक्ति थी, आज उसी को खुले रूप में बेचने की वस्तु बनाने का दौर आ गया है। इसके अलावा, कुछ लिखकर दिन-ब-दिन

उसे डाले रखकर पुराना होने देने का अवकाश तो अब रहा नहीं। लिखने के तुरन्त बाद ही तो वह प्रेस में चला जाएगा। इस स्थिति में, अन्तिम क्षण तक जितना संशोधन किया जा सकता है, उसका प्रयास करता हुआ कवि चलता रहता है। यह करते-करते ही भाषा के साथ अपने सम्बन्ध की सीमा देखी जा सकती है। जानी जा सकती है कि आज भी वह कितना नहीं जानता, अपनी भाषा, शब्द और छन्दों के विषय में, जीवन के विषय में। जिस तरह से एक सरोदिया केवल सुर के माध्यम से जीवन में प्रवेश कर सकता है, अन्धे के हाथ में जैसे उसी सरोद के अलावा और कोई लाठी नहीं होती है, कवि के पास भी वैसे ही अन्धे की लाठी होती है : शब्द। शब्दों से ही वह जीवन में, उसके रूप, रस, गन्ध में प्रवेश-पथ पा लेता है। और किस उपाय से यह सब एक उपायहीन व्यक्ति जान पाएगा।

हाँ, ऐसे भी कुछ लोग हैं, जो शब्द का अन्य दृष्टि से भी प्रयोग करते हैं। दूसरे को छिन्न-भिन्न करने। दूसरे को नष्ट करने। दूसरों के दोष निकालने के आनन्द से ऐसे व्यक्ति की शुरुआत होती है। ऐसे लोगों की भी खूब पूछ, बोलबाला, समृद्धि और कीर्तिगाथा इस धराधाम पर विद्यमान है। किन्तु कवि अपने भाग्य को प्रणाम करता है, हाथ में एक सरोद या बेहाला या एक बाँसुरी पानी में बहते-बहते उसके हाथ में आ जाती है। भाग्यवश उसने उसे छाती से लगाकर रख लिया था। राजा ने कवि के हाथ में सितार रखकर दूसरे को एक घातक की भूमिका दी थी। यह सब एक ही दरबार में हुआ। एक ही श्रोता और एक ही दर्शक। एक ही सभासद। राजा को पता है कौन क्या कर सकेगा। घातक एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में छिन्न मुण्ड लिए दर्पपूर्वक राजदरबार को पार कर जाता है, लोग भय से उसकी कुर्निश बजाते हैं, और आपस में फुसफुसाते हैं, देखो, इसकी कैसी कीर्ति है। एकदम भूलुण्ठित कर दिया है ? ऐं ! देखा, यह है हिरण्यकश्यपु। दूसरा व्यक्ति कहता है, क्या कह रहे हो, यह तो घटोत्कच है। तीसरा कहता है, तुम्हें खाक पता है, यह रासपुटिन के अलावा और कोई नहीं है। यही सब चर्चा करते-करते लोग घर चले जाते हैं।

कई प्रहर बाद उसका वादक जाग जाता है। एक-एक पर्दे पर उसकी उँगली पड़ती जाती है, और अब तक भयवश जिस रुलाई को लोग रोकर व्यक्त नहीं कर पा रहे थे, वही सब क्रन्दन झरझर कर निकल पड़ता है उनकी आँखों को धोता हुआ। खुलकर नहीं, गोपन एकान्त में। अपने-अपने गोपन कोने में। सुर तो हर जगह पहुँच जाता है। इस राजदरबार ने कवि के हाथों में एक बाँसुरी पकड़ा दी है। सारे आघातों के बाद एक फूँक लगानी पड़ती है। एक फूँक मात्र। ऐसे 'बजाओ हे मोहन! बाँसुरी रीझ-मन-भेदन बाँसुरी वादन-'

सुर अपने हर कण-कण में उठकर अश्रु प्राप्त करता है। कवि का बड़ा भाग्य है, जो लाठी की नोंक पर पोटली बाँधकर इस जीवन में इतना चलने के बाद उसे यह काम मिल गया है।

स्नान करते-करते कवि ने देखा उसके पीछे राजा खड़ा है। स्नानघर में।

राजा की वाणी फूटी, 'देखो कैसी अशान्ति हो गयी! तुम्हें क्या ज़रूरत थी!

'इसका अर्थ ?'

'सुन नहीं पा रहे हो ?'

कवि ने सुना, बाहर रह-रहकर डाँट-फटकार चल रही है। 'कोई व्यवहार-ज्ञान अगर होता' भाग्य था कि चायना कामकर चली नहीं गयी थी। नहीं तो मुझे ही यह कमरा साफ करना पड़ता।

राजा कूदकर स्नानघर के टूटे जंगले पर चढ़ जाता है। मानो वह वृक्ष की डाल हो। फिर वह कहता है, 'नहाने के बाद निकलकर भी तो तुम सुधार कर सकते थे।'

कवि बोला, 'इस समय क्या जयदेव का जमाना है। उस युग में सुधार करूँ या न करूँ इस दुविधा को लेकर मैं नहाने गया था और तुमने आकर सुधार लिख दिया था, 'देहि पदपल्लवमुदारम्' और मेरी गृहिणी भी तब तुम्हे पहचान नहीं पायी थी। अब ज़माना दूसरी तरह का है। अपना सुधार स्वयं ही करना पड़ता है।

राजा के मुख पर दुष्टता से भरी हँसी थी। यह राजा एक बालक था। उसके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था। सिर पर मयूर पंख। कमर पर पीताम्बर बँधा था। उत्तरीय में एक तरफ खुसी हुई थी तिरछी बाँसुरी।

'तुम किन्तु अपनी पत्नी को बहुत परेशान करते हो ?'

इस बार कवि को क्रोध आ गया, 'परेशान करता हूँ, माने ? तुम्हीं तो सारी बरबादी की जड़ हो। जब-तब दिमाग में सुधार ला देते हो। मन में पंक्तियाँ ला देते हो। लाकर मुझे विपत्ति में डाल देते हो। अब जाओ यहाँ से। मैं दफ़्तर जाने के समय लोगों का घर में आना पसन्द नहीं करता हूँ।' राजा सर्र से टूटे काँच की दरार से खिड़की के बाहर चला गया। उसके बाद काँच के खोखल में सिर घुसाकर बोला, 'दिमाग में अगर पंक्तियाँ नहीं आएँगी तो खाओगे क्या ? नौकरी तुम्हें कैसे मिलती ? गृहिणी को क्या खिलाते ? लड़की को हॉस्टल में रख पाते!... दुर्भाग्यशाली, दुर्भाग्य...।'

राखाल राजा गायब हो गया।

और कवि मर्माहित हो गया। छिः। आखिर में राखाल राजा ने भी यही बात कह दी। नहीं, आज से लेखन को लेकर कभी सोचूँगा नहीं। पत्रिका की ओर से जो माँग होगी, बैठकर उसे अविलम्ब लिखकर दे दूँगा। सुधार-वुधार रहने दो। वह सब किया जाए तो घण्टो लग जाएँगे। श्यामपद बाबू को असुविधा होगी। बूढ़े व्यक्ति हैं। नाराज़ होते हैं। यह भी कवि के तरफ से अन्याय है। मेरी गृहिणी को असुविधा होती है। रात में नींद आने के बाद इतनी बार उठकर लाइट जलाना। गृहिणी, लड़कियाँ आदि को अनिद्रा का दुःख भोगना पड़ता है। कुल

दो ही तो कमरे हैं। एक कमरे में रोशनी जलाने, कलम उठाने, पुस्तक पढ़ने में खुटर-पुटर तो दूसरे कमरे में परेशानी तो होगी ही। गृहिणी की अभी हाल में आयी नींद दूसरी-तीसरी बार टूट गयी। हे भगवान! रात में दोनों आँखों की पलकें एक करने की गुँजाइश भी नहीं है। घर-परिवार को भी कोई सुख नहीं दिया। थोड़ा सो लूँ, उसका भी कोई उपाय नहीं है।

सच तो है। लोगों की तारीफ़ पाने के लिए सभी को परेशान करने की क्या ज़रूरत है। कैसी अपूर्णता रहती है। अपने भीतर स्थित जैसे कोई कह रहा है, जो काम करने आये हो, उसी को विशुद्ध रूप से करो। किन्तु कविता त्रुटि रहित नहीं होती है। फिर भी उस सीमा के जितने पास जाया जा सकता है, जाने का प्रयास करूँ। मेरे भीतर स्थित कोई यह सब कहता रहता है। कौन कहता है ? इस बार उसे चुप कराना होगा।

'क्या बात है ? घटकारी की तरह क्यों खड़े हो ?'

'ऐं।'

'नहाने में तो एक घण्टा लगा दिया। अब भी मन-ही-मन कुछ बुदबुदाते जा रहे हो। लिखना समाप्त नहीं हुआ ?'

'वह कुछ नहीं है। लगभग पूरा हो आया है।'

'मेरा खाना भी लगभग बन गया है। चलो बैठो खाने।'

सोने के कमरे में ही आसन बिछाकर ज़मीन पर ही कवि का खाना होता है, खाने की मेज़ उन लोगों के यहाँ नहीं है। कवि के रिश्तेदार नन्दूबाबू ने कहा है कि किराये पर एक खाने की टेबिल और चार कुर्सियाँ ला देंगे। किराया है एक सौ बीस रूपया महीना। इसके अलावा किराये पर दो पंखे और एक अलमारी भी वे लोग रखना चाहते हैं। अलमारी खरीदने की उनकी सामर्थ्य नहीं है। टेबिल की भी क्या ज़रूरत है, कवि ने कहा। खासा काम तो चल रहा है।

गृहिणी ने कहा, नहीं, दरकार नहीं है। श्यामलदा शेफाली दीदी का घर देखो न! कितनी सुन्दर मेज़ है, उनके यहाँ। वे लोग कितनी व्यवस्था से रह रहे हैं।

इस पर कवि ने कहा, 'सभी एक-से नहीं होते हैं मेरी गिन्नी! इसके अलावा वे दोनों ही नौकरी करते हैं।'

इस पर गृहिणी को अपने विरूद्ध क्रोध करने की और भी भूमि मिल गयी, 'दोनों ही नौकरी करते हैं। मैं भी तो नौकरी करती थी। तुम्हीं ने तो नहीं करने दी।'

इस पर कवि ने आहत होकर कहा, 'मैंने नहीं करने दी! तुम्हारे स्वास्थ्य ने ही नहीं करने दी।'

'वैसा तो बीच-बीच में सभी को होता रहता है, उसके बाद तो मैं एकदम ठीक हो गयी थी।'

'कहाँ, एकदम तो ठीक नहीं हुई थी। हर बार काम के समय कई मास लगातार एक-के-बाद एक तुम्हारा स्वास्थ्य खराब होने लगा था। तुम वह सब क्या सहन कर सकती थी ? घर-घर, गली-गली घूमने-फिरने का था वह काम।'

'फिर भी। इम्युनाइज़ेशन के समय कितने बच्चों को पकड़ा जा सकता था। स्कूल चलाने पर, कितने बच्चे आते हैं, पता है, एकबार एक बस्ती में, एक बच्चे ने मुझसे क्या कहा था ? मुझे गोद में ले लेंगी!'

'पता है, फिर उसके बाद उस बच्चे को तुम बस्ती से लाकर अपने घर में रखना चाहती थी। उसकी माँ को भी तुमने प्रायः राज़ी कर लिया था।'

'तुमने उसे नहीं लाने दिया।'

कवि ने पुनः अपने पक्ष के समर्थन का प्रयास किया, 'मैंने नहीं लाने दिया। इसका अर्थ ? हमारी क्या वैसी हालत है ? मिस्टू के हॉस्टल का खर्चा। घर का इतना किराया। इतना सब भार, इस पर और एक बच्चे को लाकर क्या हमारा खर्चा चल सकता था, बोलो न।'

गृहिणी की आँखें अचानक तीखी हो गयीं, 'ठीक-ठीक चलता। तुम्ही नहीं चाहते। बच्चा नहीं चाहते। तुम निष्ठुर हो, निष्ठुर।

कवि आगे बढ़कर गृहिणी का कन्धा पकड़ लेता है, 'सुनो तो, ज़रा चीज़ों को समझ कर देखो।'

वह झटके से अपना शरीर छुड़ा लेती है, 'खबरदार, तुम मुझे छुओ नहीं। मेरा स्पर्श नहीं करोगे।' कहते-कहते छाती के पास उसका कुर्ता पकड़कर कवि के बाँये कन्धे पर घूँसे मारती रही। पूरी बाँह समेत बाँया कन्धा उसे सुन्न लगने लगा। कवि रसोईघर के पास खड़े होकर यह देखने लगा कि कहीं फेंक कर मारने के लिए पास में कोई थाली-कटोरी है या नहीं। नहीं है, यह देखकर निश्चिन्त होकर दाहिने हथेली से धीरे-धीरे उसके सिर पर चपत लगाता है और कहता है शान्त हो, शान्त हो। गृहिणी स्थिर दृष्टि लेकर धम्म से खाट पर बैठ जाती है।

कितने दिन पहले की है यह घटना।

कवि खाने पर बैठकर पहले भात सानने लगता है।

गृहिणी कहती है, 'पहले मछली नहीं। करेला खाइए। यह है।'

कवि ओ, हाँ-हाँ कहता हुआ करेला खाने लगता है।

'अब दाल। यह है। तुमने खाना भी नहीं सीखा है।'

'आँ, ऐं।'

'पाँच वर्ष तो पूरे हो गये हैं।'

कवि जल्दी-जल्दी खाने लगता है। 'हाँ पाँच बरस, न!

'वही तो।'

कवि खाना समाप्त कर देता है।

गृहिणी कहती है, 'यह तुम्हारी तनाव की दवा है।'

अच्छा।

दिमाग पर लगभग समाप्त कविता धावा बोल रही है। इस कविता को क्या नाम दिया जाए। छोटा-मोटा कोई नाम तो इसे देना ही होगा। लोग या मानुषजन। लोग, यही नाम चल सकता है।

पानी पीकर कन्धे पर लटकाने वाले झोले में कॉपी-किताबें आदि लेकर, छाता डालते-डालते कवि कविता के नाम की खोज करता रहा। गृहिणी ने उसकी ओर पूरे दिन का खर्चा बढ़ा दिया, बीस रुपया। गृहिणी बोली, 'आज मैं थोड़ा जाऊँगी।'

'कहाँ जाओगी ?'

'देखती हूँ, कहाँ जाती हूँ।'

'नौकरी ढूँढने ?'

'हाँ, अगर ढूँढ सकी। घर में बैठे-बैठे क्या करूँगी ? पाँच बरस पहले यदि ढूँढती...

कवि सड़क पर निकल गया।

दो

कवि पैदल चला जा रहा है।

पाँच वर्ष। पाँच वर्ष बहुत-सा समय व्यस्त रहने के लिए था। कर्महीन बने रहने के पक्ष में। भूल जाने के

पक्ष में। बस की पंक्ति आज छोटी है। शायद किसी वजह से सरकारी छुट्टी है। उन लोगों का कार्यालय बेसरकारी है। पंक्ति में खड़े कवि को बड़ी जल्दी खिड़की के पास वाली सीट मिल गयी। अब वह निश्चिन्त है। अब वह रास्ते में मन-ही-मन कविता को ठीक से सजा सकेगा। नहीं, सुधार नहीं। यहीं पर बैठे-बैठे शुरू से अन्त तक एकबार मन-ही-मन पढ़कर उसे अच्छी तरह समझ लेना। फिर काट-छाँट बाद में।

बस चल दी। टाकुरिया पुल के ऊपर आ गयी है। सहसा खिड़की के बाहर एक चेहरा। राखाल राजा। माथे पर जूड़ा है। हाथ में बाँसुरी है। खिड़की के बाहर बस के साथ-साथ उसी रफ़्तार से उड़ता जा रहा है। उसका उत्तरीय भी फर-फरकर उड़ता जा रहा है।

'क्यों उस समय नाराज़ हो गये थे ? नहाते समय।'

'नहीं, नाराज़ होने से क्या होगा। और सुधार करने से भी क्या होगा।'

'यह तो नाराज़गी भरी बात है।'

'नहीं, नाराज़गी नहीं। सभी के लिए सिर्फ़ असुविधाएँ ही पैदा करना। कोई भी तो परिश्रम का अर्थ समझना नहीं चाहता। उन सब चीज़ों को देखता ही नहीं है कोई। अरे...!'

कवि ने देखा एक डबल-डेकर बगल से चली जा रही है। राखाल राजा कहाँ चला गया ? कवि ने खिड़की से थोड़ा झाँक कर देखा, दुमंज़िले की एक खिड़की को हाथ से पकड़ कर झूल रहा है। कवि को देखकर उसने हाथ हिलाया। बन्दर है क्या ? आज और क्रोध नहीं आ रहा है।

डबल-डेकर धीरे-धीरे चलती है। और मिनीबस ज़ोर से।

कवि को लेकर मिनीबस के आगे बढ़ते ही दोनों हाथ पसारकर खिड़की के बाहर राखाल राजा फिर से हवा में तैरने लगता है। हवा से मयूरपंख हिलता जा रहा है। बाँसुरी कमर में खौंसने के प्रयास में उसके हाथ से फिसल कर नीचे भागती हुई मारूति की छत पर गिर पड़ी। एक डुबकी-सी लगाकर पकड़ लिया उसे। बड़ा दुधर्ष लड़का है।

खिड़की के बाहर उड़ते हुए राखाल राजा ने कमर में वंशी खौंसते कहा, 'क्यों वह बात कह रहे हो।'

'कौन-सी बात।'

'वही जो कहा, परिश्रम का अर्थ कोई समझना नहीं चाहता है। उन सब बातों की ओर कोई देखता ही नहीं है। कोई तुम्हारे कार्य की ओर देखे, क्या तुम इसीलिए लिखते हो ? दूसरों की तारीफ़ पाने के लिए ?'

'नहीं, ठीक वह नहीं, माने...'

'दोपहर में, धूप भरे मैदान में, मैं जब बाँसुरी बजाता हूँ, पक्षी भी जब गाना बन्द कर देते हैं, कौन सुनता है वह बाँसुरी ? कोई सुनता है क्या ? कोई सुने, क्या मैं इसीलिए बजाता हूँ ?'

'रुद्र सुनता है।'

'रुद्र! हाँ, वह ठीक है।'

प्रान्तर प्रान्तर के कोने में रुद्र बैठा है, इसीलिए वह सुनता है। कवि सोचने लगा, प्रान्त कहने के बाद फिर 'कोना' कहने की क्या ज़रूरत थी। प्रान्त का अर्थ ही है सीमा, किनारा, छोर। उस पर भी कोना। ऊँ हूँ। ठीक-ठीक वह मान नहीं सका।

राखाल राजा खिड़की के उस तरफ से बात काट देते हैं, 'जैसे तुम बहुत जानते हो। तो फिर तुक कैसे मिलती ?'

'हाँ, तुक के लिए ही वह शब्द वहाँ लाया गया है। यह तो ठीक नहीं है। थोड़ा सुधार कर सकते थे।'

'ऊँहूँ, फिर वही सुधार, जिसने यह लिखा है वह तुमसे कितने हज़ार गुना बड़ा कवि है। क्या इसे तुम जानते हो।'

'जानता हूँ।'

'और उसने कितने हज़ार सुधार किये हैं, क्या यह भी तुम जानते हो ?'

'जानता हूँ।' इसी वजह से ग़लती नहीं देखूँगा।'

'देखोगे ? किन्तु खोजोगे नहीं। तुम तो ग़लती ढूँढ़ रहे थे।'

'प्रान्तर प्रान्तेर कोणे रुद्र वसि ताई शोने' क्या इसका कोई विकल्प है। हो सकता है।

कवि लज्जित हो गया। सचमुच में इसका कोई विकल्प नहीं हो सकता है। यह तो निश्चित है।

राखाल राजा का कहना है- त्रुटि खोजने गये कि मरे। दृष्टि कलुषित हो जाएगी। जीवन में फिर अच्छाई देख नहीं पाओगे। अन्धी आँखों से भटकते-भटकते एक दिन फिर कीचड़ में गिर पड़ोगे। तो फिर, रुद्र कोने में बैठकर ही शायद नहीं सुनता, यह ठीक है। न, सुनता नहीं है।'

राखाल राजा का यह निश्चय है,

'तो फिर कहाँ बैठकर सुनता है ?'

'ऊपर! देखो, प्रान्तर प्रान्तेर कोणे से सुर ऊपर उठता जा रहा है, कितनी ऊँचाई पर उठता जा रहा है।

कितनी ऊपर। दूर और ऊपर उठता जा रहा है सुर। इसका अर्थ है रुद्र वहीं पर है। तारसप्तक के ऊपर उसका आसन है। वहीं पर वह रहता है।'

'रुद्र है कौन ?'

'जो सुनता है वह रुद्र है। निःसंग, धूप से पीड़ित दोपहर के समय की बाँसुरी को जो सुन लेता है।'

जो रुद्र है वह प्रतापी, प्रबलशक्ति वाला है। वह निःसंग है। वह मग्न है। वह कवि है।'

'वह देखो। कण्डक्टर आ रहा है।'

कवि ने मुँह घुमाकर देखा, जी कण्डक्टर। कवि दस का एक नोट आगे बढ़ाकर कहता है, ढाकुरिया, ग्रेट ईस्टर्न का एक टिकिट दीजिए।

कण्डक्टर थोड़ा परेशान है, फुटकर दो रुपया दें।

'नहीं है भाई।'

'नहीं है तो पहले क्यों नहीं बताया। छुट्टी के दिन पैसेंजर तो हैं नहीं। रखिए, बाद में देखता हूँ।'

कवि अप्रतिम चेहरे से खिड़की की तरफ देखने लगता है। राखाल राजा गायब था। वह क्यों रहेगा। जब ज़रूरत होगी, उस समय वह नहीं रहेगा। दुर्धष लड़का है न! चालाक और चतुर।'

बस कर्ज़न पार्क पार कर रही है। कवि उठकर खड़ा हो गया। दस का नोट उसके हाथ में है। अपराधी की तरह खड़ा हो गया कण्डक्टर के सामने। कण्डक्टर रुपया छोड़कर फुटकर पैसे और टिकिट दे रहा है। हेल्पर दरवाज़े पर खड़ा चिल्ला रहा है, उतरिये-उतरिये। कवि अपराधी की तरह चेहरा लिए उतर पड़ता है।

ऑफ़िस पहुँचकर कवि ने देखा, टेबिल पर चिट्ठियों के साथ विशेष ज़रूरी लिखा हुआ एक लिफ़ाफा भी पड़ा हुआ है। विश्वनाथ हाजरा ने उसे बताया कि उसकी कविता में छापे की दो भूलें हो गयी हैं। एक में 'मौन प्रतिमा' शब्द हो गया है, 'यौन प्रतिमा'। दूसरी में 'मरूरमणी' शब्द हो गया है 'ससरमणी'। काफ़ी छोटी और दुःखभरी चिट्ठी है। होने की ही बात है। सम्पादक को भी इसी आशय की चिट्ठी लिखी गयी है, विश्वनाथ बाबू ने उसे यह जानकारी भी दी। सहकारी श्यामलदास ने आकर उससे पूछा- 'प्रूफ़ किसने देखा था ? आपने ?

कवि ने स्वीकार किया, हाँ, उसी ने प्रूफ़ देखा था। ज़िम्मेदारी उसी की है।

श्यामलबाबू ने इस पर कहा- 'प्रूफ़ देखते-देखते आपने यह क्या कर दिया था ? शायद आप अपनी रचना में संशोधन करने की सोच रहे थे। वही है आपकी समस्या महाशय। उसी एक अंक में आपकी कविता भी छापी गयी हैं। उसमें तो कोई ग़लती है नहीं।

सिर नीचा कर, अपराधी का-सा चेहरा लिये कवि अपनी मेज़ पर लौट गया। सचमुच में अपनी रचना का प्रूफ़ और दूसरे की रचना का प्रूफ़ क्या वह एक-सी सतर्कता से नहीं देखता है। यह आरोप क्या सत्य है।

नहीं, सत्य नहीं है। किन्तु, इसे प्रमाणित करने का कोई उपाय नहीं है। आखिर भूल तो भूल ही है। अगले अंक में चिट्ठी-पत्री के स्तम्भ के अन्त में भूल सुधार निकालना होगा। सुधार का नोट।

टेबिल पर दो लिफाफ़े थे। इनमें डाक से आयी रचनाएँ हैं। इनमें कई तो फ़ाइल में चली जाएँगी, मुख्य चयनकर्त्ता के पास भेजे जाने के लिए। कई जाएँगी टेबिल के नीचे।

प्रतिदिन टेबिल के नीचे से कितने अपरिचित लेखकों का अभिशाप कवि की तरफ आ जाता है।

सिर्फ़ टेबिल के नीचे से ही नहीं। टेबिल के ऊपर से भी और अपरिचितों का ही नहीं, परिचितों का भी अभिशाप उसमें रहता है। टेबिल पर ही रखी हुई है डाक से आयी एक नयी पत्रिका। उसमें माधव सेन की एक गद्य रचना है। माधव सेन, मौका मिलते ही, कवियों को चिकोटी काटते हैं या उन पर अनेक क्षेत्रों से आक्रमण करते हैं। स्पष्ट रूप से, नाम हो अथवा न हो, व्यक्तिगत रूप से या मित्रों के समागम में। सामने आने पर दोनों मित्रता का मुखौटा धारण कर लेते हैं। यह उस व्यक्ति की निगाह देखते ही समझा जा सकता है। वह सदा असन्तुष्ट, उपदेश प्रिय और बकवाद प्रिय रहा है, अपनी रचनाओं में और स्वभाव में। इस गद्य रचना पर एक नज़र डालकर कवि ने देखा कि सभी को घूलिसात किया गया है और इस समय कैसा लिखा जाना चाहिए, इसका निर्देश दिया गया है। स्वयं उस पर भी आघात की कोशिश की गयी है। वही लोग आते हैं घातक श्रेणी में। कवि ने उस पत्रिका को बन्द कर अपने बैग में रख लिया। यह ठीक है कि इस गद्य रचना को पढ़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। पर कई युवा कवियों की रचनाएँ भी इसमें हैं, घर जाकर उन्हें पढ़ना होगा।

कवि के पास की कुर्सी खाली है। उसका वरिष्ठ सहकर्मी आज आया नहीं है। उसके बदले आज उसी कुर्सी पर आकर राखाल राजा बैठ गया है। सिर पर मोरपंख और कमर में खुसी हुई बंशी। कवि ने गम्भीर स्वर में कहा, 'काम कर रहा हूँ। यहाँ परेशान मत करो।'

राखाल राजा ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया, 'उसके बाद कण्डक्टर ने दस रुपये का नोट तोड़ दिया?'

'हाँ तोड़ दिया। कभी किसी काम में तुम्हें मैंने मदद करते हुए देखा नहीं। वही कितने बरस पहले एकबार नहाने जाने पर वही 'देहि पदपल्लवमुदारम्' लिख देने के अलावा। परेशानी तो देखते नहीं हो।'

राखाल राजा ने आँखें लाल कर लीं, 'ए, बेकार की बात मत करो। यहीं तो उस दिन बेड़ा बाँधते समय उल्टी तरफ़ से रस्सी बढ़ाकर मैंने दे दी थी।'

'फिर कब सहायता की ?'

'वही जब तुम गाना बना रहे थे और कचहरी की कॉपी में उसे लिख भी रहे थे। हाँ, यह ज़रूर है उस बार मैं लड़की के रूप में आया था।'

इतने में फ़ोन बज उठा।

कवि ने उठा लिया। गृहिणी थी।

'हाँ, बताओ।'

'वह आया था।'

'कौन ?'

'गोपाल।'

कवि ने थूक निगलकर कहा, 'इसीलिए फ़ोन किया ?'

'हाँ, सुनिए ना, स्कूल में भर्ती हो गया है।'

'पाँच बरस तो उसे मैंने खाने को दिया था।'

'अच्छा तो है।'

'जाते समय ना, थकैंयां लेता हुआ चला गया। मैं उसे पकड़ नहीं पायी।'

'अच्छा ठीक है। मैं घर आ रहा हूँ, उसके बाद तुम्हारी सारी बातें सुनूँगा। कैसी हो ?'

सुनिए ना! अकेले घर में जैसे पागल हूँ ऐसा लगता रहता है। क्षिप्रा दी के पास जाऊँ एकबार? उनसे नौकरी के बारे में कहूँगी ?'

'पहले मैं घर आ जाऊँ। उसके बाद बातचीत होगी।'

'अच्छा! तो तुम तुरन्त घर चले आओ।'

कवि ने मुड़कर देखा कि राखाल राजा गायब हो गया था। सीट पर सिर्फ़ उसका मोरपंख पड़ा हुआ था। डाल गया है। कवि ने उसे उठाकर अपने झोले में रख लिया।

'नमस्कार।'

कवि ने ताककर देखा एक युवक था।

'कहिए'।

'मेरा नाम विकास मजूमदार है।'

'अच्छा।'

'मुझे एक चिट्ठी मिली है।'

लिफाफा खोलकर युवक एक चिट्ठी बढ़ा देता है उसकी तरफ़।

'हाँ। पूजा अंक के बारे में चिट्ठी है। क्या रचना लाये हो ?'

'नहीं।'

'यह क्या ? क्यों नहीं लाये ?'

'तीन रचनाएँ लिखी थीं। एक भी अच्छी नहीं बन सकी। यह पूछने आया हूँ कि क्या और भी समय दिया जा सकता है ? चिट्ठी में तो इसी महीने के पहले सप्ताह की बात लिखी हुई है।'

कवि हँस पड़ा, 'हाँ! ज़रूर दिया जा सकता है। बैठिए न।'

युवक बैठा नहीं। उसके सिर के बाल छोटे-छोटे हैं। उसकी भाषा में थोड़ा पूर्वी बंगाल का लहजा है।

कवि ने पूछ ही लिया, 'आप कहाँ रहते हैं ?'

'मेरा घर बनगाँव है।'

कवि को याद आ गयी चायना की बात। मेरा घर है बनगाँव। घर जाकर अपनी रचना समाप्त करनी होगी। कवि ने लक्षित किया उस युवक के पैरों में हवाई चप्पल है।

कवि ने पूछा, 'आप हवाई चप्पल क्यों पहने हैं ? इसे पहने-पहने बस में चढ़ना तो बहुत खतरनाक है।'

उस लड़के ने जवाब दिया, 'मैं तो बस में बैठता ही नहीं हूँ। आप मुझसे तुम कहें।'

'अच्छा ठीक है। बस में क्यों नहीं बैठते हो ?'

'अच्छा नहीं लगता है। मैं पैदल ही घूमता रहता हूँ।'

यह सुनकर कवि अवाक् हो जाता है। बोलता है, 'वाह! तुम तो काफ़ी पैदल चल सकते हो।'

'लेख कब तक देना होगा ?'

'अगले सप्ताह मिल जाना चाहिए ?'

'अच्छा। लेख जमाकर देने के बाद क्या उसमें थोड़ा संशोधन कर दिया जाएगा ? अगर ज़रूरत पड़ी तो?'

फिर संशोधन ?

कवि पुनः हँस पड़ा। 'कर दिया जाएगा। मुझे जानते हो ? कैसे ? बैठो न!'

'आज तो चलता हूँ। नीचे मेरा मित्र खड़ा है। कॉलेज स्ट्रीट जाऊँगा।'

'कौन मित्र है ? क्या मैं उसे जानता हूँ ?'

'शान्त! शान्तव्रत है।'

कवि पहचान गया। उसका चेहरा कवि की आँखों के आगे उद्‌भासित हो उठा। चश्मा लगाये हुए। एकदम काला। चश्मा के नीचे चमकती हुई आँखें। उसकी हँसी बच्चों जैसी।

इसी बीच फ़ोन बज उठा।

हाथ में फ़ोन लेकर कवि ने कहा, 'मुरारी दा- आ' मुरारी दा और एक उसके अग्रज सहकर्मी हैं। कवि का जो फ़ोन हैं, उसके सामने ही बैठे हुए हैं। अधिकतर फ़ोन उन्हीं के आते हैं। उल्टी तरफ से मुरारी दा का आवाज़ सुनायी पड़ी, 'ले रहा हूँ भाई हाँ, हलो, कवि उस युवक की ओर मुड़ा। उस युवक ने कहा, 'आज तो चलता हूँ।'

'फिर आना।'

कवि तरुण कवि के सिर पर मयूरपंख देखने लगा। वह मन ही मन सोचने लगा, 'एक दिन यह दुनिया को जीत लेगा।' फिर फ़ोन बज उठा।

'हलो।'

'श्यामल लाल से कोई मिलना चाहता है। उन्हीं का विज़िटर है। रिसेप्शन पर।'

फ़ोन रखकर कवि ने कहा, 'श्यामल बाबू, नीचे कोई व्यक्ति है।'

'नीचे कोई व्यक्ति है यह इस दफ़्तर का चलताऊ शब्द है। दफ़्तर तिमंज़िले पर है। एक मंज़िल पर रिसेप्शन है। इसीलिए संक्षेप में कहा जाता है 'नीचे व्यक्ति है।'

सीट पर बैठकर एक लिफ़ाफ़ा खोला भर था कि फिर फ़ोन बज उठा।

गृहिणी।

'हाँ, कहो।'

'वह आया था। फिर से'

'कौन ?'

'गोपाल। तुम जल्दी से चले आओ।'

'आ रहा हूँ। तुम्हारी तबियत कैसी है ?'

'ऐसा लग रहा है कि साँस फिर से फूल रही है। साँस लेने में तकलीफ़ हो रही है।'

'दवा खायी है ?'

'नहीं। खाकर क्या होगा ?'

'ऐसा मत करो। खा लो। कैसी हो! मैं शाम के पहले ही आ जाऊँगा।'

'अच्छा।'

कवि ने घड़ी देखी। डॉ. सेनगुप्त तो आज मिल नहीं सकेंगे। वे तो परसों बैठेंगे। क्या किया जा सकता है। कल उन्हें सवेरे-सवेरे घर पर ही पकड़ा जाए। किसी अज्ञात कारण से स्त्री का शरीर फूलता जा रहा है। धीरे-धीरे। इसी के साथ उसका चिड़चिड़ापन बढ़ता जा रहा है। बेचैनी भी। इसके साथ-साथ साँस की बीमारी, हाँफ़ना। एकाध और स्त्रियों को होने वाली बीमारी। सभी बीमारियों को कवि जानता भी नहीं है।

नहीं जानता है ? अपनी स्त्री की बीमारी के बारे में ? यह क्या बात है ? अपराधी की तरह चेहरा हो गया कवि का। अपने ही सामने। गत पाँच वर्षों से ऐसा ही चल रहा है। पाँच बरस। पाँच बरस क्या बहुत लम्बा समय है।

कवि ने देखा, उसका अग्रज सहकर्मी शुभ्रांशु चौधुरी अन्दर आया। घुसते ही अपनी सीट की ओर न जाकर, उल्टी तरफ श्यामल बाबू की सीट की तरफ जाकर उसने कहा, 'देखिए तो श्यामल क्या मेरा धारावाहिक छपने चला गया ?'

'नहीं शुभ्रांशु दा, आज पहला प्रूफ़ आया है।'

'देना तो भाई प्रूफ़।'

कवि को पता है, शान्त, संकोची शुभ्रांशु चौधुरी नाराज़ होने, अन्यमनस्क या उद्विग्न होने पर जाने-पहचाने व्यक्ति को भी भाई कहने लगता है। शुभ्रांशु चौधुरी प्रूफ़ लेकर उसके हाशिए पर छोटे-छोटे अक्षरों में कुछ लिखने

लगा।

फिर फ़ोन बजने लगा।

शुभ्रांशु चौधुरी ने कवि से कहा, 'थोड़ा फ़ोन उठाइए भाई।'

फिर भाई। इसका अर्थ है कि वह अब भी उद्विग्न है। कवि ने फ़ोन उठाकर कहा, 'हाँ, नहीं, वे आज नहीं आये हैं।'

प्रूफ़ वापस करते समय कवि ने शुभ्रांशु चौधुरी से पूछा, 'शायद तथ्यों की कोई गड़बड़ी थी।'

शुभ्रांशु ने इस पर जवाब दिया, 'न, न। एक जगह भाषा कम ज़ोरदार लग रही थी, कल रचना जमा करने के बाद से ही। जितना हो सका, उसे ठीक तो कर दिया है।'

शुभ्रांशु चौधुरी के चेहरे पर उस उद्विग्नता की छाप अब नहीं है। उसने फिर कहा, 'जाने दीजिए, बाद में पुस्तक छपते समय तो सुधार करने का मौक़ा मिल ही जाएगा। तब देख लूँगा।'

फिर सुधार का प्रसंग। इतने समय से इतने पाठकों को जीतने के बाद आज भी इतना संशोधन करना पड़ता है शुभ्रांशु चौधुरी को। तो फिर आजीवन सुधार करते जाना ही एक लेखक का भविष्य है। सारे जीवन वह भूल करता रहेगा। पूरे जीवन वह संशोधन करता रहेगा। लेखक की ज़िन्दगी यही है। शुभ्रांशु के साठ वर्ष पार हो जाने के बाद भी कवि ने यही एक चीज़ देखी है बार-बार। उसकी किसी भी रचना को लेकर चारों ओर उच्छ्वास की बाढ़ आ जाती थी। लेखक चुपचाप बना रहता है। घर लौटते-लौटते कवि से एकान्त में उसने कहा था, समझ लो अभी भी ठीक-ठीक संशोधन नहीं हो सका है। थोड़ा अगर दूसरी तरह से लिखता तो वह अच्छी हो जाती। अच्छा, पुस्तकाकार होते समय देख लूँगा। असल में लेखक ही यह समझ सकता है कि वह क्या चाहता था और क्या कर पाया है। दूसरे लोग उसे नहीं समझ पाएँगे। जो आघात पहुँचाने वाले हैं उनकी बात अलग ही है। वे तो सर्वज्ञ हैं और सब कुछ समझ सकते हैं।

फिर फ़ोन बजने लगा। ऑफ़िस में यही एक परेशानी है। इस बार फ़ोन उठाया शुभ्रांशु चौधुरी ने। 'हेलो' कहते हुए उसने कहा, 'हाँ'। उसके बाद उसने कवि की ओर देखा। 'तुम्हारा है।'

कवि ने फ़ोन लेते ही समझ लिया कि उसकी गृहिणी है।

'सुनिए, आज के अख़बार में दूसरे पन्ने पर एक बच्चे की तस्वीर निकली है। छह महीने का बच्चा है। माँ-बाप का ठिकाना पूछा गया है। इस समय 'लिलुया होम' में है। माथे पर काजल का टीका है। देखा है ?'

'नहीं।'

चलो न, उस बच्चे को हम लोग ले आएँ। हम लोग उसे पाल-पोसकर बड़ा करेंगे। एक मनुष्य बनाएँगे।

'पहले मैं घर आ जाऊँ। घर पहुँचकर इस पर बात करूँगा।'

'मुझे तो पता है घर आकर तुम क्या कहोगे। तुम इंकार कर दोगे। पूरे जीवन 'न' के अलावा कभी कुछ कहा है तुमने।'

'अच्छा, अब फ़ोन रख रहा हूँ।'

फ़ोन रखकर कवि ने कहा, 'शुभ्रांशु दा, आज मैं ज़रा जल्दी जा रहा हूँ।'

तीन

सचमुच में कवि थोड़ा पहले ही निकल गया।

जाने के लिए नीचे आते ही देखा कि रिसेप्शन पर उसका पहचाना हुआ एक लड़का खड़ा हुआ है।

'क्या तुम शान्तनु हो। किसके पास आये हो।'

'आपके ही पास आया हूँ।'

'बताओ, क्या ख़बर है।'

इस पर लड़के ने इधर-उधर देखा। 'आपसे थोड़ी-सी बात करनी थी।'

'चलो। चलते-चलते सुनूँगा।'

रास्ते में निकलकर उस लड़के ने कहा, 'मेरे लेख का शायद कुछ हुआ नहीं ?'

कवि ने ताककर देखा, लड़के का चेहरा विपन्न, व्यथित लग रहा है, अन्तिम सान्ध्य आलोक पड़ रहा है उसके करुण, सुन्दर मुख पर।

'क्या बात है,' कवि हँसने लगा। 'शायद किसी ने तुमसे कुछ कहा है।'

'नहीं, आपने ही तो कहा है, कुछ हुआ नही है ? आप मुझसे स्नेह करते हैं इसीलिए आपने ठीक ही कहा है, उत्साहित करने के लिए ? क्या मुझे लिखना बन्द कर देना चाहिए ?'

कवि रुककर खड़ा हो गया। 'चलो सड़क के उस पार, उस चाय की दुकान पर थोड़ा बैठते हैं।'

दो कप चाय और टोस्ट सामने लेकर फिर से बातचीत शुरू हो गयी।

'तुम्हारी रचना सचमुच में अच्छी है या नहीं, क्या मैं यह जानता हूँ ?'

'यानि ?'

'मैं जितना समझता हूँ, उसी आधार पर अच्छी कह रहा हूँ पर मेरी समझ ही तो एकमात्र आधार नहीं है, वही सर्वश्रेष्ठ भी नहीं है। अच्छे की धारणा भी तो पूरी तरह संशोधित हो सकती है। उसमें भी सुधार हो जाता है। क्या ऐसा नहीं है ? सचमुच में अच्छा क्या है, उसी को समझने में ही पूरा जीवन कट जाता है। हम लोग उसी को समझने का प्रयास करते रहते हैं। तुम अपनी तरह से करते हो। मैं अपनी तरह से करता हूँ।'

'आप और मैं ? कितना अन्तर है।'

'क्या अन्तर है बताओ तो। तुमने मुझसे पन्द्रह वर्ष बाद लिखना शुरू किया, मैंने तुमसे पन्द्रह वर्ष पहले लिखना शुरू कर दिया है। इतना ही तो फ़र्क है। पर एक ही प्रकाश-अन्धकार में रास्ता खोजते हुए हम दोनों चले जा रहे हैं।'

उस युवक ने अवाक् होकर कहा, 'आप इस तरह से कह रहे हैं, यद्यपि दूसरा कोई अन्य तरह से कहता।'

'यही स्वास्थ्यकर है। हर व्यक्ति अलग है, वह अपने अनुसार ही तो दुनिया को समझना चाहेगा।'

'कोई अगर सबको समझ लेता है। अन्य को भी।'

'तब उसे ज्ञानी कहते हैं।'

'किन्तु ज्ञानी होने के कारण क्या किसी को भी अपमानित करने का अधिकार हो जाता है ?'

'यही देखो, तुम कह रहे हो ना, क्या हुआ। किसी ने अवश्य तुमसे कुछ कहा है। किसने कहा है ?'

'माधव सेन ने।'

कवि का चेहरा थोड़ा फ़ीका पड़ गया। 'क्या कहा है, उन्होंने ?'

'उस दिन ऑफ़िस में आपको अपनी 'दुर्ग' पत्रिका दे गया था न।'

'हाँ, हाँ।'

'पत्रिका देकर निकल ही रहा था कि देखता हूँ सामने की सिगरेट की दुकान के पास माधव सेन और अमल वसु खड़े हुए हैं। मैंने उनसे पूछा- माधव दा आप ठीक से तो हैं, पत्रिका मिल गयी आपको। उन्होंने कहा, वह तो मिल गयी। पर, तुम्हारे क्या हाल हैं! ऐं, तुमने तो अपना चैनल बदल दिया है, मैंने ऐसा सुना है। आजकल आते-जाते नहीं। बड़े पेड़ से नाव बाँध दी है, हाँ ? मैंने कहा, बड़े पेड़ का मतलब ? वे कहने लगे, अब तुम

बहुत चालाक हो गये हो, बड़े पेड़ का अर्थ नहीं जानते! तुम्हारा लिखना तो कुछ हो नहीं रहा है। 'दुर्ग' पत्रिका में तुम्हारी तीनों रचनाएँ बहुत खराब हैं। वे पढ़ी ही नहीं जा पाती है। आजकल इतना खराब क्यों लिख रहे हो?'

इस पर कवि क्या कहे, कुछ सोच नहीं पाया। उसके बाद उसने पूछा, 'तुमने क्या कहा ?'

'मैंने कहा- शायद वे रचनाएँ अच्छी नहीं बन पड़ी हैं। स्वयं तो समझ नहीं सका। इसीलिए छपने दे दी थीं। फिर भी माधव दा 'संकेत' पत्रिका में आपकी दोनों रचनाएँ खूब अच्छी लगी हैं।'

'वाह यह तो तुम्हारी जीत है।'

'इसका अर्थ ?'

'माधव सेन ने, माधव सेन की अपनी रुचि से यह बात कही है, तुमने अपनी रुचि का प्रमाण दिया है।'

'नहीं, अर्थात् मैंने कहा, 'दुर्ग' पत्रिका में देने के पहले मैंने तो वे रचनाएँ आपको दिखा ली थीं। तब आपने कहा था, ठीक है।'

'वह जो कहा था, वह अपनी विचार-बुद्धि के अनुसार कहा था, माधव सेन के विचार ठीक ही होंगे, यह क्या मैं कह सकता हूँ।'

'आप अच्छे से तो हैं, पूछने पर अगर कोई कहता है, चैनल चेंज कर दिया हे, बड़े पेड़ से नाव बाँध दी है, इसका क्या अर्थ है ?'

'क्यों, क्या समझ नहीं पा रहे हो, यह उसकी रुचि है।'

'बड़े पेड़ का क्या अर्थ है, पता है ?

'क्या अर्थ है ?'

'पहले बीच-बीच में मैं उनके पास जाया करता था, आजकल नहीं जाता हूँ। आपके पास आता हूँ। उन्हें इसी बात का पता लगा है। उसी ओर उन्होंने इशारा किया है।'

'बस, बस और नहीं शान्तनु। इस प्रसंग को लेकर आगे हम बात नहीं करेंगे।'

'क्यों। आप नाराज़ हो गये ?'

'नहीं। नाराज़ नहीं। अपना बचाव। सतर्कता। इस प्रसंग पर बात करने का अर्थ है, अपने मन को गन्दे, कुत्सित कीचड़ में खींचकर ले जाना। इसी तरह हमारा मन और जीवन जीविका निर्वाह की वजह से सदा कीचड़

के आसपास घूमता-फिरता रहता है। निरन्तर सुधार करते-करते उसे बाहर लाना पड़ता है। उसे ऊँचा उठाना पड़ता है। रचना की ओर लाना पड़ता है। हम जो लिखते हैं, मन के अलावा हमारा और कोई सम्बल नहीं है, अपनी इच्छा से क्या उसे कोई नष्ट करना चाहेगा ?'

'तो फिर मैं क्या करूँ ?'

'कोई अगर यह कहता है कि रचना खराब है उसे सहज रूप से लेना चाहिए। दुनिया में सभी को तुम्हारी रचना अच्छी लगे, ऐसा कभी नहीं होता पगले! माधव सेन के साथ कभी भेंट हो तो आप अच्छे हैं, यह कहते हुए उनसे दूर हट जाना।'

माधव सेन जैसे लोगों की आँखें महत्वाकांक्षा और ईर्ष्या से अन्धी होती हैं, यह ठीक है, पर इतनी छोटी उम्र के तरुण पर क्या उसका प्रयोग करना चाहिए ?

वह लड़का असहाय की तरह कहता है, 'मैंने इसीलिए कहा था, सिर्फ़ वही तो कहा था।'

कवि नहीं जानता है कि इसके बाद उस लड़के से उसे क्या कहना चाहिए। अपमान के आघात से वह छटपटा रहा है। लड़का बुद्धिमान है। सान्त्वना देने से ही वह सम्भल जाएगा। कवि यह नहीं समझ पा रहा है कि उसे क्या कहना चाहिए ? वे लोग इस समय बड़ी सड़क के किनारे खड़े हुए हैं। सामने से व्यस्त शाम का ट्रेफ़िक भागा चला जा रहा है, रुकता भी जा रहा है। लड़के के चेहरे पर सड़क पर लगे होर्डिंग की रोशनी पड़ रही है। वह इस समय भी ट्यूशन करने जाएगा। क्या कहना चाहिए उसे। ऐसी स्थिति में वह स्वयं क्या करता ? सहसा घूमकर खड़े होकर कवि ने कहा, 'सुनो, तुमसे कोई चाहे जो कुछ कहे, तुम घर जाकर कोरे कागज़ के सामने बैठ जाओगे और एक कविता लिखोगे।'

'मतलब, क्या इसी मानसिक स्थिति में कविता लिखी जाती है ?'

'यह तो मैं नहीं जानता, मैंने जितनी बार आघात खाया है, जितनी बार आनन्द पाया है, किसी कागज़ के सामने जाकर बैठ गया हूँ। कोरे कागज़ के सामने बैठने पर तुम देखोगे, वही है जल की धारा, सच, जल की धारा। उसमें अपना चेहरा देखा जा सकता है, दुनिया का भी।

'जितने आघात मिलें, कोरे कागज़ के सामने जाकर बैठो। मैं इसीलिए बैठता हूँ। मैं और मेरी कलम। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कर सकता। इससे अधिक मैं तुम्हें कुछ और सिखा भी नहीं सकता।'

शाम का समय पार कर भीड़ में चपटी बस से सड़क पर कवि उतर पड़ा। उतरते समय उसके कुर्ते का बटन टूट गया। छत्ते का हेण्डिल एक व्यक्ति के कुर्ते में अटक गया। भीड़ में उसके कन्धे का झोला फँस गया।

लोगों का तिरस्कार और खींचतान सहन करते हुए कवि उतर पाया। अपने सामने कवि जितना शब्द, कागज़, कोरा पन्ना, संशोधन आदि रात-दिन कहता हुआ क्यों न चले किन्तु भीड़ में वह एक भुने चिवड़े की तरह तुच्छ व्यक्ति है। उससे वह कैसे बचेगा।

इन सब चीज़ों से अगर वह बचेगा तो वह लिखेगा कैसे ? उसकी रचना में जीवन कहाँ से आएगा ?

बस स्टॉप से उसका घर काफ़ी भीतर है। मोड़ पर खड़ा रिक्शावाला लगभग उसका पहचाना हुआ था। एक किशोर रिक्शे वाले ने उसे पुकारा, बाबू चलना है। उसका नाम था, फुचका।

कवि ने हाथ हिलाकर कहा, 'नहीं, गड्ढ़ों-खन्दकों भरा रास्ता है। भीड़ का इतना दबाव झेलने के बाद अब इतने हिचकोले वह नहीं सहेगा। शाम के वातावरण में धीरे-धीरे पैदल चलकर जाना ही श्रेयस्कर है।

चलते-चलते कवि को सुनायी पड़ा सामने की कैसेट की दुकान के साउण्ड बॉक्स से गमगमाता हुआ एक स्वर, पेट काटा चाँदीवाला। सुमन चट्टोपाध्याय। कई बार सुना हुआ गाना कवि के कानों में और एक बार पड़ने लगा। रिक्शा चलाने वाले एक बच्चे की कहानी कह रहा है, यह गाना। वह लड़का भी क्या उस फुचका की तरह सीट पर बैठकर आड़े-तिरछे होकर रिक्शा चलाता है ? पैडल पर उसका ठीक से पैर नहीं पहुँचता है इसलिए ? गाने के साथ बीच-बीच में आकाश में अनेक पतंगें उड़ती जा रही हैं। रिक्शा चलाते-चलाते वह बच्चा उन्हें देखता जा रहा है और रिक्शे पर सवार बाबू की ऑफ़िस जल्दी पहुँचने की बकझक उसे ठेलती जा रही है। पतंग उड़ रही है। 'मुक्ति की पतंग' उसे खबर दे रही है। कवि अक्सर फुचकी के रिक्शे से जाता है। कवि ने भी क्या कभी फुचकी को इसी तरह जल्दी चलने की हिदायत दी है ? हाँ दी है। उस समय वह कवि नहीं था। एक परेशान पेसेंजर बाबू मात्र। हज़ार-हज़ार ऑफ़िस बाबू क्या इस तरह से प्रतिदिन डाँटते नहीं रहते हैं, जल्दी पहुँचने की वजह से ? गाने की गति इस तरह की है कि रिक्शा चलाने का वेग और डाँट खाने की भय मिश्रित तेज़ी, एक साथ प्रस्फुटित हो उठती है, एक ही चंचल छन्द में हालाँकि मन क्षुब्ध हो उठता है।

'मुक्ति की तरंग उसे ख़बर भेज रही है', चार मात्रा के मात्रावृत्त में यह गीत लिखा गया है जिसमें आज सामान्य रूप से कोई व्यवहार नहीं करता पर काम कैसे पाया जाए।

किन्तु कवि ने स्वयं भी तो चार मात्रा के छन्द में बहुत दिनों से नहीं लिखा। सहसा कवि के मन में विचार आया कि इस फुचका को लेकर वह भी तो लिख सकता था। वह तो उसकी भी हरेक दिन की अनुभूति है। नहीं! वह नहीं लिख सका। एक अपराधी की तरह कवि ने अपना सिर नीचा कर लिया अपने ही सामने। कवि देख सका, गाने के उस अनचिन्हे रिक्शेवाले के सिर पर सुमन चट्टोपाध्याय ने लगा दिया है एक मयूरपंख। कवि को

याद आने लगीं दो लाइनें 'यह जो देख रहा हूँ/आदिकाल की दीवार फोड़कर/ जंगली वृक्ष का अंकुर खेल रहा है अपने हाथ-पैर फटकारते हुए।' कितनी अद्‌भुत छवि है। कवि भी तो गाँव के पास रहता था। कितना टूटा-फूटा पुराना घर, उसकी दीवार पर पीपल अथवा बरगद का पौधा क्या उसने देखा नहीं है, देखा नहीं अभी हाल में छतनार हुआ जंगली वृक्ष ? पर वह यह चीज़ नहीं कर सका। टूटी हुई दीवार थिर है। यह ठीक है। वृक्ष सजीव है पर वह भी तो अचल है। टूटी-फूटी कठोर दीवार के बीच उसका बन्धन एक झटके में मुक्ति और गतिशीलता पा गया, जंगली वृक्ष का अंकुर बच्चे की तरह हाथ-पैर फैलाते हुए खेल रहा है। हाथ-पैर फैलाने वाले एक शिशु की उपमा से हाल में अंकुरित पौधा जीवन्त हो उठा। जड़ता से लड़ता हुआ यह भी उसने देखा। ऐसी असामान्य कल्पना उसके हाथ में कभी नहीं आयी। न, वह ऐसी कल्पना कभी नहीं कर सका।

वह नहीं कर सका तो क्या हुआ, कोई और तो कर सका। एक कवि के न कर पाने का संशोधन एक दूसरे कवि ने कर डाला। यही तो कवि का काम है। सभी ने मिलकर प्रस्तुत कर दी एक बड़ी कविता। इसी तरह से तो भाषा बची रहती है। कविता बची रहती है। कवि सोचने लगा, किन्तु उस समय यह बात उसके मन में क्यों नहीं आयी ? अगर याद आ जाती तो वह शान्तनु से यह कहता, 'हम लोग यदि इस अनवसर पर स्वप्न देखते हैं तो इससे अन्य लोगों को क्या मतलब। तुम, मैं और हम सब लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार लिखते हैं। हम लोगों के हाथ में यदि महत कविता नहीं आती तो इससे किसी का क्या बिगड़ता है।'

कवि का मन यह सोचते हुए खुश हो उठा। कवि शाम की हवा में धीरे-धीरे चलने लगा अपने घर की ओर। उसे याद भी नहीं रहा कि उसने अपनी स्त्री से कहा था कि शाम से पहले ही वह घर लौट आएगा।

घर पहुँचते ही वह नहाने घुस गया। निकलते ही उसे सुबह-सुबह लिखी 'लोकजन' कविता के संशोधन के लिए फिर बैठना होगा। संशोधन। यही एक अचूक प्रक्रिया है। अपने को संशोधित करना। अपनी कविता का संशोधन। काटते-काटते उस क्षण जो सटीक और योग्य है, उसी भाषा को खोजकर उसका प्रयोग करना। कुछ समय बाद हो सकता है वह इतना उपयुक्त न लगे, इस क्षण के लिए विकल्पहीन भाषा उतनी सक्षम न हो। दूसरे दिन हो सकता है उसका कोई नया संशोधन दिमाग में आ जाए, हो सकता है वह शायद नयी कविता के चेहरे के रूप में सामने आए। तब निष्ठा से उसी की खोज में निकल पड़ो। निरन्तर काटते-काटते सत्य के शतधा छिन्न रूप, फिर भी सत्य एक दिन पकड़ में आ जाएगा। आज की दुनिया में, आज के समय में सत्य क्या शतरूपों में छिन्न-भिन्न नहीं है ? शतरूप में छिन्न हमारे मन की तरह।

उसका नहाना खत्म हो गया। अपने सामने अपना एक विचार खड़ा कर पाने से, थोड़ी गरिमा लेकर स्नानघर से निकल आया कवि।

चार

सामने की दीवार से टिककर, रात में सोने से पहले, कवि 'लोकजन' कविता को घिस-माँजकर परिष्कृत कर रहा था। इसी समय गृहिणी आ धमकी, 'क्या अब भी तुम्हारी कविता का अन्त नहीं हुआ है ? पूरे दिन मुझसे बात करने की तुम्हें फुरसत नहीं मिलती है ? फ़ोन पर तो तुमने कहा था घर पहुँचकर बात करूँगा।'

कवि ने सिर उठाया, 'हाँ, हाँ, कहो।'

कवि के हाथ में कलम थी। कवि की आँखों पर लिखने-पढ़ने का गोल चश्मा। कवि की गोद में लेटर पेड। पेड पर उल्टी-सीधी लकीरें।

गृहिणी ने कहा, 'आज वह फिर आया था गोपाल। पूरे दिन शैतानी करता रहा।'

कवि ने कहा, 'आज उसे कुछ खाने को दिया था ?'

'वह तो कब का दे चुकी हूँ। सवेरे नकुलदाना[1], बताशा और जल और दोपहर में दिया है लूची और गोपीठ।'

'वाह! खूब अच्छा खाना तो दिया है।'

गृहिणी की आँखें और चेहरा चमकने लगा 'आज पूरे दिन घुटनों पर चलता हुआ पूरे कमरे में घूमता-दौड़ता रहा। सहसा देखा कि स्कूल की पोषाक में है। पीठ पर बस्ता है। पाँच वर्ष के बालक का बस्ता इतना बड़ा। पकड़ने गयी तो भाग गया। कमरे में जाकर देखा, वहाँ नहीं था।'

'यहीं न ?'

'देखोगे आकर ?'

रसोई घर और बरामदे के बीच के एक कोने में गृहिणी के ठाकुर जी विराजमान हैं। काठ का बड़ा बक्सा है। वही ठाकुर जी का सिंहासन है। उसमें सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा की मूर्तियाँ हैं। पत्थर का एक छोटा-सा शिवलिंग है। बगल में घुटने के बल चलने की मुद्रा में गोपाल हैं। माथे पर मुकुट। हाथ में लड्डू है। इन गोपाल के लिए अलग से सिंहासन है। पीतल का है। उसके सामने स्टील की छोटी-सी थाली और गिलास है। गिलास में जल है। दो थालियों में से एक में बताशा और दूसरी में लूची तथा गोकुल पेठा है। दो-तीन बड़े-बड़े काले चींटे बैठे हुए हैं, उस पर।

कवि ने निश्चिन्त होकर कहा, 'हाँ, वही तो। सब ठीक ही तो है।'

---

१. शक्कर में पगा एक विशेष बांग्ला व्यंजन

'न, सब ठीक नहीं है। ठीक हो सकता था। काश ठीक होता। पाँच वर्ष पहले तुम्हीं ने तो सब खत्म कर दिया था।'

कवि का मुँह स्याह पड़ गया। कवि कठोर हो गया। कहने लगा 'सुनो, मेरे पास और कोई उपाय था ही नहीं। माने हमारे पास और क्या था। उपाय...'

'उपाय नहीं था ? उपाय किसे कहते हैं ?'

'तुमने तो कहा ही है। मुझे जो वेतन मिलता था, उससे खर्चा चलता नहीं।'

'लड़की को होस्टल में भेज दिया। दिल सूना हो गया। पूरे दिन मैं क्या करते हुए रहूँ।'

'वह तो तुम्हीं ने दबाव डाला था। हर दिन जब भी मैं ऑफ़िस से लौटता, उसके बाद एक ही रटन, होस्टल देखो, होस्टल देखो। नहीं तो क्या मेरी सामर्थ्य थी, होस्टल में रखकर पढ़ाने की।

'यहाँ अगर रहती तो क्या वह मनुष्य बन पाती ? तुम तो पूरे दिन कविता और केवल कविता लेकर बैठे रहते हो। कविता लिख गयी, फिर कितनी बार सुधार। उसके बाद ऑफ़िस से गद्य लिखने का काम दिया गया तो घर आकर दिन-पर-दिन वही हाँडी जैसा मुँह किये बैठे रहना और कागज़ फाड़ते रहना। उधर वेतन में कटौती होने लगी। उसकी अशान्ति अलग से। इस स्थिति में लड़की मुँह में ताला लगाए बैठी रह सकती है क्या। होस्टल न भेजती तो क्या करती ? मुझे एक बूँद समय नहीं देते थे। लड़की की देखरेख करते नहीं थे।' कवि असहाय महसूस करने लगा।

'क्या करूँ ? मेरे पास समय है क्या, बताओ ?'

'किसी ने आकर कहा, अमुक कवि ने मुझसे खराब बात कही है, इस पर उसे घण्टों समझाने का समय तो तुम्हें ठीक-ठीक मिल जाता है। उसके मन को शान्ति दिये बिना तुम्हारा जैसे काम चलता ही नहीं।'

कवि विस्मय में पड़ गया। 'ये सब नये लड़के हैं। हाल में ही लिखना शुरू किया है। मैं अगर उन्हें साहस नहीं बँधाऊँगा तो कौन बँधाएगा ?'

'बँधाओगे। पर अपनी बहू-बिटिया को नहीं देखोगे। लड़की को मैं रोज़ पीटती थी पढ़ने के लिए। मार खाते-खाते ढ़ीठ हुई जा रही थी। यही तो दो कमरे हैं। पास में ही निम्न लोगों की बस्ती है। चारों तरफ खेलने की ज़रा भी जगह नहीं है। समवयस्क एक-दो सखी, सहेली नहीं हैं। मनुष्य हो पाती बेटी यहाँ रहने से ?'

'और तुम्हारी नौकरी ? नौकरी की बात नहीं कही ?'

'नौकरी तो छोड़ ही दी। मैं नौकरी करूँ, यह तुम्हीं नहीं चाहते थे। उसके बाद स्वास्थ्य। शरीर तो मेरे

लिए आफ़त है। काम के बाद तो और भी खराब होता गया। इसलिए नौकरी छोड़ दी। पर मैंने बच्चों को लेकर ही रहना चाहा था। कहा था, घर पर एक क्रेच बना लूँ। छोटी-छोटी सब गुड़ियाँ आएँगी। उन्हें सँभालूँगी। खिलाऊँगी। सुलाऊँगी। पढ़ाऊँगी। तुम राजी नहीं हुए।'

कवि मानो आकाश से गिर पड़ा हो। 'तुम क्या पागल हो गयी हो ? इतने छोटे से कमरे में क्रेच हो सकता है कभी। बच्चों के माँ-बाप राजी क्यों हो जाएँगे। इसके अलावा मकान मालिक एतराज करता। फिर तुम्हारे ऊपर नौकरी छोड़ने के लिए मैंने दबाव तो नहीं डाला था ? और बच्चों को लेकर रहो, इस पर भी मैंने कोई आपत्ति नहीं की कभी।'

गृहिणीं फुत्कार उठी, 'आपत्ति नहीं की, इसका अर्थ ? तुम्हीं ने तो कहा था, छोड़ दो।' कवि की देह सिहर उठी। 'चुप करो। चुप। वह तो अपनों के लिए। तुम्हारा वह होम। वह सड़क पर घूमने वाले बेकार लड़के। इन सब पर तो मैंने कभी आपत्ति नहीं की थी।'

'तो फिर सारे दिन मैं क्या करूँगी, बताओ तो। मैं फिर से जाऊँ शिप्रा दी के पास?'

कवि का चेहरा चूर-चूर हो गया। अब तक अपने आवेश को दबाए हुए था, अब एक दम उबल पड़ा।

'शिप्रा दी ? फिर ? तुम्हें क्या उन सब अपमानों की बात याद नहीं है। वह सब ठट्ठा-मज़ाक उड़ाना? रात नौ बजे तक तुम से होम की खरीददारी कराना और दूसरे दिन अन्य सहकर्मी महिलाओं से तुम्हारा अपमान कराना ? होम की जिन बच्चियों के बारे में तुम घर आकर भी रात में लेटे-लेटे सदा सोचा करती थी, उन्हें तुमसे मिलने न देना। एक-दूसरे के बीच वही सब छिपकर निन्दा करना। क्या यह सब तुम्हें याद नहीं है ? याद नहीं है एकाउटेण्ट के द्वारा रुपयों का प्रसंग छेड़कर तुम्हें नीचा दिखाना ?'

'हाँ, याद आता है, याद आता है।'

'फिर शिप्रा दी की उसी बहन की बात याद नहीं आती है, जो अपनी इच्छानुसार ऑफ़िस से चली जाती है और जब मन हुआ ऑफ़िस आ गयी, मानो यह उसके बाप का काम है। उसकी साड़ी, गहने और हीरा मोती जड़ी नाक की कील लेकर तुम्हें अपमानित करना, यह सब तुम्हें याद नहीं आता है ?'

'आह, आह, अब अधिक मत कहो।'

'और घर आकर दिन-पर-दिन तुम्हारा तकिया भिगोना और मुझसे छिपकर जाना। उनके पास अब तुम फिर जाओगी, जिन शिप्रा दी ने नौकरी छोड़ देने के बाद ड्राइवर के हाथों तुम्हारे लिए वारविडल उपहार में भेज दिया था। मानो, समाजसेवा छोड़ देने के बाद घर बैठकर गुड़ियाँ खेलना ही तुम्हारा काम होगा। क्या मैं उनसे

भी खराब हूँ। बताओ, मैं क्या उनसे भी अधिक निष्ठुर हूँ।'

'अब चुप हो जाओ, चुप।'

'फिर वही दीपाली ? लोपामुद्रा ? जो तुम्हारी इस सरलता को मूर्खता कहकर सदा आड़ में हँसती रहती हैं। यहाँ तक कि सामने भी, हाँ, सामने भी, मैं अचानक कमरे में घुस रहा था, इसलिए यह सब समझ सका था। तुम नहीं समझ सकी थीं। तुम्हें तकलीफ होगी, इसलिए मैंने तुम्हें बताया नहीं। तुमसे इसी तरह रुपया उधार लिया, स्वयं सम्पन्न होते हुए भी। और वह रुपया था, अपने प्रकाशक से उधार लिया हुआ, तुमने जब उसे वापस माँगा, तब तुम्हें पत्र लिखकर भेजा कि तुम किस रुपये की चर्चा कर रही हो, यह वे समझ नहीं पा रही हैं। और तुम्हें झूठा कहा गया है यह सोचकर दुःखी होती रही, ऑफ़िस से आकर मैंने देखा है तुम बिना नहाये पूरे दिन इसी स्थिति में बैठी हुई हो, मुँह में एक दाना भी तुमने नहीं लिया है। मुझसे कहा, दीपाली ने मुझे झूठी कहा है। बताओ, क्या यह सब नहीं हुआ है ?

'हुआ है।'

'और इसके बाद भी तुम बच्चों के साथ रहोगी इसलिए एक-के-बाद एक आर्गनाईज़ेशन में घूम रही हो, ठोकरें खाती फिर रही हो, घण्टों तीखी धूप में पैदल चलते-चलते थका शरीर लेकर वह सब फ़ील्ड वर्क करते हुए और भी अपने स्वास्थ्य को भद्दा कर डाला। इसके बाद भी तुम उन सब लोगों के पास पुनः जाना चाहती हो ? फिर भी ?'

एक साँस में इतनी सब बातें कह डालने के बाद कवि हाँफ़ने लगा। उसे अपने भीतर खालीपन-सा लगने लगा है। जीभ पर कड़ुआ-कड़ुआ स्वाद। ख़राब बातें, कुत्सित प्रसंग कहने की उसकी इच्छा नहीं होती है। मन में अंधेरा हो जाता है। पर इसका कोई उपाय नहीं है। अपनी स्त्री को वह जानता है। उसे पुनः आहत होने से बचाने के लिए इन सब चीज़ों की याद दिलाने के अलावा उसके सामने और कोई मार्ग नहीं था। अपना सर्वस्व दाँव पर लगाने वाले युवक-युवतियाँ सचमुच में रास्ते में भटकने वाले बच्चों के लिए, लड़कियों के लिए काम करते हैं पर उसकी स्त्री ग़लत जगह पर जा पड़ी थी। बल्कि ग़लत जगहों पर।

प्रति-आक्रमण से उसकी स्त्री कुछ दिशाहीन ज़रूर हो गयी थी। अबकी बार उसे शब्द खोजे नहीं मिले। अथवा अपने मन में ही मानो अपनी हालत का विश्लेषण करती रही, 'अच्छा अब नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी तो फिर करूँगी क्या ? मैं क्या करूँ बताओ तो ? क्या करूँ, सूनी के तो बच्चा हुआ है। उससे कहूँ कुछ दिन यहाँ आने के लिए। मैं उन लोगों की देखभाल कर सकूँगी।'

'अपनी बहन की। यहाँ आना तो बाद की बात है, तुम्हारी बहन तुमसे बात भी करेगी क्या? अपमानित

कर तुम्हें भगा तो नहीं देगी ? पूजा के उपलक्ष्य में वस्त्र देने जाते समय जैसा कि उसने किया था ? फिर तुम रोते-रोते घर लौटकर बीमार होकर तो नहीं पड़ जाओगी। याद रखो, यह तुम्हारी वही बहन है, जिसे तुम देखे बिना रह नहीं पाती थी। अन्ततः पड़ोसियों के पास जाकर उसकी खोज-खबर लेती थी और वह इसी बात को लेकर व्यंग्य करती थी।'

कवि धीरे-धीरे पारिवारिक होता जा रहा है। और भी असहाय होती गयी कवि पत्नी। दिशाहीन की तरह पुनः कहने लगी तो फिर मैं पूरे दिन क्या करूँगी, वह बच्चा, वह बच्चा अगर हमारे पास रहता।'

कवि ने धैर्यहीन होकर कहा, 'फिर वही बात। कहा ना, मैं जो वेतन पाता हूँ उसमें बच्चे को रखने का कोई उपाय नहीं था, और एक व्यक्ति को लाने का....'

'उपाय नहीं था इसका क्या अर्थ है ? मैंने रेड लाइट एरिया में काम करते समय क्या देखा नहीं है घूम-घूमकर ? वे सब महिलाएँ भी अपने बच्चों को बड़ा करती हैं या नहीं ? सिर्फ़ अपने बच्चे ही नहीं, कूड़ाघर में फेंके गए दो-तीन दिन के बच्चों को भी अपने कमरे में लाकर बड़ा करती हैं वे लोग। जो महिलाएँ लोगों के घर में काम करती हैं, वे भी कष्ट सहकर, अपने बच्चों को बड़ा करती हैं, और मैं, मैं नहीं कर पाऊँगी ?'

कवि की पत्नी रोते-रोते गिर पड़ी। और कवि का सामाजिक सिद्धान्त इस बार हिल गया। उसकी समझाने वाली सत्ता अपने को व्यक्त करना चाहती है। 'नहीं, सुनो, वे लोग दूसरी परिस्थिति, दूसरी तरह की सामाजिक स्थिति में रहती हैं। येन-केन प्रकारेण वे बाल बच्चे ला सकती हैं इस दुनिया में। हम लोग वैसा नहीं कर सकते हैं। हम लोगों को बहुत कुछ सोचना पड़ता है, कई ज़िम्मेदारियाँ लेनी पड़ती हैं, जैसे-तैसे तो...'

'रुको। स्त्री सिर उठाती है। उसके घुटने पर लग जाती है, उसके सिंदूर की बिन्दी और घिसट जाती है माथे के दाँयी ओर। उसकी आँखों में आँसू हैं।

'तुम जानते हो कि हमारे परिवार में और एक व्यक्ति के आने से तुम्हारे ऊपर दबाव पड़ेगा। तुम्हें आमदनी बढ़ाने का प्रयास करना पड़ेगा और उसका एक ही रास्ता है। तुम्हें और भी गद्य लिखना होगा। अगर ऐसा होता है तो तुम्हारी कविता की क्षति होगी, ऐसा तुम मानते हो। इसीलिए तुम गद्य लिखना नहीं चाहते। क्योंकि तुम कवि बने रहना चाहते हो। हाँ ? स्वार्थपरायण कवि? केवल इसीलिए तुम कहते रहे नष्ट करो, नष्ट करो। दिन-पर-दिन यही कहते रहे, मैं राजी नहीं हुई, मैंने देरी की, फिर भी आखिर में मैं राजी हो गयी थी, मैं राजी हो गयी।

नारी फिर से दुःख के कारण टूट गयी।

कवि ने धीरे से झुककर उसके कन्धे पर हाथ रखा।

'हटो। खबरदार मुझे छूना मत। तुम कवि होगे कवि ? जिस कलम से तुम कविता लिखते हो, उसी कलम से तुमने खुशामद भरी चिट्टी लिखी थी डॉ. सेनगुप्त को। उसी कलम से नर्सिंग होम का फ़ार्म भरा था। उसी कलम से, अगर मेरी कोई क्षति होती है तो उसके लिए कोई दूसरा उत्तरदायी नहीं होगा, इस शर्त पर हस्ताक्षर किये उसी कलम से।'

सहसा कवि की पत्नी को कोई चीज़ खोजने पर मिल गयी। 'यही, यही तो है, यही तो इस समय तुम्हारे हाथ में है। यह कलम है अथवा छुरी ?'

कवि ने सिहरते हुए देखा, उसके दोनों हाथ रबर के दस्तानो से ढँके हुए हैं। उसके लिखने का पेड ट्रे हो गया। उसमें अक्षर नहीं औज़ार हैं। उसके हाथ में कलम नहीं, गर्भपात कराने के डॉक्टरी हथियार हैं। वह घातक है। वह भी एक हत्यारा है। अपनी सन्तान को मारने वाला। जिन्हें वह घातक समझता है, उनसे भी बड़ा घातक।

रमणी के केश खुल गये हैं। उसके दोनों कपोल आँसुओं से भीगे जा रहे हैं। खिड़की से पीठ लगाये खड़ी बिखरे बालों वाली उसने तब कहा, 'मैं सारे दिन घर में रहती हूँ, इन दो कमरों के बन्द घर में बन्दी की तरह रहती हूँ और वह छोटा, गोपाल, पूरे दिन बकैयाँ भरता हुआ खेलता फिरता है। मैं जानती हूँ मेरे पेट में गोपाल ही आया था। उसे लूची पसन्द है, उसे दूध की बर्फ़ी पसन्द है और बैगन की सब्ज़ी। वह आकर अच्छी तरह खा जाता है। हर बार अलग उम्र लेकर आता है। किसी दिन उस खाट पर छह महीने के बच्चे की तरह हाथ-पैर फैंकता हुआ खेलता रहता है। किसी दिन दो वर्ष के बच्चे के की तरह लड़खड़ाता हुआ बरामदे में दौड़ता है और छप्प से गिर पड़ता है। सफ़ेद जांगिया, पीठ पर पाउडर, पैरों के तलुए एकदम गुलाबी, मेरा पैदा न हुआ बच्चा पूरे दिन अकेला घर में दौड़ता फिरता रहता है, मैं उसे पकड़ नहीं पाती और स्कूल की पोशाक में आज आया था, पाँच बरस के बड़े लड़के के रूप में, स्कूल जाने के लिए तैयार यहीं तो है, वह रहा...'

कवि ने दरवाज़े की ओर देखा, दरवाज़े पर नीला, कृष्ण वर्ण का बालक था, स्कूल की पोषाक में। सिर पर मोरपंख। कवि ने कहा, 'यह क्या! यह तो राखाल राजा है।'

उसकी स्त्री ने कहा, 'यही तो गोपाल है।'

नीलवर्ण का बालक अन्तर्ध्यान हो गया।

स्त्री हाहाकार कर उठी, 'बताओ, अब मैं अपने को लेकर क्या करूँ! बताओ, क्या करूँ।'

कवि दोनों हाथ जोड़कर मन-ही-मन कहता जा रहा है, हे राजा! हे रुद्र! मेरा पुरुषार्थ जाग्रत करो। पाँच वर्ष से अधिक समय से मैं स्त्री-स्पर्श से रहित हूँ। मेरे जंग लगे शरीर में एक बार पुरुषार्थ के रूप में अवतरित

होओ। एक बार के लिए मुझे जगा दो, सन्तानार्थ जगा दो मुझे।'

यही स्तुति मन-ही-मन उच्चारण करते-करते कवि आगे बढ़ गया अपनी नारी की ओर। अन्तिम आश्रय की तरह कवि ने उसके कन्धे पकड़ लिये। उसे अपनी ओर खींचा, 'आओ, हम लोग उसे फिर ले आएँ। हम दोनों, एक साथ यदि इच्छा करें, वह ज़रूर आएगा। आओ, मेरी सहायता करो। तुम मेरी सहधर्मिणी हो, आओ सहवास धर्म के द्वारा हम पुनः सन्तानोत्पत्ति की ओर चलें।'

स्त्री बिजली की तरह छिटक कर अलग हो गयी, 'तुम छुओगे नहीं मुझे। पाँच वर्ष से मैंने तुम्हें अपने को छूने नहीं दिया है, इस समय भी छूने नहीं दूँगी, कभी छूने नहीं दूँगी।

यह सुनकर कवि आहत हो जाता है, पर विस्मित नहीं है, 'ऐसा क्यों कर रही हो ? आओ। मुझे लो। अबकी बार हम लोग उसे वापस नहीं जाने देंगे। इस बार उसे अपने घर ले आएँगे। उसे पाल-पोसकर बड़ा करेंगे।'

'अब नहीं होगा। नहीं होगा। पाँच वर्ष पहले ही तुम्हें यह जान लेना चाहिए था कि अब नहीं होगा।'

'क्या जान लेना चाहिए था।'

'उस समय तुम यह नहीं जानते थे कि मेरे शरीर की हालत क्या थी। बताओ, नहीं जानते थे ?'

जानता था, कवि अन्ततः यह जानता था कि उसकी स्त्री के गर्भाशय में कुछ खराबी थी। भ्रूण नष्ट करने के पहले डॉक्टर सेनगुप्त ने यह जानकारी दी थी।

'पाँच वर्ष पहले ही डॉक्टर सेनगुप्त ने बता दिया था, उसे (भ्रूण को) नष्ट करने के आघात से फिर कोई सन्तान नहीं होगी। काफ़ी देर हो गयी थी। गर्भ में सन्तान खूब बड़ी हो गयी थी। शायद उसका शरीर बनना शुरू हो गया था। हाथ-पैर बनने शुरू हो गये थे। पर पूरे नहीं बन पाये थे। इसीलिए अब कोई सन्तान नहीं होगी। किसी भी तरह नहीं होगी।'

कवि हाहाकार कर उठा, 'होगा। होगा। एक बार हम लोग प्रयास करके तो देखें?'

'नहीं ?' स्त्री घूमकर खड़ी हो गयी। आँखों में आँसू चमक रहे थे। उसका आँचल धरती में लोट रहा था। होंठ खुल रहे थे। चेहरे की रेखाएँ बिगड़नी शुरू हो गयी थीं। रुकी हुए रुलाई की वजह से।

'नहीं। यह तुम्हारी कविता नहीं है कि जितनी बार खुशी हो उतनी ही बार उसमें संशोधन कर डालो, सुधार कर डालो। यह जीवन है। जीवन को एक दो बार काटने से, उससे जो रक्त बहना शुरू होता है, कई बार वह पूरे जीवन बन्द नहीं होता। मेरा रक्त बहना बन्द नहीं हुआ, यह देखो! पूरे जीवन मेरा रक्त बहना बन्द नहीं

हुआ। यह देखो, मैं तुम्हारी कविता नहीं हूँ, कहते-कहते पास के कमरे में तेज़ कदमों से जाकर उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया। पास की खाट पर उसके धम्म से गिर पड़ने की आवाज़ हुई। फफक कर रोने की आवाज़ भी आने लगी। काटछाँट की गयी खून से लथपथ एक कविता का फफकना।

कवि आधे अँधेरे कमरे में पश्चिम की तरफ की खिड़की के पास जड़ की तरह खड़ा रह गया। कवि के संशोधन का सिद्धान्त और उसकी गरिमा काँच के बरतन की तरह झनझनाती हुई टूटकर कमरे में बिखर गयी। कदम रखते ही पैरों में गड़ जाएगा वह काँच, इसी डर से कवि वहाँ से हिल नहीं पा रहा है। बहुत देर तक वह स्तब्ध बना रहा। काँच के वे सब टुकड़े अँधेरे में भी एक प्रिज्म की तरह खण्ड-खण्ड चित्र दिखा रहे हैं। उनकी तरफ देखा नहीं जा रहा है। अभी हुए कलह की छबियाँ। बाहर, इस तीनतला से दिखायी दे रहा है, डामर रोड, उसके पास बड़ा नाला और ट्यूबवेल और उस तरफ कूड़ेदानी। बन्द हो गयी चाय की झोपड़ी वाली दुकान। उसी दुकान की तरफ से बस्ती शुरू हो जाती है।

पर इस समय बस्ती में रोज़ जैसा हो-हल्ला नहीं है। जैसे किसी कारण से सबकुछ स्तब्ध है। सड़क पर भी लोगों की चहल-पहल नहीं हो रही है। सिर्फ़, दूर रेल लाइन पर मालगाड़ी के दो डिब्बे धड़-धड़ आवाज़ करते हुए रुक गये। और उतनी दूर से आयी आवाज़ के बाद चारों ओर और भी निस्तब्धता हो आयी। समझ में आया कि रात बढ़ रही है।

कवि ने देखा, चाँद के उजाले में, नाले से उठकर आया एक विचित्र आकार का प्राणी। नज़र डालते ही यह समझ में आया कि यह एक अधूरा मानव शिशु है। एक विशाल भ्रूण है। उसका सिर अस्वाभाविक रूप से बड़ा है। उस पर बाल नहीं है, वह केशहीन है। चपटी चीज़ की तरह। पैरों की तरफ मेंढ़क की पूँछ के आकार की कोई चीज़ है। अँधेरे में धीरे-धीरे हवा में उद्‌भासित हो उठती है, ढलते हुए आलोक में वह उड़ती रहती है। उसकी आँखें अभी प्रस्फुटित नहीं हुई हैं। उसके दोनों हाथ अभी अधूरे हैं। उन अधूरे हाथों में से एक में वह जैसे कोई एक चीज़ पकड़े हुए है। क्या है वह, लम्बी-सी कोई चीज़ ?

चाँद का मलिन उजाला थोड़ा उज्ज्वल हो उठता है। कवि उस चीज़ को पहचान लेता है। अधूरे हाथ में चपेटी हुई वह और कुछ नहीं बाँसुरी है, बाँसुरी।

भारतीय उपन्यास की अवधारणा*

वागीश शुक्ल

१

जिले अँगरेज़ी में novel कहते हैं उसके लिए (बांग्ला और फिर वहाँ से) हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द कैसे प्रचलित हो गया इसकी तह में जाने की कोई कोशिश किये बिना मैं 'उपन्यास' शब्द के एक प्राचीन शास्त्रीय प्रयोग की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ और प्रस्तुत विषय से इस 'बादरायण सम्बन्ध' को उपस्थापित करने के लिए प्रारम्भ में ही क्षमा माँग लेता हूँ।

बादरायण (= व्यास) की कृति ब्रह्मसूत्र वेदान्त-विद्या का मूल ग्रन्थ है। इसके शांकर भाष्य पर भामती टीका लिखने वाले वाचस्पति मिश्र ने 'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' (४-४-५) पर लिखते हुए कहा हैः 'उपन्यास उद्देशो ज्ञातस्य (= ज्ञात का कथन ही 'उपन्यास' है।)' इसी के आगे उन्होंने जोड़ा हैः 'अज्ञातज्ञापनम् विधिः (= अज्ञात का ज्ञान कराना 'विधि' है।)'। 'विधि' में 'ऐसा करना चाहिए' का निर्देश और 'ऐसा करने का ऐसा फल होगा' की फलश्रुति, ये दोनों प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निबद्ध होते हैं। 'उपन्यास' और 'विधि' के साथ एक शब्द और जुड़ा हुआ है, 'व्यपदेश': जब किसी बात के प्रतिपादन हेतु कुछ कहने की आवश्यकता न समझी जाय और उसे एक सिद्ध सत्य की तरह कहा जाय तब ऐसे कथन को 'व्यपदेश' कहते हैं।[१]

'उपन्यास' शब्द के इस विनियोग को देखते हुए मुझे लगता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य की अवधारणा ही 'उपन्यास' पर टिकी थी। आखिर जब नाट्य को लोक का 'अनुकीर्तन' कहा गया, कीर्तन नहीं, तो इसका क्या तात्पर्य हो सकता है ? जो पहले से कीर्तित है उसी त्रैलोक्य का अनुकीर्तन नाट्य है। इसी अर्थ में, ज्ञात का उद्देश्य होने के नाते, 'उपन्यास' होने के नाते, कोई रचना साहित्य में परिगणित होती है। लेकिन इधर कुछ अरसे से रचनाओं की लालसा 'विधि' बनने की हो चली है, लेखक सोचते हैं कि समाज एक जुलूस है और वे मशाल थामे आगे चल रहे हैं ताकि उसे राह दिखा सकें।

---

* स्वर्गीय श्री अमृतलाल नागर को स्मरण करने के लिए नवम्बर २०१७ में रज़ा फाउण्डेशन द्वारा भोपाल में आयोजित एक कार्यक्रम में प्रस्तुत करने के लिए लिखा गया।

इसे समझ कर आगे बढ़ना चाहिए। जिसे 'धर्म' कहते हैं वह विधि और निषेध की एक संहिता का नाम है। इस संहिता के आधार पर ही संसार चलता है। ऐसी किसी संहिता के अभाव में कर्मचर्या यादृच्छिक होगी और संसार की कोई गतिविधि सम्भव नहीं रहेगी। उदाहरण के लिए सूर्य का धर्म है एक निश्चित समय पर उगना और एक निश्चित समय पर अस्त होना। ऐसे अनेक नियमों पर जीवन निर्भर है। इन ईश्वरीय नियमों के अनुकरण पर ही मनुष्यों ने अपने सामाजिक रहन-सहन की संहिताएँ बनायी हैं। साहित्य इन सभी संहिताओं के अनुशासन के बाहर है। उसमें सत्यवान् की पत्नी यमराज से अपने पति को छुड़ा ला सकती है और रघु की पत्नी एक फूलमाला की चोट से मर सकती है। किसी स्त्री की साड़ी इतनी बढ़ सकती है कि दस हज़ार हाथियों का बल रखने वाला उसे खींच न सके और किसी स्त्री का नीवीबन्ध उसके प्रबल कामावेग के नाते अपने आप खुल सकता है। किन्तु यह साहित्य का अपना संसार है, व्यावहारिक जीवन के लिए विधि-निर्माण साहित्य का काम नहीं है। दूसरे शब्दों में, वह धर्म का प्रतिकल्प (= anti-struct) रच सकता है, विकल्प (= aliter-struct) नहीं रच सकता।

'प्रतिकल्प' कहने से मेरा आशय यह है कि ज्ञप्ति की पहुँच के भीतर बाह्य करणों (= इन्द्रियों) और अन्तःकरण से जानने योग्य जो कुछ है उसमें से चुनते हुए एक संकल्प उभरता है जिससे एक ब्रह्माण्ड अपनी ब्राह्माण्डिकी (= cosmology) के साथ मूर्तिमान् होता है। किन्तु जैसा कि योगवासिष्ठ ने स्पष्ट कहा है, यदि एक ब्राह्माण्डिकी का धर्म यह बताता है कि राम ने रावण को मारा तो दूसरी ब्राह्माण्डिकी का धर्म यह बता सकता है कि रावण ने राम को मारा।[२] ये ब्राह्माण्डिकियाँ एक-दूसरे का विकल्प नहीं हैं, एक ही रामावतार के भीतर इन दो में से किसी एक घटना का चुनाव नहीं कर सकते- पूरा रामावतार ही शुरू से शुरू होगा।

मैं एक उदाहरण देता हूँ। एक कविप्रसिद्धि है कि हंस मोती खाते हैं। जब हम कहते हैं, 'की हंसा मोती चुगैं, की लंघन मरि जाँय' तो हम इस कविप्रसिद्धि को शब्दशः यथार्थ न मानते हुए भी इसका एक विधि-वाक्य की तरह इस्तेमाल करते हैं, यह एक राजनीतिक घोषणा हो सकती है कि हमें सम्मान के साथ ही, अपनी कुछ शर्तों को मनवा लेने के बाद ही जीवित रहना चाहिए और इन शर्तों को मनवाने के लिए आवश्यक संघर्ष करना चाहिए। किन्तु योगवासिष्ठ इस कविप्रसिद्धि को यों इस्तेमाल करता है कि एक ही चीज़ कभी हंस कभी मोती के रूप में दीखती है।[३] केवल यह प्रतीत होता है कि हंस मोती निगल (या उगल) रहा है। इस प्रकार यह उक्ति 'चुगने' का सारा अर्थनिर्धारण प्रारम्भ से करते हुए एक नयी दुनिया हमारे सामने ले आती है जिसमें स्वयं को चुगना सम्भव है। यह 'उपन्यास' है क्योंकि यह प्रति-कल्प है जिसका 'ज्ञान' कवि को अपनी प्रतिभा, काव्य-नैपुण्य, लोक और शास्त्र का निरीक्षण, जैसी तमाम चीज़ों के भरोसे होता है। इसी को कवि द्वारा एक अलग ही काव्य-जगत् का निर्माण कहते हैं। कोई भी दुनिया बसेगी तो उसमें विधि होगी ही, किन्तु अन्तर यह है कि कवि

एक दुनिया बसाता है जबकि समाजशास्त्री बसी हुई दुनिया का धर्म बदलता है। 'उपन्यास' और 'विधि' के बीच के इस फ़र्क को नज़रन्दाज़ करने के नाते हमारा भरोसा 'क्रान्तियों' और 'परिवर्तनों' पर जा टिकता है और एक अविश्वसनीय भोलेपन के साथ हम साहित्य पर इन क्रान्तियों की बौद्धिक ज़िम्मेदारी डाल देते हैं। 'विधि' होने के इस दावे ने हमारे अपने साहित्य में इस समय अत्यन्त दर्पोद्धत और सर्वग्रासी रूप धारण कर लिया है किन्तु पश्चिमी साहित्य में इसके इस 'उत्परिवर्तन (= mutation)' का प्रारम्भ बहुत पहले से हो गया था और उपन्यास इस उत्परिवर्तित साहित्य की ही एक देर-आयद प्रजाति के रूप में अवतरित हुआ।

इस उत्परिवर्तन ने सर्वप्रथम तो मनुष्य के अध्यात्म को उसकी सामाजिक-राजनीतिक दैनन्दिनी का अनुवाद करते हुए ईश्वर तथा उसके आदेश तक अपचित किया जिससे उस अध्यात्म का स्वरूप एक आचार-संहिता तक सीमित रह गया, फिर उस संहिता की कमान एक दण्डनायक के हाथ सौंपी। सर्वव्यापी समय उत्परिवर्तित होकर रैखिक इतिहास में बदल गया जिसने अध्यात्म से उत्परिवर्तित इस आचार-संहिता के प्रादुर्भाव को एक प्रस्थान-बिन्दु मानते हुए उसके पूर्व के कालखण्ड को अज्ञान का कालखण्ड घोषित किया। इस प्रकार ज्ञान एक परिभाषा के अधीन हो गया और समय का यह उत्परिवर्तन इतिहास के नये अभिधान के अनुसार एक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ जिसने इस प्रस्थान-बिन्दु से परिगणित प्राचीन को जीर्ण के रूप में नवपरिभाषित करते हुए इस प्रस्थानबिन्दु से आगे की उपस्थितियों में ही सम्पूर्ण अभ्युदय और निःश्रेयस की रोपाई की।

उपन्यास (=novel) का प्रादुर्भाव इतिहास के इस प्रादुर्भाव के प्रस्फुटनों में से एक है।

२

इस सर्वविदित तथ्य को पुनः स्मरण कर लें कि जिस साहित्य-विधा को हम 'उपन्यास' के नाम से आज पुकारते हैं वह पश्चिम से ली गयी है। इस प्रकार 'भारतीय उपन्यास' अपने आप में एक विरोधाभाष है। अपनी सीमाओं के चलते मेरे सामने 'भारतीय उपन्यास' के नाम पर हिन्दी उपन्यास ही है किन्तु सुनी-सुनायी कुल यही है कि जिन बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय से बांग्ला उपन्यास का प्रारम्भ माना जाता है वे वाल्टर स्काट के उपन्यासों को अपना आदर्श मानते थे और अपना पहला उपन्यास RAJAMOHAN'S WIFE उन्होंने अँगरेज़ी में ही लिखा था जिसका यथेष्ट स्वागत न होने पर ही वे बांग्ला में उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। उधर मलयालम साहित्य का पहला उपन्यास इन्दुलेखा लिखने वाले चाण्डू मेनन की आत्मस्वीकृति है कि यह उपन्यास बेंजामिन डिज़रायली[४] के उपन्यास HENRIETTA TEMPLE : A LOVE STORY के अनुवाद के रूप में परिकल्पित था किन्तु विदेशी संस्कृति को मलयालम में उतार पाना सम्भव न होने के नाते उन्होंने मौलिक उपन्यास ही उसी तर्ज़ में बना डाला।

प्रेमचन्द जी ने भी अपने उपन्यासों का आदर्श अँगरेज़ी के उपन्यासों को ही माना था और अपने प्लाट अँगरेज़ी में ही बनाते थे। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अँगरेज़ी शासन और शिक्षा की बदौलत जिस प्रकार की आधुनिकता के प्रभाव में हम आये, उसी के तहत 'उपन्यास' भी हमने अपनाया। इस आधार पर यह कहना उचित ही जान पड़ता है कि 'भारतीय उपन्यास' अपने-आप में एक विरोधाभास है। किस हद तक हम इसे एक 'विरोधाभास' मात्र मान सकते हैं, यह उन प्रश्नों में से एक है जिनपर हमें विचार करना चाहिए।

यहाँ से प्रारम्भ कर सकते हैं कि निर्मल जी ने अपने एक महत्वपूर्ण निबन्ध संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास* में कहा है:

> ताज्जुब की बात यह है कि हमने अपने कथ्यात्मक (कथात्मक ?) गद्य के लिए 'उपन्यास'-जैसी विधा को चुना जो नितान्त भिन्न सांस्कृतिक अनुभव-क्षेत्र में पनपी और विकसित हुई थी; यह कुछ ऐसा था कि हम एक ऐसे बने-बनाये मकान में रहने लगें जो दूसरों ने अपनी ज़रूरतों, संस्कारों, स्मृतियों- एक शब्द में कहें तो अपनी 'जलवायु' के अनुसार बनाया था। हम न केवल उसमें रहने लगे, बल्कि कभी उसमें अपने अनुकूल परिवर्तन करने की ज़रूरत भी महसूस न की। प्रेमचन्द से लेकर अधुनातन उपन्यासकार ने कभी 'उपन्यास' की विधा पर शंका प्रकट नहीं की, अपने अनुभव के सन्दर्भ में उसका पुनर्पनरीक्षण तो दूर की बात थी। बरसों से हमने जिस विधा को 'सामाजिक यथार्थ' के विश्लेषण का सबसे महत्वपूर्ण औज़ार माना, कभी उस औज़ार की सक्षमता की जाँच-पड़ताल करने की ज़रूरत का सामना नहीं किया। (शब्द और स्मृति)

निर्मल जी ने उस 'संस्कृति' की एक विशेषता बतायी है जिसमें यूरोपीय उपन्यास का विकास हुआ। उन्होंने इस निबन्ध में कहा है कि 'यदि उपन्यास की विधा अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक नयी है तो इसलिए कि पहले कभी 'समय' ने इतने प्रत्यक्ष और प्रमुख ढंग से मनुष्य के जीवन में दखल नहीं दिया था।', इस 'समय' को उन्होंने horizontal बताया है और फिर कहा है :

> जिस विधा में मनुष्य और उसकी नियति के बीच सम्बन्ध जोड़ा गया वह 'कहानी' बहुत पुरानी नहीं है।... शायद ही कोई विधा इतने भयानक और नंगे ढंग से समय-सापेक्ष, वर्ग-सापेक्ष रही हो जितनी उपन्यास की विधा थी। वह एक

---

* शब्द और स्मृति में संकलित।

> आईना थी जिसमें पहली बार बूर्ज्वा संस्कृति ने अपने दर्पपूर्ण गौरव और घिनौनी विकृति, दोनों को एक साथ देखा था।... बूर्ज्वा व्यक्ति की अपने प्रति यह (इस?) उम्मीद और निराशा, विश्वास और सन्देह के अजीब मिश्रण से ही उस आत्मघाती द्विविधा का जन्म हुआ था जो फ़्लावेअर से काफ़्का तक के उपन्यासों में चली आती है। (शब्द और स्मृति)

निर्मल जी ने इस अंश में लगभग स्पष्ट कह दिया है कि उपन्यास की विधा का सम्बन्ध समय के उस रैखिक रूपंकरण से है जिसने एक ऐसे समाज को अवतरित किया जो 'वर्ग' के विचार का आकृति-ग्रहण था और इन वर्गों में से एक - बूर्ज्वा वर्ग- की अभिव्यक्ति के रूप में उपन्यास प्रस्तुत हुआ है। इस बात को समझने के लिए हमें यूरोपीय समाज में 'बूर्ज्वा (= bourgeois)' के उदय की ओर भी ध्यान देना पड़ेगा। हिन्दी में हम इसकी जगह 'मध्य वर्ग' का इस्तेमाल करते हैं किन्तु इस अनुवाद के लिए हमारी सामाजिकी में समर्थन नहीं है- अच्छा होगा यदि हम इस मूल फ़्राँसीसी शब्द का ही व्यवहार करें ताकि सन्दर्भ से हम विचलित न हों।

यह शब्द उस वर्ग के पुरुष सदस्य को बताता है जिसे 'बूर्ज्वाज़ी (= bourgeoisie)' कहते हैं (स्त्री सदस्य bourgeoise कहलाती है)। इस वर्ग को यूरोपीय सन्दर्भ में 'नोबिलिटी' के सापेक्ष देखना चाहिए। इस 'नोबिलिटी' के सदस्यों को हिन्दी में हम 'सामन्त' शब्द से बताते हैं किन्तु इसकी अपेक्षा इस वर्ग को 'नोबिलिटी' ही कहना ठीक है। इस 'नोबिलिटी' को जल, जंगल, ज़मीन और इन पर बसे हुए जन के जीवन पर असीमित अधिकार प्राप्त थे- राजा इसी वर्ग का सर्वोच्च सदस्य होता था। यह व्यवस्था वंशानुगत थी और उच्चावच इससे निर्धारित होता था कि कौन अपनी वंशावली को कितने पीछे से ला सकता है। सेना के उच्चाधिकारी 'नोबिलिटी' से ही हुआ करते थे और अन्य उच्च राजकीय पदों पर भी इस नोबिलिटी के परिवारों का अधिकार होता था;

नोबिलिटी का सारा वंशानुगत वैभव परिवार के बड़े लड़के को मिलता था और छोटे भाइयों के लिए यद्यपि कुछ गुज़ारे की जायदाद की व्यवस्था रहती थी, उनमें से अनेक चर्च में उच्च पदों पर हो जाते थे जिसके पास जायदादों का अलग ज़खीरा था। यह वर्ग 'क्लर्जी (= clergy)' कहलाता था और यद्यपि इसे हिन्दी में 'पुरोहित-वर्ग' कह दिया जाता है, इस भ्रामक नाम की अपेक्षा हम 'क्लर्जी' शब्द का ही इस्तेमाल करेंगे। इस प्रकार धर्मसत्ता और राजसत्ता के उच्च पदों पर इन्हीं परिवारों के लोग होते थे किन्तु चूँकि चर्च की सर्वोच्च सत्ता पोप के पास थी और राज्य की सर्वोच्च सत्ता राजा के पास, इसलिए इनके बीच के खटमिट्ठे सम्बन्धों का असर क्लर्जी और नोबिलिटी के आपसी सम्बन्धों पर भी पड़ सकता था।

नोबिलिटी का प्रादुर्भाव तो युरोप के उन दिनों में हुआ था जब केवल शक्ति के आधार पर छोटे-छोटे सैन्य-बलों का नेतृत्व करने वाले अधिपतियों ने अपने-अपने दबदबे के इलाक़ों में अपना प्रभुत्व कायम किया था किन्तु समय के साथ केन्द्रीय राज्य-सत्ताएँ उभरने और हावी होने लगीं तथा राजाओं ने अपने अधीनस्थ नोबुलों के अधिकार कम करने प्रारम्भ कर दिये। लड़ाइयों का चरित्र भी बदल गया और युद्ध अब राजाओं के बीच होने लगे जिनमें नोबुलों की भूमिका आज्ञाकारी सेनापतियों की रह गयी। स्थानीय प्रशासन में केन्द्र का दखल बढ़ता गया और सत्रहवीं सदी आते-आते नोबिलिटी के पास राजाज्ञापालन के अतिरिक्त कोई ज़िम्मेदारी न बची। नोबिलिटी के लोग अपनी ज़मींदारियाँ छोड़कर राजधानियों में ही बसने लगे। इनके हाथ से प्रशासन छिन चुका था किन्तु सुविधाभोग के बहुत से अधिकार इनके पास बचे हुए थे। उदाहरण के लिए शिकार का एकाधिकार इनके पास था और फलतः किसान अपनी फसल बरबाद करने वाले जानवरों को मार नहीं सकता था। ऐसे अनेक कारणों से किसान खेती छोड़ रहे थे और पारम्परिक कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था का चरित्र बदल रहा था।

नोबिलिटी (और क्लर्जी भी) बेहिसाब आमदनी, बेहिसाब खर्च और बेहिसाब क़र्ज़ से परिभाषित थी। हिसाब रखना एक घटिया काम माना जाता था- कहानी है कि लुई पन्द्रहवें ने जब अपने एक नोबुल से कहा कि 'मैंने सुना है आप पर बहुत क़र्ज़ हो गया है' तो उनका उत्तर था, 'महाराज, मुझे अपने गुमाश्ते से पूछना पड़ेगा।' कुल मिलाकर यह वर्ग अपने ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिए दूसरों पर निर्भर था। कृषिकर्मियों से कर उगाहने के लिए इनके गुमाश्ते (= farmers) होते थे जो इन्हें आधा-अधूरा भुगतान करते थे और इस प्रकार सारी नोचखसोट तथा अनगिनत अमानुषिक अत्याचारों के बाद भी नोबिलिटी का वर्ग आर्थिक रूप से बहुत सशक्त न था। अर्थव्यवस्था का संचालन व्यापारियों, वकीलों, कारख़ानेदारों, साहूकारों आदि के हाथ में था जो प्रायः इस नोबिलिटी को उधार भी दिया करते थे। यही वर्ग 'बूर्ज्वाजी' था जिसके पास शक्ति तो थी किन्तु सम्मान न था।

'बूर्ज्वाजी' का शाब्दिक तात्पर्य है 'नगर-वासी'। राजसत्ता का उदय मुख्यतः एक केन्द्रीकरण की प्रक्रिया थी। राजकीय सत्ता का सर्वाधिक प्रकट प्रतीक राजा का शरीर और उसके प्रत्यक्ष आचरण थे। उसका सोना-जागना, नहाना-खाना, उठना-बैठना, सबकुछ सार्वजनिक था, प्रेम से लेकर आखेट तक बिना गवाहों के नहीं सम्भव थे जैसे मन्दिरों की अष्टयाम दिनचर्या का निर्वाह पुजारियों के बिना सम्भव नहीं है। हाथ धुलाना, कुल्ला कराना, जूता पहनाना सबके कार्यवाहक नियत थे, कुर्ते की दाहिनी बाँह कौन पकड़ेगा और बायीं कौन, यह नोबुलों के कुलीनता-क्रम पर आधारित था। राजा एक अभिनेता था जो सर्वदा मंच पर उपस्थित था जिसे अपना पसीना पोंछने के लिए भी सार्वजनिक निरीक्षण में उत्तीर्ण होना था। यह उसकी भूमिका थी जिसके निर्वाह हेतु सहायक अभिनेताओं के रूप में उसकी नोबिलिटी और मंच के रूप में उसका दरबार था। राजधानी इस नाटक का विशाल सभागार थी और ऐसा होने के कारण ही वह एक परीलोक भी थी जिसका रहन-सहन अनुकरणीय था।

बोली-बानी में उतार-चढ़ाव के आदर्श पेरिस के थे, कपड़ों में सिलाई-कटाई का आड़ा-तिरछा होना पेरिस के अनुकरण पर ही तय होता था और यदि वह नवीनतम ढर्रे का नहीं होता था तो स्वयं सम्राट लुई चौदहवें के द्वारा इशारे से यह बता दिया जाता था। लड़कियों, लड़कों, बुजूर्गों, सभी के लिए चारित्रिक अभिलक्षणों के साथ-साथ ये पारिधानिक अभिलक्षण भी शर्म और गर्व के नये आधार बन गये थे।

नाटक को जीवन में उतारती हुई इस नवीन संस्कृति में ही बूर्ज्वा वर्ग का उदय होता है। राजसत्ता के केन्द्रीकरण ने राजधानी को जन्म दिया, राजधानी ने नगरीकरण का महत्व बढ़ाया, नगरीकरण ने 'बूर्ज्वा = नगरवासी' का महत्व बढ़ाया। एक पुरानी गढ़ी के आसपास बसी हुई बस्ती गढ़ी के मालिक से सीधे सम्पर्क में होती थी, अब इससे आगे बढ़कर नगरपालिका और उसके अफ़सरों का अस्तित्व सामने आया, पानी की निकासी, सड़कों की सफ़ाई, कचहरी, जेल, दवाख़ाना, सबके लिए संस्थाएँ बनीं, आकार में फैलती गयीं और अपने संचालन के लिए नोबिलिटी तथा राजा के सीधे नियन्त्रण से बाहर होती गयीं। साहित्य, कला, शिक्षा, चिन्तन सभी का विस्तार हुआ। इन सभी कार्यों को करने वालों का विशेषीकरण हुआ और बढ़ई से लेकर वकील तक, दर्ज़ी से लेकर कवि तक, स्थानीय व्यक्तियों के रूप में अपनी पहचान बदलकर राष्ट्रीय स्तर पर एक वर्ग के सदस्य के रूप में जाने जाने लगे जिनका प्रतिधित्व उनके नवपरिभाषित वर्गीय हितों की रक्षा के लिए राजधानी के स्तर पर होना आवश्यक हुआ।

ये ही लोग 'बुर्ज्वा' थे। बहुत सी और चीज़ों के अलावा पढ़ाई-लिखाई भी इनके जिम्मे थी। नोबिलिटी प्रायः निरक्षर होती थी और शिक्षा की आवश्यकता पारम्परिक रूप से केवल क्लर्जी के लिए मानी जाती थी जिसे बाइबिल पढ़ने और उसपर प्रवचन करने का एकाधिकार था। किन्तु मुक़दमों के काग़ज़ सम्भालना, जेलख़ानों और अस्पतालों के निवासियों की गिनती रखना, राजकीय कोष का घाटा-नफ़ा समझना, नाटक और कविता लिखना, लम्बी समुद्रयात्रा करना, देश-विदेश की जानकारी इकट्ठा करना, व्यापार करना, यह सब बिना शिक्षा के सम्भव नहीं था और इस कारण से एक शक्ति उन लोगों के पास भी एकत्र हो रही थी जो न नोबिलिटी से आते थे न क्लर्जी से। समय के साथ सत्ता का नियन्त्रण तलवार और धर्मोपदेश की पकड़ से फिसल कर अर्थ-प्रबन्ध और स्वायत्त तर्कणा के हाथों में जा रहा था- दूसरे शब्दों में बूर्ज्वा वर्ग अपनी उपस्थिति को दस्तक से दखल तक ले जाने को उत्सुक था।

'परिवर्तनकामिता' के इस उदय ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुराने आजमाये हुए नुस्खे ही चुने। 'परिवर्तनकारिता' की शर्त है वर्तमान तथा निकट अतीत का अस्वीकार और एक सुदूरस्थ स्वर्णिम अतीत का पुनर्निर्माण जिसकी पुनःप्राप्ति ही इस 'परिवर्तन' का लक्ष्य होती है। उदाहरण के लिए सभी सामी धर्म यह बताते हें कि समकालीन मनुष्य अपने वास्तविक पथ से 'विचलित' हो गया है और नवीनतम ईश्वरदूत द्वारा प्राप्त

ईश्वरसन्देश में ही उस शाश्वत राह की मौजूदगी है जिसपर चलना वर्तमान नेतृत्व की मूर्खता और दुष्टता के चलते बन्द हो चुका है। इस प्रविधि से समय-समय पर बहुत से काम लिये गये हैं जिनमें से एक उदाहरण प्राचीन यूनानी-रोमन सभ्यता का पुनर्निर्माण करके ईसाई युरोप को उसका उत्तराधिकारी बनाना भी है। ठीक इसी तर्ज़ पर 'नोबुल सैवेज' की ओर वापसी की उम्मीद लिये तत्कालीन राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और धर्मतन्त्र से पीछा छुड़ाने का उद्घोष करती हुई फ़्राँसीसी क्रान्ति का रक्ताभिषिक्त आगमन हुआ जो इतिहास में बूर्ज्वा आकांक्षाओं की चरम उपलब्धि के रूप में दर्ज है। किन्तु इन आकांक्षाओं और आदर्शों के कभी लालसा कभी हताशा से बुने हुए परिधान बहुत पहले से उपलब्ध होने लगे थे।

बूर्ज्वा उपस्थिति के इस अतिरेकी उदाहरण - फ़्राँसीसी राज्यक्रान्ति- में ही उस उपस्थिति की लालसाओं और हताशाओं के प्रकट और अतिरेकी उदाहरण उपलब्ध हैं। मैं एक ही देता हूँ। अगस्त १७८९ में फ्रांस की असेम्बली ने मनुष्य और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा (= Declaration of the Rights of Man and the Citizen) शीर्षक एक प्रस्ताव पास किया जो आज भी लगभग सभी लोकतान्त्रिक देशों के संविधानों और अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार घोषणा-पत्रों का आधार-पत्र है। इसमें स्त्रियों को समान अधिकार नहीं दिये गये थे- उदाहरण के लिए मतदान का अधिकार केवल पुरुषों को था। एक स्त्री नाटक-लेखक ओलेंप द गूज़ (=Olympe de Gouges) ने इसकी प्रतिक्रिया में स्त्री और स्त्री-नागरिकों के अधिकारों की घोषणा (= Delaration of the Rights of Woman and the Female Citizen) १७९१ में लिखा जिसमें स्त्रियों को भी सम्पूर्ण समता देने की बात थी। प्रसिद्ध वाक्य 'स्त्रियों को फाँसी के तख़्ते पर चढ़ने का अधिकार है तो उन्हें वक्ता-मंच पर भी चढ़ने का अधिकार होना चाहिए' इसी का हिस्सा था। किन्तु इस दस्तावेज की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया गया, स्त्रियों के सारे चर्चा-स्थल बन्द कर दिये गये और ओलेंप द गूज़ को इस अपराध के लिए गिलोटिन के नीचे प्राणदण्ड दिया गया कि उन्होंने राजा और रानी को प्राणदण्ड देने का विरोध किया था।

उपन्यास उन तमाम परिधानों में से एक है जिनमें मानव-जाति की ऐसी तमाम सारी लालसाएँ और हताशाएँ अभिव्यक्त होती रहीं। ज़ाहिर है कि यह अभिव्यक्ति तारीख़ी तौर पर फ्रांसीसी क्रान्ति के पहले से शुरू थी और बदलते फ़ैशन के साथ अभी तक चालू है। किन्तु यह कहना ऐसा ही है जैसा यह कहना कि बूर्ज्वा वर्ग फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के पहले अस्तित्व में आ चुका था और अभी भी वर्तमान है।

३

निर्मल जी ने अपने लेख का समापन करते हुए भविष्य के भारतीय उपन्यास के लिए कुछ दिशा-निर्देश भी दिये हैं। वे कहते हैं :

> ... हम पुनः उस बिन्दु पर लौट आते हैं जहाँ से हर विधा का सृजनात्मक

पूर्ण परीक्षण शुरू होता है। यह एक जोखिमपूर्ण एडवेंचर है क्योंकि एक ऐसा क्षण आता है जब अनुभव और विधा के बीच अन्तर्विरोध किसी सुविधाजनक समझौते से नहीं सुलझाया जा सकता। उपन्यास के क्षेत्र में यह जोखिम और भी बढ़ जाता है क्योंकि वह इतिहास और कविता के बीच एक ऐसे स्थल की खोज है जहाँ तर्कशील आत्मसजग चेतना विचारों और विश्वासों के द्वारा नहीं, बल्कि स्मृति और सांस्कृतिक अनुभवों में साँस लेती है। कविता की तरह वह भाषा और बिम्बों में उतनी ही डूबी है जितनी डूबने के बाद बाहर समय में अपने अनुभवों को परिभाषित करने को आतुर।

एक आधुनिक भारतीय लेखक के लिए यह जोखिम और भी अधिक विकट है। उपन्यास- जैसी विधा के लिए उसे एक पश्चिमी लेखक की ही तरह आत्मसजग और तर्कशील होना होगा किन्तु इस विधा की सीमाओं पर उसे एक निर्वैयक्तिक, ग़ैर-ऐतिहासिक 'मिथक-सम्पन्न अँधेरी' स्मृतियों को उजागर करना होगा, उन्हें उजागर करने के लिए खुद इस 'अँधेरे' में डूबना होगा। यह समूचा कार्यकलाप, यह एडवेंचर, किसी आलोचनात्मक बौद्धिक योजना द्वारा नहीं, शुद्ध कल्पनात्मक अनुभवों के बीच होगा। फ़ॉर्म का निर्माण नहीं, सृजन होता है। इसी 'कल्पनाशीलता' के आधार पर तोल्स्तोय 'रूसी समाज का दर्पण' बने थे, अपने ऐतिहासिक, बौद्धिक ज्ञान के नाते नहीं।

इतिहास और मिथक, समय और स्मृति- इन दो उजले-अँधेरे छोरों के बीच भारतीय उपन्यास जिस ज़मीन को समेटेगा, उसके लिए जिस 'फ़ॉर्म' को ढूँढ़ना होगा, वहाँ उस ज़मीन पर भारतीय लेखक न शुद्ध रूप से दर्शक रहेगा- एक विदेशी उपन्यासकार की तरह- न पूर्ण रूप से भोक्ता, एक औसत भारतीय की तरह। वह न तो इस अर्थ में एक अलगावग्रस्त (= alienated) बूर्ज्वा बन पाया है जो अपने अलग आत्मसजग वैयक्तिकत्व के बाहर अपने अतीत, स्मृतियों और संस्कारों से अलग रह सके, न इन संस्कारों और स्मृतियों से इतना अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है कि बाहर के अलगाव, अपने दो सौ वर्षों के यूरोपीय अनुभव से अर्जित आत्मचेतना की उपेक्षा कर सके। वह बाहर भी है भीतर भी, वैयक्तिक है तो निर्वैयक्तिक भी, समय से आक्रान्त है तो इतिहास का अतिक्रमण

करने का मिथक-बोध भी उसमें है। इन दोनों पार्टों के बीच अन्तर्द्वन्द्व और इतिहास की इस जातीय विडम्बना का दबाव हम जितनी तीव्रता से महसूस कर पायेंगे, उतना ही हमारा यह एडवेंचर प्रामाणिक और अर्थपूर्ण हो सकेगा।

हिन्दी के सबसे सफल उपन्यासकार प्रेमचन्द जी ने निर्मल जी के इस लेख के आधी सदी पूर्व उपन्यास शीर्षक से एक लेख लिखा था जिसकी कई स्थापनाएँ आज 'प्रेमचन्द की परम्परा' से बाहर हैं। उदाहरण के लिए:

> साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श वह है जबकि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाये। Art for Art's sake के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।... जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि शायद कोई लेखक अब साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि Author पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारत में ही नहीं, योरोप के बहुत बड़े विद्वान भी अपनी रचनाओं द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं।... Art for Art's sake का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो।...

हिन्दी उपन्यास का बहुलांश अभी तक प्रेमचन्द जी के इस उद्धरण के कुछ वाक्यों से ही अपनी सैद्धान्तिकी बनाता रहा है- इसमें जिस 'परिस्थितियों का असर' की बात कही गयी है उसी ने अब सार्वभौमिकता ग्रहण कर ली है। जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है, स्वयं प्रेमचन्द जी भी जिस Art for Art's sake के प्रति अपनी प्रतिबद्धता घोषित करते हैं, उसके कार्यान्वयन के लिए इन्हीं 'परिस्थितियों' में बदलाव की चाहत रखते हैं और इस प्रकार अन्ततः साहित्य को पूरी तरह उसी 'समय' के अधीन रखते हैं जिसे सम्भवतः उसकी प्रत्यक्ष-दृश्यता के नाते ही निर्मल जी ने 'उजाले' का अभिधान दिया है। वैसे यह भी कुछ दिलचस्पी का सामान जुटाता है कि जिन तोल्स्तोय को निर्मल जी ने '(शुद्ध) कल्पनाशीलता' से सम्पन्न होने के नाते बड़ा लेखक माना है उन्हें प्रेमचन्द जी ने इस लेख में 'मत-प्रचारक' की हैसियत बख्शी है।

निर्मल जी पर लौटते हुए, मेरी समझ में बहुत पैनी नज़र और सटीक शब्दयोजना के बावजूद, उन्होंने कुछ सरलीकरणों से काम लिया है। उनका वैचारिक लेखन कई बार ऐसे निष्कर्षों की एक श्रृंखला के रूप में प्रत्यक्ष होता है जिनके पीछे के तर्क और प्रमाण ओट में रहते हैं। फलतः उनके पक्ष का उपस्थापन और प्रस्फुटीकरण

भी प्रायः उसी व्यक्ति की ज़िम्मेदारी होती है जो उनकी बात पर विचार करना चाहता है। अस्तु, यूरोपीय साहित्य के बारे में उन्हें मुझसे बहुत अधिक जानकारी है यह स्वीकार करने के बावजूद मुझे यह मानने में संकोच है कि यूरोपीय लेखक की नज़र से वह 'अँधेरा' ओझल रहा है जिसे निर्मल जी ने 'मिथक' कहा है। दरअसल स्वयं निर्मल जी ने इस तरह के दोटूक विभाजन के भरोसे 'यूरोपीय' और 'भारतीय' की मुहरें बनाने-लगाने से परहेज़ किया है जब वे तोल्स्तोय को उसी '(शुद्ध) कल्पनाशीलता' से सम्पन्न बताते हैं जिसकी आशंसा वे भारतीय लेखक के लिए करते हैं।

मेरी समझ में यूरोपीय लेखक ने भी उत्कृष्ट साहित्य तभी रचा है जब उसने इतिहास की बेड़ियों में जकड़े अपने पैरों को मिथक की अँधेरी तलहटियों में उतारने का जोखिम मोल लिया है। जैसा मैंने ऊपर इशारे में कहा है, इतिहास वस्तुतः धर्म की ग़ैर-पेगन परिकल्पना के महा-ख्यान (= Grand Narrative) का नाम है और हम बार-बार यूरोपीय चित्रकारों मूर्तिशिल्पियों लेखकों को अपनी अभिव्यक्ति के मुहावरे तलाशने के लिए ईसाइयत का महा-ख्यान फलाँगते हुए देखते हैं।

४

जिस 'ग़ैर-पेगन' शब्द का मैंने ऊपर प्रयोग किया उसके दोनों शब्दखण्ड सटीक ढंग से भारत के बाहर की भाषाओं से आयातित हैं। इस सर्वविदित तथ्य का स्मरण करते हुए कि 'पेगन' शब्द का प्रयोग ईसाई धर्माचार्यों द्वारा प्राचीन रोमन धर्म के लिए किया गया था, मैं यह कहना चाहता हूँ कि जिसे हम आज 'सनातन हिन्दू धर्म', 'वैदिक धर्म', या 'ब्राह्मणवादी धर्म' कहते हैं, वह मेरे विचार में प्राचीन पेगन चेतना का लगभग एकमात्र जीवित उदाहरण है किन्तु मैं 'ग़ैर-पेगन' में इस्लाम के आगमन के पूर्व के धर्मविश्वासों का भी संकलन करता हूँ। 'ग़ैर-पेगन' की जगह 'ग़ैर-इब्राहीमी' भी कहा जा सकता है और एक ताज़ातरीन शब्द = Spritiual But not Religious गढ़ कर भी इसे समझने की कोशिश की गयी है। इसे 'हिन्दू' कहना मेरे नज़दीक सबसे सटीक था किन्तु इधर बुद्धिपरजीवियों* के नाते समकालीन चर्चा में 'हिन्दू' एक ग़ैर-पेगन स्वरूप इख़्तियार कर रहा है अतः मैं 'पेगन' ही कहूँगा।

निर्मल जी जब 'समय' के बर-अक़्स 'स्मृति' रखते हैं तो मेरी समझ में वे बात सही कह रहे हैं किन्तु शब्द ग़लत चुन रहे हैं। मैं उनके इस द्वन्द्व में क्रमशः 'ग़ैर-पेगन' और 'पेगन' रखना चाहता हूँ। जिस योरोपीय साहित्य से हमारा परिचय है वह 'ग़ैर-पेगन' है किन्तु वह अपनी इस सीमा से अपरिचित नहीं और उसने ग़ैर-पेगन चेतना द्वारा नष्ट की गयी यूनानी-रोमन 'संस्कृति' को फिर से रचने और उसे अपना पूर्वज मानने की भरपूर कोशिक की है।

---

* यह शब्द मैंने हिन्दी कथा-लेखक नीलाक्षी सिंह की एक टिप्पणी से लिया।

भारत में उसका समान्तर सोचने के समय हमें कुछ बातें पर ध्यान देना होगा। पहली बात तो यही है कि 'संस्कृति' शब्द एक ग़ैर-पेगन अवधारणा अर्थात् culture को बताता है और जैसा कि निर्मल जी ने इसी निबन्ध में कहा है, यदि हम किसी भारतीय को यह बताते हैं कि तुलसीदास उसकी 'संस्कृति' के अंग हैं, तो उसके लिए यह एक अटपटी बात होगी। दूसरी बात इसी को कुछ हेरफेर के साथ कहती है : वह यह है कि हमें अपना अतीत 'बनाना' नहीं है, वह हमारे आस-पास एक नैरन्तर्य में जिया जा रहा है। उसे 'स्मरण' करने की ज़रूरत नहीं है, उससे परहेज़ न किया जाय सिर्फ़ इतना सीखने की ज़रूरत है। इसी अर्थ में 'मॉडर्निटी' हमारे लिए प्रासंगिक हो सकती है- पानी में बुलबुले और लहर की तरह न कि दूध से दही की तरह, विवर्त की तरह, न कि परिणाम की तरह, एक साज-सँवार की हैसियत में न कि व्यवहार में आमूल अप्रत्यावर्तनीयता के हठ का आरोपण करती हुई। जिस उलट-पुलट का आह्वान उसकी आमद की धमक ने पश्चिम में किया है, वह हमारे यहाँ किसी स्फूर्ति का संचार करने में अक्षम है क्योंकि उसकी सारी ऊर्जा किसी भीतरी खलबली का परिणाम न होकर एक अलग से लगाये गये उपकरण की बदौलत है।

५

निर्मल जी ने अपने लेख में गोदान पर बात की है और कहा है :

> यह एक सृजनात्मक चुनौती थी जब प्रेमचन्द रूसी उपन्यासकारों की तरह उन्नीसवीं सदी के 'परम्परागत' औपन्यासिक ढाँचे को छोड़कर या उसे परिवर्तित करके एक ऐसी कथ्यात्मक, नैरेटिव विधा का अन्वेषण करते जो होरी की नियति और मर्यादा, उसकी हताशा और नैतिकता के अनुकूल अपना निजी 'कलात्मक स्पेस' निर्धारित कर सकती। यह इसलिए भी ज़रूरी था क्योंकि घटनाओं के प्रति होरी का सम्बन्ध वैसा द्वन्द्वात्मक समय-अनुशासित नहीं है जैसा पश्चिम के उपन्यास-पात्रों का सामान्यतः होता है। जब हम पहली बार उपन्यास में होरी को देखते हैं तो हमें एक झलक में उसकी अन्तिम नियति का आभास मिल जाता है। एक एपिक-पात्र की तरह उसकी नियति एक वाक्य, एक संकेत, एक उड़ती हुई प्रतिक्रिया में अन्तर्निहित है।

'एपिक' और 'उपन्यास' का परस्पर सम्बन्ध पश्चिम में हीगल द्वारा जोड़ा गया माना जाता है जिस पर आगे चलकर जार्ज लूकाच ने उपन्यास का अपना सिद्धान्त विकसित किया। जिसे निर्मल जी 'एपिक-पात्र' कह रहे हैं वह मेरी समझ में प्राचीन ग्रीक ट्रैजेडी का हीरो है जिसका अन्त घटनाओं से नहीं निर्धारित होता अपितु जिसकी निर्धारित नियति के रूपंकरण के लिए घटनाएँ उतरती हैं। ट्रैजेडी से उपन्यास तक पहुँचने की राह नीत्शे

द्वारा खोजी मानी जाती है और सम्भव है कि निर्मल जी के मन में दोनों बातें रही हों, या इन दोनों रास्तों को वे मिलाकर देखते हों। यह एक विचारोत्तेजक सूत्र है जिसका पकड़ते-छोड़ते हम आधुनिक भारतीय जीवन में उन सर्वनिष्ठ संकेतों की तलाश कर सकते हैं जो शायद हमें विश्व-साहित्य के कालजयी अवतारों तक ले जाने के लिए पुल का काम कर सकते हैं और हम देख सकते हैं कि इतिहास के पदार्पण के पहले का समाज लेखिनी, तूलिका, शब्द और अभिनय से अपना क्या सम्बन्ध स्थापित करता था।

इस पड़ताल की गुंजाइश यहाँ नहीं। मैं केवल एक शब्द 'एपिक-पात्र' को सतह पर पकड़ता हूँ। मैं 'एपिक' को 'महाकाव्य' के अर्थ में पढ़ना-समझना चाहूँगा और याद करना चाहूँगा कि (बताया जाता है कि) जार्ज लूकाच ने कहा था कि उपन्यास उस संसार का महाकाव्य है जिसे ईश्वर ने छोड़ दिया है। मुझे यह वाक्य पसन्द आया और मैं इसमें के 'महाकाव्य' और 'ईश्वर' को अपने ढंग से समझना चाहूँगा। तब ज़ाहिर है कि 'महाकाव्य' कहने से हमारे मन में रामायण जैसे ग्रन्थ उभरेंगे और 'ईश्वर' कहने से (विद्यारण्य स्वामी के शब्द इस्तेमाल करते हुए) माया रूपी कामधेनु के दो बछड़ों- जीव और ईश्वर- में से एक का बोध होगा। तब 'ईश्वर से परित्यक्त संसार' में मार्मिक असहायता की जगह विश्वास का भरोसा दिखेगा और उपन्यास का अवतरण खाई में नहीं, पुष्करिणी में होगा।

यहाँ से सोचते हुए मुझे उदयन वाजपेयी का यह सुझाव अच्छा लगा कि हमें शायद 'भारतीय उपन्यास' को 'महाकाव्य' के भारतीय सन्दर्भ में समझने की कोशिश करनी चाहिए। उन्होंने यह बात कामायनी के सन्दर्भ में कही थी और शायद हमारा शुरुआती सवाल यही होना चाहिए कि क्या जब हम कामायनी या साकेत या प्रियप्रवास को 'महाकाव्य' कहते हैं तो हमारे मन में कालिदास का रघुवंश या तुलसीदास का रामचरितमानस रहता है, या रहना चाहिए ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि इन आधुनिक महाकाव्यों के लेखकों के मन में तो निश्चय ही ये प्राचीन महाकाव्य थे किन्तु वस्तुतः ये आधुनिक काव्य 'छन्दोबद्ध उपन्यास' हैं।

६

हम कुछ बातें यहाँ याद कर लें। 'उपन्यास' पश्चिम में भी 'नया' ही है और मोटे तौर पर डान क़ीहोती (= Don Quixote) से इसका प्रारम्भ माना जाता है जो १६०५-१६१५ में छपा। यह 'छपा' मेरी समझ में महत्वपूर्ण है और गद्य-रचना में अभिवृद्धि का बहुत कुछ श्रेय प्रिन्टिंग की प्रौद्योगिकी को है जिसने पन्द्रहवीं सदी में उपलब्ध होने के बाद यूरोप में सूचना और सर्जना के क्षेत्र में कुछ वैसी ही क्रान्ति ला दी जैसी हम आज सोशल मीडिया और ब्लाग-लेखन के चलते देख रहे हैं।

गद्य में लिखा जाना 'उपन्यास' का एक अभिलक्षण था। छन्दोबद्ध रचना को स्मरण में सुरक्षित रखने में सुविधा होती है इसलिए छन्दोबद्ध रचना ऐतिहासिक क्रम में सर्वत्र पहले रही है और गद्य भी अधिकांशतः वही

लिखा गया है जो या तो काव्य की कुछ आलंकारिकता समेटने का आकांक्षी हो या फिर शास्त्र-सम्बद्ध तर्कणा की सुरक्षा हेतु स्वतन्त्र महत्व रखता हो। भारत में बहुत सारी शास्त्र-रचना भी छन्दोबद्ध ही की गयी है। बहरहाल, बहुत ऊहापोह के बिना भी यह मानना कठिन नहीं होना चाहिए कि चर्मपट्ट पर उकेरे गये साहित्य की अपेक्षा प्रिन्टिंग प्रेस में काग़ज़ पर छापा गया साहित्य व्यापक वितरण के लिए सस्ता और सुविधाजनक था जिसने धर्माचार्यों और राजपुरुषों से आगे भी सामान्य जन तक लिखित शब्द को पहुँचाने में बड़ी मदद की। 'बूर्ज्वा' के उदय से इस मुद्रण-प्रौद्योगिकी का घनिष्ठ सहयोग और सहकार रहा है।

'उपन्यास' इसी समय की उपज है। विचारों के प्रचार-प्रसार पर बहुत सारे एकाधिकार टूटे क्योंकि पुस्तकों की प्रतियाँ बड़ी संख्या में बन पाना सम्भव हुआ। बाइबिल की प्रतियों के उपलब्ध हो जाने के नाते उसे पादरियों के अतिरिक्त भी लोग पढ़ने लगे और उस माहौल की वापसी बहुत कठिन हो गयी जिसमें बाइबिल घर के भीतर रखना और उसे खुद पढ़ना प्रतिबन्धित था। गद्य के प्रसार में बड़ी बाधा उसकी रक्षणीयता की कठिनाई है, इसे भी मुद्रण-प्रौद्योगिकी ने कम किया। मोटे तौर पर यह अवसरों का विस्तार था जैसे आज इन्टरनेट ने अवसरों का विस्तार किया है।

७

'महाकाव्य' और 'उपन्यास' में अन्तर सिर्फ़ इतने तक तो सीमित नहीं हो सकता कि 'महाकाव्य' छन्दोबद्ध है और 'उपन्यास' गद्य में लिखा जाता है। 'छन्दोबद्ध उपन्यास' भी होते ही हैं। निर्मल जी ने उपन्यास को 'इतिहास और कविता के बीच के स्थल की खोज' कहा है। उन्होंने 'इतिहास' और 'कविता' के बीच का जो फ़र्क बताया है, उसे शब्द की अर्थवाचन का संकोच करने वाली तथ्यात्मक एकवाचिता और उस अर्थवाचन के विस्तार को सहेजने वाली सम्भावनात्मक बहुवाचिता के बीच का फ़र्क कहा जा सकता है। मेरी समझ में यह पड़ताल भी ज़रूरी है कि यह फ़र्क किस हद तक एक वास्तविकता है और किस हद तक एक भ्रम, किन्तु यहाँ मैं इस पड़ताल को मुल्तवी करता हूँ और यह पूछता हूँ कि 'छन्दोबद्ध उपन्यास' से हमारी क्या मुराद हो सकती है ?

हमें पुनः पश्चिम की ओर मुड़ना चाहिए और पुश्किन के Eugene Onegin को सामने रखना चाहिए जो छन्दोबद्ध उपन्यासों का प्रतिदर्श है। यह एक ही छन्द में लिखा गया है जिसे 'पुश्किन सॉनेट' कहते हैं, फ़िलहाल कालिदास का मेघदूत सामने रख लेते हैं जो एक ही छन्द-मन्दाक्रान्ता- में लिखा गया है। तब देखा जा सकता है कि Eugene Onegin में कहानी कहने का अभीष्ट है और मेघदूत में काव्यसौन्दर्य के उद्भावन का अभीष्ट। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यों तो कृति को कविता होने और कहानी होने के प्रति दोहरी वफ़ादारी निभानी पड़ेगी चाहे वह छन्दोबद्ध उपन्यास हो चाहे 'कथा', किन्तु जब कथा वाचन प्रमुख अभीष्ट होगा तब 'छन्दोबद्ध उपन्यास' होगा और जब काव्यसौन्दर्य का सम्प्रेषण प्रमुख अभीष्ट होगा तब 'कथासूत्रित काव्य'। हमारे

यहाँ के 'कथा' और 'महाकाव्य' जैसे वर्गीकरणों पर शब्दशः निर्भर रहने से काम न चलेगा क्योंकि एक महत्वपूर्ण महाकाव्य नैषधीय-चरित के रचयिता श्रीहर्ष अपनी कृति को 'कथा' कहते हैं। शायद हम पुराणों को 'छन्दोबद्ध कथा' कह सकें। यहीं मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि नाबोकोव ने जब Eugene Onegin का रूसी से अँगरेज़ी में अनुवाद किया है तो छन्द हटा दिया है और इस अनुवाद को मूल के 'फूल' के बर-अक़्स 'काँटा' कहा है जिसका अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि इस अनुवाद में 'इतिहास' तो बचा किन्तु 'कविता' ग़ायब हो गयी। ज़ाहिर है कि नाबोकोव के इस विनम्र कथन को उनके अनुवाद का वास्तविक साहित्यिक मूल्यांकन नहीं माना जाना चाहिए किन्तु वह एक दूसरी बात है।

इसमें से एक सिद्धान्त का भी उद्धार किया जा सकता है- यदि उपन्यास इतिहास और कविता का सम्मिश्र है तो उसमें से कविता का अनुवाद नहीं हो सकता किन्तु इतिहास का हो सकता है। तब यह कह सकते हैं कि उपन्यास में से जिस अंश का अनुवाद हो सकता है वह 'फॉर्म' है जिसे हम सीधे अपना सकते हैं और जिस अंश का अनुवाद नहीं हो सकता उसे हमें स्वयं ही मुहैया कराना पड़ेगा- वह अंश ही भारतीयता है और तब हम 'भारतीय उपन्यास' को सम्मुख कर पायेंगे। यह कहते हुए मैं इस बात को भुला नहीं रहा हूँ कि 'फॉर्म' को सिर्फ़ एक खोल की तरह अपनाना साहित्य चिन्तकों के मत के विरुद्ध है और निर्मल जी के निबन्ध में मुख्य आक्षेप यही है कि हमने 'फॉर्म' को कोई चुनौती नहीं दी। मेरा प्रस्ताव यह है कि हमें 'फॉर्म' को चुनौती देने की ज़रूरत ही नहीं है।

निर्मल जी ने 'कविता' को 'भाषा और बिम्बों में डूबने' से और 'इतिहास' को 'बाहर समय में अपने अनुभवों को परिभाषित करने' से समीकृत किया है। इससे कुछ भ्रम फैल सकता है। मैं एक उदाहरण सामने रखकर बात करता हूँ। नैषधीयचरित में नल की बरात का जो विवरण श्रीहर्ष ने दिया है वह उनके अपने समय की बरात का ही है- रस्मरिवाज़ से लेकर हँसी-ठिठोली तक बारहवीं सदी के भारत से हैं न कि कृतयुग से। इस प्रकार वे 'समकालीन' हैं किन्तु ये ही 'समकालीन' श्रीहर्ष जब यह बताना चाहते हैं कि नल के राज्य में कलियुग अपने लिए ठौर कैसे ढूँढ रहा है तो जिन याज्ञिक प्रक्रियाओं का उल्लेख करते हैं वे सब ज्ञात इतिहास में केवल पुस्तकस्थ हैं और प्रायः कलिवर्ज्य हैं। 'समय' की यह अवधारणा एक अप्रत्यावर्तनीय गति से चलते 'इतिहास' की अवधारणा से संगत नहीं है।

हमें शायद साहित्य के संसार में 'समय' को एक ऐसे कक्ष के रूप में सोचना पड़ेगा जिसमें 'भूत', 'वर्तमान', और 'भविष्य' दरवाज़ों के नाम हैं- हम अपनी सुविधा और आवश्यकता के अनुसार किसी भी दरवाज़े से आ जा सकें, हमें यहाँ तक स्वतन्त्रता हो कि हम भविष्य में साँस खींचें और उसे भूत में छोड़ें। यही समय- न कि इतिहास- साहित्य की सर्जना के लिए समीचीन है।

टिप्पणियाँ और सन्दर्भ

१. यद्यपि मेरे वर्तमान प्रयोजन के लिए इससे अधिक गहराई में जाना आवश्यक नहीं है, मैं समझता हूँ कि आचार्यों ने जिन उदाहरणों के द्वारा इन शब्दों का आशय स्पष्ट किया है उनपर एक नज़र डाल लेना हितकर ही होगा। छान्दोग्योपनिषत/ (८-७-१) का अंश है : 'य आत्मापहतपाप्मा विज़रो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः... (= यह आत्मा पापहीन है जहा और मृत्यु से रहित है, क्षुधा और पिपासा इसमें नहीं हैं, यह 'सत्यकाम' है अर्थात/ इसकी सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, यह 'सत्यसंकल्प' है अर्थात् इसके सभी संकल्प सिद्ध होते हैं; इसे खोजना चाहिए, इसे जानना चाहिए)'। इसमें से 'इसे खोजना चाहिए, इसे जानना चाहिए' तो 'विधि' है क्योंकि वह करणीय बताता है और शेष अंश 'उपन्यास' है क्योंकि वह (सगुण) ब्रह्म के उन गुणों का निर्देश करता है जिनकी जानकारी अन्य श्रुतिवाक्यों से हमें है। इसी के साथ यह जानने की बात है कि जब इस (सगुण) ब्रह्म को 'सर्वज्ञ', 'सर्वेश्वर' आदि कहते हैं, तब वह 'व्यपदेश' है, अर्थात् उसका प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं, वह लोकव्यवहार में स्वीकृत है, लोग उस (सगुण) ब्रह्म को ऐसा मानते ही हैं।

दूर भटक जाने का कुछ डर लिए हुए भी मैं यह जोड़ना उपयोगी मानता हूँ कि ब्रह्मसूत्र में यहाँ जो चर्चा चल रही है वह यह है कि मुक्ति के बाद जब जीव ब्रह्म में लीन होता है तो वह किस ब्रह्म में लीन होता है, सगुण ब्रह्म में जिसमें पापहीनता जैसे गुण हैं या निर्गुण ब्रह्म में जो केवल चेतना मात्र है और जिसमें कोई गुणधर्म नहीं होता। श्रुतिवाक्य ब्रह्म को सगुण भी बताते हैं और निर्गुण भी, अतः प्रश्न का औचित्य है। चर्चा के अधीन सूत्र में आचार्य जैमिनि का मत बताया गया है जिसके अनुसार मुक्त पुरुष सगुण ब्रह्म में लीन होता है। अगले सूत्र में सूत्रकार बादरायण ने आचार्य औडुलोमि का मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार मुक्त पुरुष का लय निर्गुण ब्रह्म में होता है। उससे अगले सूत्र में सूत्रकार ने अपना मत प्रकट किया है जिसके अनुसार दोनों आचार्य सच कह रहे हैं। भगवत्पाद ने इस अन्तिम मत का व्याख्यान यह किया है कि एक ही ब्रह्म व्यवहारतः सगुण और परमार्थतः निर्गुण है और इस प्रकार आचार्य जैमिनि तथा आचार्य औडुलोमि के मतों में वास्तविक विरोधा नहीं है, दोनों आचार्य एक ही बात कह रहे हैं, केवल उनके शब्द अलग हैं। इस व्याख्यान से हिन्दी आलोचना में अतिशय प्रतिष्ठा-प्राप्त 'सगुण बनाम निर्गुण' के मुक़दमे के विषय में भगवत्पाद का पक्ष समझने में भी सहायता मिलती है।

२. क्वचिदल्पेन रामेण हतरावणराक्षसम्।। रक्षसा रावणेनैव क्वचिद्विहतराघवम्।

योगवासिष्ठ (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध, ८६-४५, ४६-४६)

३. सस्मिजगत्प्रस्फुरति दृष्टमौक्तिकहंसवत्। यश्चेदम् यश्च नैवेदम् देवः सदसदात्मकः।।

योगवासिष्ठ (उत्पत्ति-प्रकरण, ६-५१)

४. Benjamin Disraeli (1804-1881) जो दो बार इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री भी रहे।

नाबोकोव का वक्तव्य जिस कविता में है वह पूरी नीचे दी जा रही है :

On Translating **Eugene Onegin**

by

Vladimir Nabokov

1

What is Translarion ? On a platter
A poet's pale and glaring head,
A parrot's screech, amomkey's chatter,
And profanation of the dead.
The parasites you were so hard on
Are pardoned if I have your pardon,
O, Pushkin, for my stratagem,
I traveled down your secret stem,
And reached the root, and fed upon it;
Then, in a language newly learned,
I grew another stalk and turned
Your stanza patterned on a sonnet,
Into my honest roadside prose—
All thorn, but cousin to your rose.

2

Reflected words can only shiver
Like elongated lights that twist
in the black mirror of a river
Between the city and the mist.
Elusive Pushkin! Persevering,
I still pick up Tatiana's earring,
Still travel with your sullen rake.
I find another man's mistake,
I analyze alliterations
That grace your feasts and havnt the great
Fourth stanza of your Canto Eight.
This is my task— a poet's patience
And scholastic passion blent :
Dove-droppings on your monument.

कैसे प्रकाशित हुई पथेर पांचाली

सागरमय घोष

अनुवाद : रामशंकर द्विवेदी

सागरमय घोष (१९१२-१९९९) ने उन्नीस सौ सैंतीस में अशोक कुमार सरकार के आग्रह पर देश-पत्रिका का कार्यभार सम्हाला। उन्होंने एक प्रतिज्ञा की थी कि मैं 'देश' पत्रिका में स्वयं कुछ नहीं लिखूँगा। फिर भी उनकी दो-तीन पुस्तकें निकली हैं जो अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के बाद आनन्द पब्लिशर्स से छपी है। उन्हीं में एक पुस्तक है 'सम्पादक की बैठक में'। इस पुस्तक में अनेक तरह के संस्मरण दिये गये हैं। सागरदा गप-शप करने में उस्ताद थे। उनके पास खाली समय में कई साहित्यकार अड्डा जमाने आते थे। इन्हीं में ख्यात उपन्यासकार विमल मित्र भी थे। विमल मित्र के पास बांग्ला साहित्यकारों से जुड़े अनेक संस्मरण थे। यहाँ पर जो संस्मरण दिया जा रहा है वह इस बात पर आधारित है कि ऐसा कौन साहित्यकार है, जिसकी पहली पुस्तक ने छपकर बांग्ला साहित्य में हलचल मचा दी हो और उसे अजस्र ख्याति का अधिकारी बना दिया हो। यहाँ पर विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय से जुड़े उसी संस्मरण को पाठकों के लिये दिया जा रहा है- **अनुवादक।**

उस दिन बातचीत के प्रसंग में विमल मित्र ने कहा : 'चाहे जो कहो, बांग्ला साहित्य में विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय के पहले उपन्यास 'पथेर पांचाली' लेकर जो आविर्भाव हुआ वह एक चिरस्मरणीय घटना है। उसी के साथ जिन्होंने उन्हें खोजा था, 'विचित्रा' सम्पादक उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय उनके प्रति हम लोग चिरकृतज्ञ रहेंगे। भविष्य में बंगाल में उपेन्द्रनाथ की कोई रचना अगर स्मरणीय नहीं रहे, तो भी वे दो लेखकों के आविष्कर्ता के रूप में याद किये जाते रहेंगे।'

एक मानिक बन्द्योपाध्याय, दूसरे विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय। और इन्हीं विभूतिभूषण से उपेन्द्रनाथ की पहली भेंट बहुत ही कौतूहलपूर्ण है।

यह कहते हुए विमल बाबू रुक गये। यह उनका सदा का स्वभाव है। श्रोताओं में जब खूब उत्कण्ठा जाग गयी हो, तभी एकाएक रुक जाना। हमारी प्रतिक्रिया का आनन्द लेने के लिये ही शायद सुनने में प्रिय कहानी का

सूत्रपात कर रुक जाना।

हम लोग सभी अरे-अरे करते हुए कहने लगे, 'अरे रुक क्यों गये। पूरी घटना बताइए ना!'

कोई उत्तर नहीं। निर्विकार चित्र से धीरे-धीरे जेब से सुँघनी की डिबिया निकालकर, बड़ी जल्दी उसका ढक्कन खोला गया। दो उँगलियों की चुटकी से सुँघनी निकालकर उसका ढक्कन बन्द कर कहने लगे- 'चाय कहाँ हैं ?'

मैंने कहा, 'उस सम्बन्ध में आपको कहना नहीं पड़ेगा।' जेब से सुँघनी की डिबिया निकालते देखते ही मेरा बैरा अमर केतली लेकर दौड़ कर चाय लेने चला गया था। इतने दिन से आप लोग बैठक में अड्डा दे रहे हैं, आप लोगों को उसे पहचानने में क्या कुछ बाकी रहा है ?'

चाय आ गयी थी। टेबिल पर रखे कप पर थोड़ा झुककर चुस्की लेते हुए तृप्ति की एक आवाज़ आयी। चाय के कप में दूसरी बार चुस्की लेकर विमल बाबू ने कहा कि तो फिर कहानी शरू की जाए।

कहानी शुरू हो गयी।

'बंगालीटोला तो आप जानते ही हैं ? भागलपुर का बंगाली टोला ? उसी बंगालीटोला में गांगुली लोगों का था विख्यात समृद्धिशाली परिवार। शरतचन्द्र के मामा लोगों का घर। शरतचन्द्र का शैशव और कैशोर्य बीता था उसी ममाने वाले घर में। हमारे उपेन दा उसी गांगुली परिवार के बेटे थे। कलकत्ता से कानून पासकर उपेन दा आ गये भागलपुर वकालत करने के उद्देश्य से। किन्तु, कलकत्ते में पढ़ते समय ही वे साहित्य के नशे में पड़ गये थे। 'भारतवर्ष', 'साहित्य' आदि में उनके लेख निकलते थे। कुछ साहित्यिक ख्याति भी उनकी हो गयी थी।

काबुलीवाला की हींग की झोली घर में रख आने पर भी उसके शरीर से हींग की गन्ध आती रहती है, उपेन दा ने साहित्य का पार्ट कलकत्ता में ही पूरा कर अर्थोपार्जन की आशा से भागलपुर में वकालत करने के बाद एक साहित्यिक अड्डा बना लिया था। व्यक्ति एक तो साहित्य के लिए पागल, इस पर मजलिसी। रोज़ शाम को उनके घर के बैठकखाने में अड्डा खूब जमता था। गाने-बजाने के साथ मजलिसी कहानियों। उसी के साथ चला करती थी साहित्यिक चर्चा।

भागलपुर में बहुत दिनों से ही साहित्य की आबहवा अपने आप ही बन गयी थी। उपेन दा के अड्डे पर साहित्योत्साही अनेक बंगाली बिना बुलाये आते-जाते थे। कोई कुछ सोचता नहीं था।

उसी समय एक अपरिचित बंगाली युवक का उपेन दा के अड्डे पर रोज़ ही आना-जाना था। घुटनों को छूने वाली उटंगी धोती, बिना इस्तरी का हाथ से धुला मासीन का कुर्ता पहने हुए। एक हाथ में लालटेन, दूसरे में लाठी, रोज़ शाम को अड्डे के एक कोने में सबसे पीछे, सबके अगोचर चुपचाप बैठा रहता, अड्डा के अन्त

में जैसे निःशब्द आता था, वैसे ही चला जाता था। वह व्यक्ति कौन है, इसका परिचय लेने का अवसर कभी नहीं आया। अड्डे पर आना और जाना यही था उसका एकमात्र परिचय। पूर्व परिचय की ज़रूरत ही क्या थी।

शरत् के बाद शीत पार होकर वसन्त का मौसम भी चला गया, आ गया ग्रीष्म। भागलपुर की गर्मी आप जानते ही हैं, जब तक धूप है रहती घर से निकला नहीं जा सकता है, शाम के समय लोग थोड़ी चैन की साँस लेते हैं। कोर्ट बन्द। उपेन दा पूरे दिन कमरे में बैठकर नया उपन्यास लिखते, शाम होते ही अड्डा के लिए उन्मुख होकर बैठकखाने में बैठे-बैठे प्रतीक्षा रत रहते। इसी समय दिखायी दी धूल उड़ाती हुई कालवैशाखी की प्रचण्ड आँधी। उपेन दा का मन बहुत खराब हो गया। इस आँधी में क्या किसी के आने की आशा है, क्या कोई आएगा? फिर भी रोज़ की आदत के अनुसार बैठक खाने में बैठे हुए हैं, आँधी के कारण उस दिन खिड़कियाँ बन्द कर रखी थीं। बाहर अँधेरा घिरता आ रहा है, आँधी का वेग कुछ कम हुआ, दो-चार बूँदें पानी भी मानो बरस चुका है। दरवाज़ा खोलकर बाहर रास्ते की ओर देखते ही नज़र गयी दूर से एक लालटेन की रोशनी उन्हीं के घर की ओर बढ़ती आ रही है, साथ में एक छायामूर्ति भी दिख रही है। अच्छा, एक व्यक्ति ही आखिर में आ पाया, दुरन्त रसालाप में तो फिर शाम का समय अच्छी तरह ही बीतेगा।

छायामूर्ति साकार होकर जब उनके घर के बरामदे में हाज़िर हुई, उपेन दा थोड़े निराश हो गये। इस व्यक्ति को पाँच-छह महीने से रोज़ ही अपने बैठकखाने में देखते ज़रूर आ रहे हैं, किन्तु वह व्यक्ति जितना गम्भीर उतना ही लज्जाशील, और संकोची है। बातचीत भी बहुत कम करता है और जितनी करता है वह भी रसहीन, रूखी-सूखी। ऐसे व्यक्ति के साथ साहित्य चर्चा ही आखिर कितनी होगी। रंगरस की बातें तो छोड़ ही दो।

उपेन दा का स्वभाव है, सारे मनुष्यों में कहानी अथवा उपन्यास के पात्रों को खोजते फिरना। मन-ही-मन सोचने लगे इस चुप्पा मनुष्य के जीवन में ऐसे कुछ उपादन मिल सकते हैं, जो उनके उपन्यास की चरित्र-रचना के काम में आ सकें। उसी उद्देश्य से उस आगन्तुक के पास आते ही उसे आदर सहित स्वागत करते हुए कमरे में बुला ले गये।

कमरे में घुसते ही उस व्यक्ति ने हाथ का छाता, डंडा और लालटेन दिवाल के पास रखकर कमरे के कोने में रख दी और उसी निर्धारित बेंच पर जाकर वह व्यक्ति बैठ गया। उसी जगह पर वह व्यक्ति रोज़ ही जाकर बैठता था।

बड़ा एतराज़ करते हुए उपेन दा बोले- 'आप इतनी दूर क्यों बैठे हुए हैं, सामने की कुर्सी पर आकर बैठिये ना।'

लज्जामिश्रित स्वर में आगन्तुक ने कहा- 'जी, और भी तो कई लोग आएँगे, उनकी जगह पर क्या मेरा बैठना ठीक होगा ?'

अभय देते हुए उपेन दा बोले- 'आपके संकोच करने का कोई कारण नहीं है, भारी वर्षा को झेलते हुए आज और कोई आएगा नहीं। आप आगे आकर बैठिये।'

बड़े संकोच के साथ उपेन दा के सामने रखी टेबिल की उल्टी तरफ चेयर पर आकर बैठते ही उपेन दा ने कहा- हमारे अड्डे पर आपका रोज़ का आना-जाना है, हालाँकि आपका परिचय नहीं लिया गया है। यद्यपि इस अड्डे पर परिचय की ज़रूरत पड़ती भी नहीं है। चेहरे की पहचान ही सदा के लिए पहचान बन जाती है। तो आपका नाम जान सकता हूँ ?'

- 'जी, मेरा नाम विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय है।'

- यहाँ पर आप क्या करते हैं ?

- कलकत्ता से ही यहाँ नौकरी के कारण आया हूँ।

- कलकत्ता से नौकरी लेकर आये हैं भागलपुर ? क्या कलकत्ता में कोई नौकरी मिली नहीं?

प्रश्न में शायद उपेन दा का अपना भी कलकत्ता छोड़कर भागलपुर वकालत करने आने का थोड़ा क्षोभ प्रच्छन्न रूप से मिला हुआ था। कलकत्ता का साहित्यिक जीवन छोड़कर निरे अर्थ की खोज में भागलपुर आकर मुवक्किलों को लेकर पड़े रहने के पीछे उनके हृदय की सहमति नहीं थी। सान्त्वना के स्वर में इसीलिए फिर बोले- 'कलकत्ता में अगर थोड़ा प्रयास करते तो कोई-न-कोई काम तो जुट ही जाता।'

'जी, मास्टरी मिल गयी थी, किन्तु पसन्द नहीं आयी। इसलिए खेलात घोषों की जमींदारी आफिस में नायब का काम लेकर चला आया।'

'खेलात घोष की जमींदारी! वह तो बहुत दूर है। यहाँ से चार-पाँच मील तो होगी ही। इसके अलावा घने जंगल के भीतर से आना पड़ता है ना ?'

'हाँ दो-तीन मील का रास्ता जंगल से होकर ही पार करना पड़ता है।'

यह बात सुनकर उपेन दा एकदम अवाक् रह गये। विस्मय का भाव बीत जाने पर कहने लगे, 'इसी जंगल का रास्ता पार कर आप रोज़ यहाँ आते हैं। आपको डर नहीं लगता है ? सुना है इस जंगल में कई हिंसक जीव-जन्तु रहते हैं। साँप-विष खाँपरों का भी अभाव नहीं है।'

विभूति बाबू थोड़ी लज्जामिश्रित हँसी हँसते हुए कहने लगे, 'भयभीत होने के लिए क्या है ? अथवा हिंसक प्राणियों के रहने से ही क्या है ? उन पर अगर आक्रमण न किया जाए तो वे भी मेरा कुछ बिगाड़ेंगे नहीं। इसके अलावा मुझे जंगल का एक मोह भी है। एक माया भी है जो सबसे ज्यादा मुझे आकर्षित करती है। और आपने

साँप-विषखाँपर की जो चर्चा की ? यह जो लाठी देख रहे हैं, वह जब तक हाथ में रहती है, तब तक मुझे किसी का भी डर नहीं रहता है।'

उपेन दा एक अद्‌भुत चरित्र का व्यक्ति पाकर मन-ही-मन खुश हो उठे। बोले,

'अच्छा, रोज़ आप इतना लम्बा रास्ता पैदल चलकर आते हैं, अड्‌डे पर आकर चुपचाप बैठे रहते हैं, यह भी मैंने लक्षित किया है। किन्तु, क्यों ? किस आकर्षण में ?

'किसके आकर्षण में ? बताइए, आपको किस तरह समझाऊँ। भागलपुर आने के पहले ही बंगालीटोला में आपके घर के बारे में बहुत कुछ सुना था। सुना है शरत्‌चन्द्र इसी घर में बड़े हुए थे। इसी घर में उनकी साहित्य-साधना का प्रेरणास्रोत है। इसके अलावा अनुरूपा देवी, केदार बंद्योपाध्याय एवं और भी अनेक साहित्यकारों ने इसी घर में साहित्य की महफिल जमायी है। यह घर मेरे लिए तीर्थस्थान है। फिर उसके ऊपर आप यहाँ रहते हैं, आपके घर के साहित्यिक अड्‌डे की ख़बर मैं कलकत्ते से ही सुनकर आया हूँ।

जिस आशा से इस व्यक्ति के साथ उपेन दा आलाप-परिचय जमा रहे थे, उन्होंने महसूस किया कि वह व्यक्ति तो एकदम दूसरी धातु का बना हुआ है। इसकी बातचीत में एक शिल्पी मन छिपा हुआ है, उसका थोड़ा-सा आभास मानो उपेन दा के सामने प्रस्फुटित हो उठा। आग्रह के साथ उपेन दा कहने लगे- 'आपको गुप्त रूप से साहित्यिक अनुशीलन की शायद थोड़ी लत है ?'

'ना, वैसा तो कुछ नहीं, यही एकाध, थोड़ा-बहुत....'

लज्जाशील व्यक्ति, इसीलिए कहने में संकोच कर रहा है।

'कविता वगैरह ज़रूर दो-चार लिखी होंगी। और जब अरण्य के एकान्त में आप दिन-पर-दिन व्यतीत कर रहे हैं तब अलबत्ता आपने कविता ज़रूर लिखी होगी। अगर अब भी न लिख रखी हो तो आपको लिखनी चाहिए एवं मुझे तो दिखानी भी होगी।'

इस बातचीत के बाद विभूति बाबू हृदय में बल संचित कर कहने लगे, 'अगर आप अभय दान दें, अगर मुझे आप उत्साहित करें, आपसे एक बात कहूँ।'

'तो फिर मेरा अनुमान सही ही है। निश्चय ही आपने कविता लिखी है और जेब में लेकर आये भी हैं मुझे दिखाने के लिये। इसमें लज्जित होने का कोई कारण नहीं है, इस तरह के कई व्यक्ति मेरे पास आकर अपनी रचनाएँ मुझसे ठीक करा ले जाते हैं। झटपट निकालिए, मैं पढ़कर देखना चाहता हूँ।'

'जी, कविता नहीं। मैंने एक उपन्यास लिखा है।'

'उपन्यास ? आ-आ-आपने ? लिख भी डाला।' विस्मय से विमूढ़ उपेन दा आँखें फाड़-फाड़कर विभूतिबाबू की ओर देखने लगे।

रात हो चुकी थी। बाहर जमा हुआ अन्धकार, वर्षा से सिक्त ज़ोरदार हवा जंगल से होकर कमरे के दरवाज़े से, यहाँ-वहाँ प्रवेश करने लगी। घर के भीतर एक तरह का थमा हुआ सन्नाटेदार वातावरण। विभूतिबाबू सिर नीचा कर बैठे हुए हैं, मानो बहुत बड़े विस्मय की स्तब्धता हो, मानो यह व्यक्ति कभी अपराध कर ही न सकता हो।

यह आस्वस्तिकर स्तब्धता मानो दोनों लोगों को पीड़ा दे रही हो। लाचार होकर उपेन दा ही बात करने लगे, जैसे स्वगत आलाप कर रहे हों।

'उपन्यास लिखने का ककहरा तो सीखा नहीं, एकदम उपन्यास।' अब विभूतिबाबू के अवाक् होने की बारी थी। उन्होंने कहा- 'ककहरा ? यह क्या चीज़ होती है।'

'हाँ, हाँ, ककहरा! इसके पहले किसी पत्रिका में आपका कोई लेख-वेख निकला है ? जैसे कोई कविता या कहानी ? नहीं तो कोई प्रबन्ध ?

'जी नहीं।'

'फिर ? ककहरा तो सीखा नहीं और आपने उपन्यास लिख डाला ?'

'वही कह रहा हूँ। साहित्यिक जीवन शुरू किया था कविता लिखकर। बाद में कहानी-उपन्यास में चला गया। बंकिमचन्द्र की पहली रचना कविता है। प्रकाशित की थी ईश्वरचन्द्र गुप्त ने अपनी पत्रिका 'संवाद प्रभाकर' में। वही था उनका ककहरा सीखना। रवीन्द्रनाथ की बात और नहीं कहूँगा। यहाँ तक कि मेरे भाँजे शरत्चन्द्र, जीवन के पहले पर्व में, उसने भी कविता लिखकर ही अपना साहित्यिक जीवन शुरू किया था।'

विस्मित होकर विभूतिबाबू कहने लगे, 'शरत्बाबू ने कविता लिखी है ? कहाँ, यह बात तो इसके पहले कभी सुनी नहीं है ?'

'कहाँ से सुनोगे ? यह बात मेरे अलावा और कोई जानेगा भी कैसे ? आज भी शरत् की लिखी, कविता की पहली पंक्ति मुझे याद है, 'फूलवने लेगेछे आगुन'- फूलवन में आग लगी हुई है।' भागलपुर के इसी घर से किशोर अवस्था में हस्तलिखित एक पत्रिका निकालता था। उसी पत्रिका में उसने यह कविता लिखी थी। इसीलिए कहा था कि एक-दो छोटी-छोटी रचनाएँ इधर-उधर छप जाने पर थोड़ा नाम हो जाने पर उपन्यास पर आना चाहिए था, क्या यह उचित नहीं था ?'

कैफ़ियत दे रहे हों इस लहजे में विभूतिभूषण बोले, 'काफ़ी दिनों से भीतर-ही-भीतर एक तरह की तागीद अनुभव कर रहा था कि अपने देश की कथा, अपने गाँव की कथा उपन्यास के रूप में लिख जाऊँगा। गाँव के स्कूल में मास्टरी करता था, अवसर था, इसीलिए उपन्यास लिख डाला।'

'यह तो बहुत अच्छा किया है। अकेले जंगल में पड़े हुए हैं इसलिए समय काटने के लिए कुछ तो चाहिए, उसे तो बिताना ही होगा। फिर भी उपन्यास लिखने से ही तो उपन्यास हुआ नहीं, उसके तो कितने ही नियम-क़ायदे होते हैं। क्या आपने उनको बरकरार रखा है ? कितना बड़ा उपन्यास लिखा है ?'

विभूतिबाबू ने बताया, 'वह तो एक बड़ा उपन्यास ही होगा, मेरे हाथ की लिखावट बहुत महीन है। इसलिए हाथ के लिखे चार सौ पन्ने हो गये हैं।'

'इतने पन्ने तो हो ही जाएँगे। जब अकेले-अकेले रह रहे हैं, तब पन्ने-पर-पन्ने, दस्ते पर दस्ते, रीम-पर-रीम लिखते जाने के अलावा और काम ही क्या है। आपके उपन्यास में परिच्छेद हैं ?'

'वह तो हैं।'

'उनकी संख्या मिलायी है ?'

'संख्या ? उपन्यास लिखने के साथ गिनती का क्या सम्बन्ध है, मैं यह ठीक से नहीं समझ सका।'

'गिनती का अर्थ है गणित। पहले परिच्छेद में जितने शब्द हैं, दूसरे परिच्छेद में भी उतने ही शब्द रहेंगे। इसी तरह से तीसरे, चौथे, पाँचवें में। गिनकर देख लिये हैं ?'

'जी नहीं। गिनकर मैंने देखा नहीं है।'

'मैं यहाँ रहता हूँ। आप मेरे यहाँ आज छह मास से ऊपर हो गये, आना-जाना कर रहे हैं। एकबार मुँह खोलकर यह बात बतायी नहीं ? अब तो तुम्हारा सारा परिश्रम बेकार हो गया। कविता का जिस तरह से एक छन्द होता है, मात्राएँ होती हैं, उपन्यासों के क्षेत्र में भी एक हिसाब होता है। एक परिच्छेद के साथ दूसरे परिच्छेद का अनुपात होना चाहिए। अगर वैसा अनुपात क़ायम न रखा जाए तो उपन्यास असंगत हो जाता है। फिर सम्हाल के बाहर चला जाता है।'

हताश होकर विभूतिबाबू कहने लगे, 'तो फिर इसका उपाय क्या है ?'

उपाय एक है। आज ही घर जाकर किस परिच्छेद में कितने शब्द हैं गिन डालिए। उसके बाद काट-छाँट करने या किसी परिच्छेद को बढ़ाने से एक परिच्छेद के साथ दूसरे परिच्छेद का सामंजस्य बिठाना होगा। एक बार ही तराजू से ठीक-ठीक तौलने जैसा मामला है या नहीं।'

इस बातचीत के बाद विभूतिबाबू अत्यन्त निराश हो गये। इतने दिन तक, इतना परिश्रम करके अन्तर की सारी वेदना ढालकर जो उपन्यास लिखा है, वह सिर्फ़ गिनती की भूल के कारण क्या बेकार हो जाएगा ?

उपेन दा अनुभवी उपन्यासकार हैं। मानव चरित्रों को लेकर ही उनका कारबार है। विभूतिबाबू के चेहरे की ओर देखकर उन्होंने उनकी मानसिक स्थिति पहचान ली, उन्हें उत्साहित करते हुए कहने लगे, 'इससे हताश होने की कोई बात नहीं है। जब तक भाई मैं बना हूँ, तब तक तुम्हें अपने उपन्यास का कोई डर नहीं है। आप तो सिर्फ़ परिच्छेदों की शब्द संख्या गिन डालिए, कल सन्ध्या के पहले दिन में अन्य मित्र आएँ, इसके थोड़ा पहले आ जाइए। तो भी, उपन्यास की पाण्डुलिपि साथ में लाना ज़रूरी है। मैं एक बार उसे देखना चाहता हूँ।

इस आश्वासनभरी वाणी सुनकर विभूतिबाबू को ऊभ-चूभ करते हुए जैसे कोई खोजने से नाव मिल गयी हो। इधर बातों-बातों में रात घनी हो गयी। मेघों के अँधेरे से भरी रात में जंगल से होकर उन्हें जाना भी पड़ेगा काफ़ी दूर। उपेन दा से विदा लेकर जेब से दियासलाई निकालकर उन्होंने लालटेन जलायी, उसके बाद छाता और लाठी बगल में बदाये कमरे से बरामदे में, बरामदे से रास्ते में उतर पड़े। रास्ते तक छोड़ने आए उपेन दा ने कहा, 'कल आपको आना है किन्तु उपन्यास की पाण्डुलिपि लाना नहीं भूलेंगे।'

सिर हिलाकर विभूतिबाबू ने विदा ली। विभूतिबाबू की छायामूर्ति धीरे-धीरे अँधेरे में विलीन हो गयी। लालटेन की रोशनी की ओर स्थित दृष्टि किये उपेन दा रास्ते में खड़े-खड़े उन्हें ताकते रहे।

उस रात विभूतिबाबू की आँखों में नींद नहीं आयी। सिर्फ़ उपन्यास के परिच्छेदों की शब्दराशि को गिनते रहे। पहले परिच्छेद में सोलह सौ शब्द, दूसरे में हज़ार। तीसरे और चौथे में लगभग समान शब्द, पाँचवाँ खूब छोटा तो छठा परिच्छेद बहुत विशाल। शब्दों की गणना करते-करते रात्रि के अन्त में थककर सो गये।

दूसरे दिन जल्दी-जल्दी जमींदारी के आफ़िस का काम निपटा कर गर्मी की प्रचण्ड धूप और लपट में ही निकल पड़े, बंगाली टोला के रास्ते पर। हाथ में वही लालटेन और लाठी, सिर्फ़ छाते की जगह कागज़ में लिपटे पन्ने।

बैठकखाने में पहुँचते ही उन्होंने देखा कि उपेन दा उन्हीं की प्रत्याशा में तैयार होकर बैठे हैं। कमरे में घुसते ही बोले, 'क्यों, खाता ले आये हो ?'

अख़बार के कागज़ में लिपटे बण्डल को उपेन दा के सामने टेबिल पर रखकर लालटेन और लाठी लेकर अन्य दिनों की तरह कमरे के अन्तिम छोर पर रखी बैंच पर जाकर बैठ गये। पाण्डुलिपि के पन्नों को उलट-पलट कर देखते हुए उपेनदा बोले- 'मुझे जो आशंका थी वही इस पाण्डुलिपि में भूल हो गयी है। ऐसा लग रहा है

परिच्छेदों की शब्द संख्या में कोई मेल है ही नहीं। अच्छी तरह गिन लिये हैं ?'

'कल पूरी रात यही गिनता रहा हूँ। शुरू से आखिर तक शब्द संख्या एक-सी नहीं है।'

गाल पर हाथ रखकर उपेन दा कोई विचार करने लगे। कुछ कहते-कहते अचानक रुक गये। इसी समय अड्डे में रोज़ आने वाले दो-तीन लोगों को कमरे में आते देखकर पाण्डुलिपि को कागज़ में लपेटकर टेबिल की दराज़ में रखकर विभूतिबाबू की ओर देखकर बोले, 'यह मेरे पास सुरक्षित रही। अवसर मिलते ही मैं एकबार इसे पढ़कर देखना चाहता हूँ।' नियमानुसार अड्डा जम गया। विभूतिबाबू नीरव श्रोता के रूप में जैसे रोज़ बैठे रहते थे, वैसे ही बैठे रहे। बैठक के शेष होते ही लालटेन जलाकर धीरे कदमों से अपने उसी डेरे पर लौट गये।

दिन आते गये और जाते रहे। उपेन दा ने उस पाण्डुलिपि के बारे में कुछ नहीं कहा और विभूतिबाबू ने भी उनसे कुछ नहीं पूछा। इसी तरह से दो मास बीत जाने के बाद बैठक खत्म होने वाली थी, उसी समय उपेन दा ने विभूतिबाबू से कहा, 'आप चले मत जाइए, आपसे कुछ काम है।'

विभूतिबाबू का मन आशंका से डावाँडोल होने लगा। पता नहीं, ये क्या कहेंगे। गोष्ठी के सभी लोगों के एक-एक कर चले जाने के बाद उपेन दा ने विभूतिबाबू से टेबिल के सामने कुर्सी पर बैठने को कहा। पास आकर बैठते ही दराज़ से खातों (पाण्डुलिपि की कॉपियों को) को निकालकर कहने लगे, 'मैंने पूरी पाण्डुलिपि पढ़ ली। आपका उपन्यास ठीक है, छप जाएगा। छप क्यों जाएगा ? बस समझ लीजिए छप गया है क्योंकि आपका उपन्यास ठीक लिखा गया है।'

विभूतिबाबू का चेहरा आनन्द से उद्‌भासित हो उठा। फिर भी द्विधाग्रस्त होकर उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की, 'किन्तु, गिनती ?'

'गिनती ज़रूर कुछ अमिल है। फिर भी उससे कुछ आता-जाता नहीं है। उसे मैं थोड़ा काट-छाँट कर ठीक कर दूँगा। इसके अलावा सभी रचनाओं पर विचार सिर्फ़ गणित के आधार पर क्या किया जा सकता है ? और क्या इस तरह विचार करना उचित भी है ? अपवाद भी हो सकता है। अच्छा कहीं उपन्यास छपाने का क्या आप विचार कर रहे हैं ?

विभूतिबाबू कुछ क्षण ज़मीन की ओर स्थिर दृष्टि से देखते रहे। उसी स्थिति में दीर्घ श्वाँस लेते हुए कहने लगे, 'कलकत्ता में रहते समय 'प्रवासी' पत्रिका में छपने दिया था। यहाँ नौकरी पर आते समय वहाँ पता करने गया और उसे वापस ले लिया।'

गुमसुम हो गये उपेन दा। मजलिसी मिजाज़ के कारण खुशदिल मानुस एक क्षण के लिए पत्थर की तरह स्तब्ध हो गये उपेन दा। कमरे का वातावरण भी मानो भारी हो गया। कुछ पलों की नीरवता के बाद उपेन दा

गम्भीर स्वर में कहने लगे, 'आप चिन्ता न करें। इस उपन्यास के छपने की व्यवस्था मैं ही करूँगा। आप ऐसा समझ लीजिए कि आप अपनी एकमात्र सन्तान को जैसे मुझे सौंप रहे हों। इसका भार आज से मैंने ले लिया। आप निश्चिन्त होकर घर जाइये।'

विभूतिबाबू का मन कृतज्ञता से भर गया। विदा लेते समय घूलघूसरित धोती के छोर से आँखें पौंछते हुए आवेगरूद्ध कण्ठ से बोले, 'मेरी यह रचना प्रकाशित हो या न हो, अब मेरे मन में कोई खेद नहीं है।'

दो महीने बीत जाने पर एक दिन उपेन दा ने विभूतिबाबू को एकान्त में बुलाकर कहा- 'मैं भागलपुर छोड़कर पुनः कलकत्ता जा रहा हूँ। यह बात अड्डे के और किसी व्यक्ति को बताएँगे नहीं, वे लोग अडंगा लगाएँगे।'

विभूतिबाबू अवाक् होकर उपेन दा के मुँह की ओर देखते रह गये।

उपेन दा हँसकर कहने लगे, 'अवाक् हो रहे हैं तो फिर सुनिये। कलकत्ता जाकर मैं एक मासिक पत्रिका निकालूँगा।' 'आप ? वह तो, सुना है, अनेक रुपयों से चलने वाला काम है, 'रुपये की चिन्ता मेरे जमाई बाबू की है, समझे, मेरे जमाई की कोयले की खदानें हैं। उनके पास काफ़ी पैसा है। मना-मनूकर किसी तरह इस लाइन में आने के लिये राज़ी किया है। अब रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र को एक साथ छपने के लिए राज़ी कर पाने के बाद किला फतह। मैं आपको वचन दिये जा रहा हूँ, आपका उपन्यास मैं ही छापूँगा।'

सचमुच उपेन दा भागलपुर का अपना कारोबार समेटकर कलकत्ता चले गये। उसके कुछ ही महीने बाद बड़े समारोह के साथ प्रकाशित हुई 'विचित्रा'। प्रकाशित हुई कहना ग़लत होगा, एक तरह से उसका आविर्भाव हुआ। जिस दिन पहला अंक निकला, उसके एक दिन पहले रात में मुहल्ले-मुहल्ले में कलकत्ता की दीवारों पर 'विचित्रा' के पोस्टर छा गये। पत्रिका के कार्यकर्त्तागण टैक्सी करके बड़ी रात तक सारे कलकत्ते में घूमकर देखते रहे कि पोस्टर कैसे लग रहे हैं। सुतराम, ख़बर का स्तर कैसा होगा, आप इसी से अनुमान लगा लीजिए। जिसको कहते हैं इलाही कारोबार, एक तरह का छा जाने वाला व्यापक मामला। वह इतिहास किसी का भी अजाना नहीं है।

उधर भागलपुर के एकान्त में बैठे हुए विभूतिबाबू आशा के साथ महीने गिन रहे थे, उपन्यास तो अब तक निकला नहीं। चिट्ठी भी नहीं लिखी कि कहीं उपेन दा उससे नाराज़ न हो जाएँ। किन्तु, धीरज की भी एक सीमा होती है।

किसी एक उपलक्ष्य में कई दिनों की छुट्टी में से विभूतिबाबू ने कलकत्ता जाने का निश्चय किया।

फडियापुकुर लेन के दुमंजिले के एक कमरे में ज़ोरदार अड्डा जमा हुआ था। सोफ़ासेट से सुसज्जित

प्रकोष्ठ में पाँचेक लोग, सूटिड-बूटिड भद्रजन चाय के प्याले में आँधी उठाते हुए साहित्य में श्लीलता और अश्लीलता को लेकर तर्क-पर-तर्क किये जा रहे थे। सभी के मुँह में सिगरेट जल रही थी, धुएँ के कारण कमरे में अँधेरा छाया था। बीच की मेज़ पर कीमती ब्राण्ड की सिगरेट की डिब्बी, चाय के कप इधर-उधर फैले हुए थे। कमरे के एक कोने में धोती-कुर्ता पहने एक युवक टेबिल के ऊपर प्रूफ लेकर दत्तचित्त हो काम करता जा रहा है, तर्क-वितर्क से निस्पृह होकर। यही है 'वेद' के लेखक अचिन्त्य कुमार।

इसी समय दरवाज़े के सामने एक भद्रलोक के झाँकते ही पाँच जोड़ा आँखें उसके ऊपर जा टिकीं। इतने बंगाली साहब-सूबेदारों को देखकर आगन्तुक थोड़ा घबड़ाकर दरवाज़े पर ही खड़ा रह गया। कमरे में नहीं आया। अधमैली धोती, वह भी लगभग घुटनों तक। जूतों का चाम काला था या भूरा, कलकत्ते के रास्ते की धूल के कारण उसे भी पहचानने का कोई उपाय नहीं है। देह पर कुर्ता, उसकी दो-एक जगह पर रफू के चिन्ह है। हाथ में थी चटाई की थैली।

कमरे से किसी ने उपेक्षा का भाव व्यक्त करते हुए कहा, 'यहाँ क्या लेने आये हैं आप ? क्या चाहते हैं ? आप क्या एजेण्ट हैं ? हम लोग आपको दस पत्रिकाओं से अधिक नहीं दे पाएँगे। बहुत बड़ी माँग है। जाइए, उस कोने में बैठे भद्र व्यक्ति के पास रुपया जमा कर दीजिए।'

'मैं एजेण्ट नहीं हूँ।'

'तो क्या आप लेखक हैं ? कविता लिखते हैं ? नाम, पता लिखकर उसी कोने वाले भद्रलोक के पास जमा कर दें।'

'लेखक भी नहीं हूँ। कविता देने भी नहीं आया हूँ। मैं आया हूँ, पत्रिका के सम्पादक से भेंट करने।'

'उपेन गांगुली से ? वे अभी आये नहीं है। आपको जो ज़रूरत हो उसे उसी कोने वाले भद्र व्यक्ति को बता दें, उसी से आपका काम चल जाएगा।'

एक साँस में सारी बातें आगन्तुक के ऊपर फेंकते हुए वक्ता महोदय पुनः अपनी पूर्व चर्चा का सूत्र पकड़कर कहने लगे, 'अमलबाबू आप चाहे जो कहें, डी.एच. लारेन्स को लेकर युवा लेखकों का एक दल जिस तरह से उत्तेजित है...'

इसी समय उपेन दा आ उपस्थित हुए। दरवाज़े के पास जो व्यक्ति इतनी देर तक लौट जाऊँ या न जाऊँ यह सोचता हुआ दुविधा में पड़ा हुआ था, उसे प्रायः पकड़ते हुए खींचते-खींचते कहने लगे, 'क्या समाचार है विभूतिबाबू। कलकत्ता कब आये ? भागलपुर के सारे समाचार ठीक तो हैं।' बैठिये! बैठिये!'

सोफ़े पर समासीन जिस भद्रपुरुष ने उन्हें एजेण्ट मान लिया था, उन्हीं के बगल में थी जगह बैठने की।

विभूतिबाबू वहाँ बैठे नहीं। खड़े-खड़े ही कहने लगे- आज ही सवेरे कलकत्ता पहुँचा हूँ, रात में ही गाँव चला जाऊँगा, थोड़ा समय था इसीलिए आपसे भेंट करने चला आया।'

'तो आपने आकर अच्छा ही किया। आपको खुशखबरी दे रहा हूँ, अगले अंक से ही आपका उपन्यास छपने जा रहा है।'

इतनी देर जो लोग तर्क के द्वारा उस कमरे को सरगरम किये हुए थे, वे एकदम चुप हो गये। बार-बार वे लोग टकटकी लगाकर देख रहे थे विभूतिबाबू को। सिर से पैर तक और पैरों से सिर तक।

विभूतिबाबू फिर वहाँ पल भर भी खड़े न रहकर लगभग दौड़कर सड़क पर निकल आये। उस दिन के कलकत्ता शहर की शाम का आनन्द फिर वे जीवन में कभी नहीं भूले। बाद के जीवन में वे प्रायः मुझसे कहा करते थे, 'देखो, कलकत्ता शहर मुझे किसी भी दिन अच्छा नहीं लगा। गाँव और अरण्य में ही मुझे शान्ति मिलती है। फिर भी, हाँ, उस दिन शाम को 'विचित्रा' के ऑफ़िस से सड़क पर निकलकर कलकत्ता शहर से भी मैंने प्रेम किया था।'

लगातार एक कहानी कहते हुए विमलबाबू थोड़ा ठहर गये। 'पथेर पांचाली' के प्रकाशित होने की कहानी तन्मय होकर हम लोग सुन रहे थे और सोच रहे थे बंगदेश का दुर्भाग्य है कि 'विचित्रा' जैसी पत्रिका बन्द हो गयी, उपेन दा जैसा सम्पादक भी फिर हमें और नहीं मिला। और विभूति बन्द्योपाध्याय ? बांग्ला साहित्य में विभूतिभूषण जैसे मानववादी और प्रकृतिप्रेमी कथाकार क्या और देखने को मिलेंगे ?

इसी बीच में विमलबाबू ने दम लगाकर एक और चुटकी सुँघनी ले ली फिर कहने लगे, 'अगले महीने से ही 'विचित्रा' में 'पथेर पांचाली' निकलने लगी। साहित्य रसिक वर्ग में हलचल मच गयी- कौन है यह लेखक?'

सहसा एक दिन 'शनिवार चिठि' के सम्पादक सजनीकान्त दास खोजते हुए विभूतिबाबू के पास आकर हाज़िर हो गये। नब्बे रुपया उनके हाथों में देकर बोले- 'पथेर पांचाली' पुस्तक रूप में मैं ही छापूँगा।

अचरज में पड़ गये विभूतिबाबू। नब्बे रुपया!! यह तो मेरे लिये कल्पनातीत था।

इतना कहकर विमलबाबू कुर्सी छोड़कर उठ पड़े। धैर्यहीन होकर हम लोगों ने कहा- यह क्या, आप उठ क्यों गये ? 'पथेर पांचाली' की कहानी तो हमने सुन ली। किन्तु, मानिक बंद्योपाध्याय वाली घटना तो सुनायी ही नहीं ?'

दरवाज़े की ओर चलते-चलते विमलबाबू बोले- रात कितनी हो गयी यह खयाल भी है ? 'अतसीमामी' कहानी प्रकाशित होने की कथा और किसी दिन होगी।'

अब हम लोगों को होश आया। रात के नौ बज गये और हमें इसका आभास भी नहीं हुआ।

चित्रमय भारत

सुधाकर यादव

हिन्दी अनुवाद - डॉ. गोरख थोरात

आरम्भ

भारत में राजनैतिक जागरूकता का दौर आरम्भ होते ही पूरे देश में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ और सभी तबकों में विदेशी वस्तुएँ, विचार, संस्कृति को नकारते हुए स्वदेशी की भावना दृढ़मूल होने लगी। इस प्रक्रिया में औद्योगीकरण का भी विरोध होने के कारण यहाँ के देशज कारीगरों को महत्व प्राप्त हुआ। इस माहौल में देश के विचारकों, कलाकारों ने भी ख़ुद को अपनी परम्पराओं से जोड़ने का प्रयास किया। इस दौर में राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का केन्द्र बंगाल बना हुआ था। अतः स्वाभाविक रूप से यहाँ स्वदेशी का प्रभाव अधिक देखा गया। साथ ही ईसाई मिशनरियों का विरोध करते हुए नवहिन्दुत्व का विचार भी यहाँ प्रभावशाली ढंग से उभरा। आर्य समाज और ब्रह्म समाज के जरिए हिन्दू दर्शन प्रस्तुत करनेवाले दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द घोष, विवेकानन्द, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, भगिनी निवेदिता वगैरह विचारकों की एक विशाल परम्परा बंगाल में शुरू हुई।

बंगाल के सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन में ठाकुर घराने की भूमिका अत्यन्त अहम रही है। गगेन्द्रनाथ, अरविन्दनाथ ठाकुर ने 'विचित्रा' नाम से एक दल की स्थापना की थी, जिससे रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी जुड़ गये। बाद में यही संस्था भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, कला, परम्परा के गहन अध्ययन का केन्द्र बन गयी। आगे चलकर आनन्द कुमारस्वामी जैसे सौन्दर्यशास्त्र के अध्येता इसमें शामिल हुए।

नन्दलाल बोस इस दौर के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चित्रकार हैं। वे उपनिवेशवाद के विरोध से प्रभावित थे और अरविन्दनाथ के 'विचित्रा' दल के प्रभाव से ही कलाशिक्षक बने थे। उन्होंने अजन्ता चित्रशैली और मुग़ल तथा राजपूत लघुचित्र शैली का उन्नयन किया। सन १९१९ में रवीन्द्रनाथ ने शान्तिनिकेतन में शिल्प-चित्र विभाग के रूप में 'कला भवन' की स्थापना की और उसमें नन्दलाल बोस को कला अध्यापक के रूप में नियुक्त किया।

नन्दलाल बोस, असित हलदार, मुकुल डे आदि सभी ने एक ही शैली में कार्य किया। इसी से 'बंगाल स्कूल' का आविर्भाव हुआ। इसका स्वाभाविक असर मुम्बई के कला जगत् पर भी पड़ा। मुम्बई में अहिवाशी, चिमुलकर,

पलशीकर से लेकर गायतोण्डे तक के चित्रकारों ने इसी शैली का अनुमोदन किया। इस तरह 'बंगाल स्कूल' के समानान्तर 'बॉम्बे स्कूल' तैयार हुआ। यह शैली पूरे देश में भारतीय शैली के रूप में स्थापित हुई। सन १९२० तक कलकत्ता स्कूल ऑफ आर्टस् और बाद में जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस् में विशिष्ट भारतीय शैली की पारम्परिक अध्ययन कक्षाएँ शुरू हो चुकी थीं। दोनों कला संस्थाओं में यूरोपीय और भारतीय शैली के परस्पर विरोधी पाठ्यक्रम शुरू हुए। भारतीय शैली यानी अजन्ता भित्तीचित्र, लघुचित्र, साथ में पौराणिक, ऐतिहासिक विषय और लयबद्ध तथा आलंकारिक आकार।

पूरे देश में इसी अलंकार शैली का प्रभाव था। अमृता शेरगिल सन १९३४ में भारत आयी। भारतीय नस्ल की अमृता का जन्म यूरोप में हुआ था और उसकी शिक्षा भी वहीं पूरी हुई थी। यूरोपीय कला के पॉल गोगाँ, वान गोग, मोदिग्लियानी, पॉल सेज़ाँ आदि उस दौर के विख्यात कलाकारों का उस पर प्रभाव था। विशेषतः पॉल गोगाँ का प्रभाव तो बहुत ज़्यादा था। परन्तु पॉल गोगाँ को पूर्वी कला के प्रति, विशेषतः जापानी कला के प्रति आकर्षण था। यही प्रभाव आगे चलकर अमृता शेरगिल पर दिखायी देता है।

अमृता शेरगिल ने भारतीय समाज तथा उसकी जीवन शैली का अध्ययन किया। साथ ही एलोरा-अजन्ता तथा दक्षिण भारत के भित्तीचित्रों का भी विशेष अध्ययन किया। उसने अजन्ता के बाह्य सादृश्य पर आधारित बंगाल शैली की आलोचना की। उसका आरोप था कि नन्दलाल बोस के चित्र मात्र इलस्ट्रेशन हैं, उनमें तार्किकता नहीं है।

पॉल गोगाँ ताहिती द्वीप पर पहुँचा था और वहाँ की आदिवासी संस्कृति से एकाकार हो गया था। यह जीवन शैली उसके चित्रों में दिखायी देती है। इसी तर्ज़ पर अमृता शेरगिल को भारतीय ग्रामीण जीवन, उसका भीतरी कारुण्य, दुःख क़रीबी लगा। उसी से कला-प्रेरणा ग्रहण करते हुए उसने चित्र बनाये। अजन्ता के अलावा यहाँ के ग्रामीण जीवन में भी वह गहरायी तक गयी थी। इस कारण शेरगिल के चित्रों में मात्र बाह्य सादृश्य शैली नहीं आयी, बल्कि वह अन्तर्बाह्य ठेठ भारतीय शैली बन गयी। इस महत्वपूर्ण प्रभाव से पूरे देश में परिवर्तन आया। बंगाल स्कूल और बॉम्बे स्कूल पीछे छूट गये और भारतीय कला एक नयी दिशा में प्रवाहित हुई। इसमें मुख्यतः के. के. हेब्बर, एन.एस. बेन्द्रे तथा एम.एफ. हुसैन आदि मुम्बई के कलाकार शामिल थे।

भारतीय कला की ओर भारतीय जीवन के चश्मे से देखने के इस दृष्टिकोण के कारण देहाती, गँवार और पिछड़ी हुई 'कालीघाट' कला की ओर देखने की नयी दृष्टि प्राप्त हुई और इस बात पर मुहर लग गयी कि वह उच्च कोटि की कला है। अमृता शेरगिल ने रवीन्द्रनाथ की कविता की तुलना में उनके चित्रों की प्रशंसा अधिक की है। कुल मिलाकर कला से कला की निर्मिति की परम्परा टूट गयी और यथार्थ जीवन से आशय लेकर कला निर्मिति का दृष्टिकोण दृढ़ होने लगा। इस तरह भारतीय कला आकार ग्रहण करने लगी और अमृता शेरगिल के अलावा जामिनी रॉय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि आधुनिक भारतीय कला के महत्वपूर्ण चित्रकार बन गये।

इससे स्पष्ट होता है कि आज़ादी से पहले ही भारतीय चित्रकला का आरम्भ हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के अनेक देश उपनिवेशवाद की जंज़ीरों से आज़ाद हुए। आज़ाद भारत में कला, साहित्य, नाटक के आन्दोलन शुरू हुए। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के रूप में साहित्यिक आन्दोलन शुरू हुआ। उसी से प्रेरणा पाकर मुम्बई में 'प्रोग्रेसिव ग्रुप' नाम से एक चित्रकला संगठन स्थापित हुआ। सूज़ा, एम. एफ़. हुसैन, एच. एस. रज़ा, के. एच. आरा, गाडे और बाकरे आदि इस समूह के संस्थापक थे। हुसैन और आरा के अलावा बाकी सभी कलाकार यूरोप चले गये और वहीं बस गये। उस दौर के विख्यात चित्रकार पिकासो, पॉल क्ले आदि का प्रभाव पूरी दुनिया पर था, जो हुसैन और सूज़ा पर भी दिखायी देता है। परन्तु ऐसे बाह्य प्रभाव से पीछा छुड़ाने के लिए सभी कलाकार अपनी कला को 'भारतीयता' में ढालने का प्रयास करने लगे। इसके लिए वे वैदिक दर्शन, गुप्तकालीन कला, भारतीय मिथक चेतना आदि के साथ जुड़ते हुए नज़र आते हैं।

इस तरह उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन से लेकर भारतीय स्वाधीनता और वर्तमान तक एक ही सूत्र कलाकारों को आपस में जोड़े हुए है।

२

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(१८६१-१९४१)

रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि उनके कवि कर्म का उनके चित्रकार से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ओरी बिदाओ

रवीन्द्रनाथ ठाकुर साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटक वगैरह कई कलाओं के ज्ञाता थे। एक व्यक्ति का इतनी सारी कलाओं का ज्ञाता होना अपवाद में भी अपवाद माना जा सकता है। उनकी ये सभी कलाएँ मात्र पारम्परिक नहीं हैं, बल्कि उन पर रवीन्द्रनाथ की अपनी अलग छाप है। जब एक ही व्यक्ति में इतनी कलाएँ होती हैं, तब लोग उन कलाओं के बीच परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध की बात लगभग मानकर ही चलते हैं। परन्तु रवीन्द्रनाथ के उपर्युक्त कथन से उनकी चित्रकला में अलग से सौन्दर्य मूल्य को ढूँढ़ने का रास्ता हमारे लिए खुल जाता है।

रवीन्द्रनाथ की चित्रकला की साधना उनकी आयु के पैंसठ वर्ष बाद यानी ढलती उम्र में शुरू होती है। तब तक साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटक आदि विधाओं में उनका औचित्यपूर्ण सर्जन हो चुका था और सारे संसार ने उनका लोहा मान लिया था। साहित्य के लिए तो उन्हें 'नोबेल' पुरस्कार से नवाज़ा गया था। तात्पर्य यह कि रवीन्द्रनाथ के रूप में एक अलग सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य-विचार स्थापित हो चुका था। रवीन्द्रनाथ यदि उपर्युक्त बात नहीं कहते, तो शायद उनकी अन्य कला में स्थापित सौन्दर्य मूल्यों को ही उनके चित्रों के साथ जोड़ दिया जाता। अतः उनके चित्रों की अलग से समीक्षा करना इसी कथन के कारण सम्भव हुआ है।

रवीन्द्रनाथ के अलावा उनकी चित्रकला और अन्य कला सौन्दर्य पर बेबाक टिप्पणी केवल अमृता शेरगिल ने ही की है। अमृता सन १९३४ में भारत आयी। तब तक वह पेरिस में थी। वहाँ उसने पिकासो, ब्राक, मातीस आदि का काम अपनी आँखों से देखा था। उसका संवेदनशील मन पॉल गोगाँ, विन्सेंट वान गॉग आदि के चित्रों से प्रभावित हुआ था। कुल मिलाकर वह चित्रकला के एक अहम दौर की प्रत्यक्षदर्शी थी। जब वह भारत आयी तब पूरे देश में 'बंगाल शैली' का बोलबाला था। चित्रकार नन्दलाल बोस भी खूब चर्चा में थे। सन १९३० के दरमियान रवीन्द्रनाथ के चित्र पेरिस और यूरोप के अन्य देशों में भी प्रदर्शित हो चुके थे। यानी एक भारतीय चित्रकार के रूप में वे स्थापित हो चुके थे।

भारत आते ही अमृता ने भारतीय कला का जायज़ा लिया और भारतीय कला के सन्दर्भ में अपने विचार बेबाकी और दृढ़ता से प्रतिपादित किये। उसका कहना था कि नन्दलाल बोस के चित्र चित्रकला नहीं, बल्कि 'इलस्ट्रेशन' हैं और सतही दर्ज़े के हैं। साथ में उसने यह भी कहा कि पूरी 'बंगाल शैली' केवल अजन्ता की बाह्य सदृश्य है और भीतर से पोली है। उसकी रवीन्द्रनाथ पर की गयी टिप्पणी तो और भी प्रभावशाली है। वह कहती है, 'जहाँ तक टैगोर की क्षुद्र कविता का सम्बन्ध है, मुझे उससे गहरी घ्रणा है, जैसी कि मुझे उनके बनावटी व्यवहार से। दरअसल जो काम टैगोर कर सकते हैं वह केवल चित्रकला है।' (कारी को लिखे पत्र में, सित.-१९३७) रवीन्द्रनाथ के चित्रों पर की गयी इस टिप्पणी से यही अर्थ निकलता है कि रवीन्द्रनाथ की अन्य कलाएँ और उनके चित्र में कोई अन्तःसम्बन्ध नहीं है।

रवीन्द्रनाथ की चित्रकला की शुरूआत सन १९२८ के आसपास मानी जाती है। परन्तु उनके आरम्भिक चित्र कला सर्जन की प्रेरणा से नहीं, बल्कि उस दृश्य-निर्मिति से बने थे जो लेखन के ग़लत ब्यौरे की काटा-पीटी से बनते हैं। यानी, असमान लम्बाई के शब्दों को काटने से बने असमान लम्बाई के आकार समूह, दो शब्दों के बीच की खाली जगहें आदि से रवीन्द्रनाथ को अलग-अलग आकृतियों का आभास होता। फिर शब्दों के रिक्त स्थानों को रेखाओं द्वारा इन शब्द समूहों से जोड़ने पर जो आकृतियाँ उभरतीं, वे उन्हें परिचित लगतीं। रवीन्द्रनाथ उनमें और ज़रा-सा ब्यौरा जोड़ देते और उससे पक्षी या पशु की आकृति का आभास होता। इस क्रीड़ा की निरन्तरता से ही रवीन्द्रनाथ को आकार का अहसास हुआ, जो चित्रकला का एक महत्वपूर्ण आयाम है। ऐसी सहजता से जो सर्जन होता है, उसे कला तो नहीं कह सकते, परन्तु वह कला की एक प्रक्रिया अवश्य है। वह रूप-संवेदना का दस्तावेज़ है।

इस दौर को रवीन्द्रनाथ का दूसरा बचपन ही माना जा सकता है। दुनिया भर की कला-संस्कृतियों का अवलोकन करने के बाद वे शान्ति निकेतन में बस गये थे और यह कला भी उन्हें अपनी बालसुलभ जिज्ञासा से ही अवगत हुई थी।

लेखन पद्धति में सामान्यतः बाएँ से दाएँ का क्रम होता है। शब्दक्रम में सीधी समान्तर रचना होती है। अतः

रवीन्द्रनाथ की यह कृति, उससे आभासी बननेवाले पशु-पक्षियों के आकार भी सीधे समान्तर ही हैं। रवीन्द्रनाथ ने स्वतन्त्र रूप से भी ऐसी ही आकृतियाँ बनायी हैं। उन्हें वजन प्राप्त हो इसलिए वे कलम से ही एक दूसरी के समानान्तर, एक दूसरी से स्पर्श कर जाती, टेढ़ी और सीधी आदि अनेक रेखाओं को पिरोते गये। इन आकारों को एक गठन प्राप्त हो जाने से बिना रंगों के भी वे चित्र परिपूर्ण लगते।

अपने चित्रों में पक्षी, पशु, पत्ते, फूल आदि प्राकृतिक तत्वों के आकार आते ही रवीन्द्रनाथ को उनमें रंग भरने की आवश्यकता महसूस होने लगी। शुरू में रवीन्द्रनाथ ने प्रकृति में मुख्य रूप से पाये जानेवाले लाल, हरे और पीले आदि रंगों का चयन किया। इन रंगों का प्रयोग करते समय छायाभेद के लिए फिर कलम और स्याही का इस्तेमाल किया। विरोधी रंग लाल, हरा और पीला ऐसे रंग-संयोजन के कारण उनके चित्रों में मुख्यतः 'मटमैली' रंगछटा आ गयी।

रेखा से आरम्भ हुए चित्रों में रंगों का प्रवेश होते ही रवीन्द्रनाथ की रेखा का रूप बदल गया। कलम और स्याही के इस्तेमाल से बननेवाली एक ही मोटायी की रेखा चली गयी और उसके स्थान पर ऊबड़-खाबड़ और असमान मोटायी की बनी रेखा आ गयी। रवीन्द्रनाथ के आकार और उनके पीछे का अवकाश सामान्यतः गहरे रंग का है, परन्तु रेखाएँ तेजस्वी और उजली हैं। रवीन्द्रनाथ की 'रेखा' हमेशा शुरू से लेकर अन्तिम चित्र-शृँखला तक बदलते हुए मगर मुख्य रूप में दिखायी देती है। यह रेखा, वस्तु या आकार की बाह्यरेखा या वस्तु के आकार को उभाड़ती नहीं, बल्कि चित्र को एक गति और लय प्रदान करती है। रेखा के कारण आकार रूप धारण करते हैं। रवीन्द्रनाथ की रेखा सभी दिशाओं में अखण्ड और सीधी चलती है। वह 'बॉडी लाईन' नहीं है, अपितु उस रेखा का अपना व्यक्तित्व है, अपना शरीर है।

रवीन्द्रनाथ ने एक तत्व के रूप में रेखा का अनेक पद्धतियों से इस्तेमाल किया है। साथ ही उसका आकार भी स्वाभाविक रूप से बदलता रहा है। चित्रों में कलम के साथ-साथ ब्रश का भी इस्तेमाल है। वहाँ ये रेखाएँ मोटी या घुमावदार नहीं हैं, बल्कि सीधी भौमितिक हैं। इससे चित्र में भौमितिक आकार आते गये। इन भौमितिक आकारों के कारण ही रेखाओं का मुक्त विचरण और ऊबड़-खाबड़पन दूर हो गया और रेखा निश्चित दिशा में जानेवाली और घनता धारण करनेवाली बन गयी।

दरअसल, मोटी और सौष्ठवपूर्ण रेखा ही बंगाली 'कालीघाट' शैली के चित्रों की मुख्य विशेषता है। परन्तु रवीन्द्रनाथ की यह रेखा 'कालीघाट' से भिन्न है। वह भौमितिक रूप में द्विमिति ढर्रे की है। ऐसे भौमितिक आकार के चेहरे, पक्षी आदि शरीर रचना से ज़्यादा वास्तु रचना के समान लगते हैं। इस कारण उसमें मानवीय भाव अनुभव नहीं होते।

रवीन्द्रनाथ की कला कैलिग्राफ़ी से शुरू होती है। अतः उनकी सभी चित्र-शृँखलाओं के आकार - चाहे पक्षी हो, फूल-पत्ते हो या व्यक्तियों के चेहरे - सभी कैलिग्राफ़ीकल ढंग के हैं। उनमें कैलिग्राफ़ी के शब्द-रूप का

लोप होकर भी प्रत्येक आकार से उसका दृश्य-ग्राफ महसूस होता है। रवीन्द्रनाथ ने कलम को साधन के रूप में यहाँ भी कायम रखा है। यहाँ तक कि जलरंगों में भी। उन्होंने पहले प्रकृति-चित्रण या व्यक्तियों के चेहरे बनाए और बाद में पूरी तरह अमूर्त चित्र, परन्तु साधन के रूप में कलम का स्थान हमेशा बना रहा। इस कारण शैलियाँ, रंग, रूप, आकार आदि अलग-अलग होकर भी चित्रों की गठन एकसमान है। कलम की एक जैसी मोटी अखण्ड रेखा या खण्ड-खण्ड रेखाओं से बनी बुनावट कभी प्रिंट मेकिंग के 'एचिंग' की तरह लगती है तो कभी शिल्प खोदते समय छैनी के आघात से बनी बुनावट जैसी लगती है। संक्षेप में, ये रेखाएँ 'टूलमार्क' जैसी प्रतीत होती हैं। इससे चित्र की बुनावट अत्यन्त सजीव महसूस होती है।

रवीन्द्रनाथ के चित्रों में लगभग सभी ओर सजीव वस्तुओं का चित्रण है। पक्षी, पशु, फूल, मानवीय चेहरे अथवा प्रकृति-चित्रण आदि में समूह चित्रण शायद ही कभी आया है। समूह चित्रण में अवकाश, आकार आदि के परस्पर सम्बन्धों से एक 'कथन' तैयार होता है। समूह अथवा अवकाश चित्र में यह कथन न होने के कारण हम सीधे चित्र के रंग, रेखाएँ और आकार के भावजगत् में पहुँच जाते हैं और चित्र में कथन अथवा वर्णन के लिए अवसर नहीं रह जाता। इसीलिए मानवीय चेहरा, पशु, पक्षी आदि आकारों में एक ही 'मानवीय' भाव प्रकट होता है। यह भाव समान्यतः सम्भ्रम, प्रश्न, व्यथा आदि रूपों में दिखायी देता है।

रवीन्द्रनाथ के चित्रों में यथार्थ का कोई भी संकेत नहीं हैं। उनके प्रकृति चित्रण में भी यथार्थ दर्शन का अभाव पाया जाता है। उनके प्राकृतिक चित्रण विस्तृत नहीं बल्कि संक्षिप्त प्रतीत होते हैं। इस कारण आकार और रंगों की योजना आवश्यकतानुरूप ही की जाती है। साथ ही प्रकृति का विश्लेषण किये बिना ही उसमें एक चित्रसूत्र प्राप्त होता है, जो पक्षी, चेहरे आदि के चित्रण से सुसंगत होता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्राकृतिक चित्र अत्यन्त विशिष्ट होते हैं। चित्र के दृश्य में वे गहरे अँधियारे और बहुत ऊबड़-खाबड़ रूप में रंग भरते हैं। उससे दिखायी देनेवाला आकाश तेजस्वी रंगों की विभिन्न छटाओं से लैस होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाश योजना प्राकृतिक दृश्य के पीछे से ही की गयी है। कम से कम भारतीय कला में तो यह दिखायी नहीं देता कि किसी चित्रकार ने प्राकृतिक दृश्य में ऐसी योजना की हो। रंगों की तेजस्विता से रंगों की नहीं, आलोक की अनुभूति होती है। आलोक भी सामान्य नहीं, 'सन्ध्यालोक'। ऐसा सन्ध्यालोक और सामने अँधियारा दृश्य - इससे समूचे चित्र में रहस्यमयता आ जाती है। यूरोप के दृक्-प्रत्ययवादी चित्रकार प्रकाश के ब्यौरे का चित्रण अवश्य करते थे, परन्तु वस्तु से परावर्तित होनेवाले प्रकाश के ब्यौरे का। सम्भवतः जॉन टर्नर के बाद रवीन्द्रनाथ ही अकेले ऐसे चित्रकार हैं, जो अवकाश के आलोक में रंग भरते हैं। पेड़ों के आकार देखकर तो यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि रवीन्द्रनाथ प्रकृति का चित्रण उसे प्रकृति समझकर नहीं, बल्कि उसे अपना 'परिसर' समझकर करते थे। इसी कारण वह दृश्य केवल दृश्य नहीं रह जाता, क्योंकि उसके पीछे अपने भू-परिसर की तीव्र अनुभूति होती है।

अनजाने में शुरू हुई इस चित्रकला में मासूमियत हमेशा कायम रही। उसमें कोई पाण्डित्य, कौशल प्रदर्शन अथवा दर्शन का भार नहीं है। नन्दलाल बोस जैसे अत्यन्त प्रभावशाली और जाने-माने चित्रकार रवीन्द्रनाथ के सान्निध्य में थे, परन्तु रवीन्द्रनाथ पर उनका जरा भी प्रभाव नहीं है। उनसे पहले, गगेन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ जैसे प्रभावशाली चित्रकार उनके घर में ही थे, तब भी रवीन्द्रनाथ चित्रकला से अलिप्त रहे। सन् १९२२ में जर्मन चित्रकारों की एक प्रदर्शनी कलकत्ता में सम्पन्न हुई, जिसमें पॉल क्ले जैसे अत्यन्त प्रभावशाली चित्रकार सम्मिलित हुए थे। रवीन्द्रनाथ की चित्रकला तो इसके बाद शुरू हुई थी, इसलिए उन पर क्ले का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, परन्तु यहाँ भी रवीन्द्रनाथ स्वतन्त्र हैं।

जर्मनी, जापान और मध्य यूरोप आदि देशों के साथ बंगाल के कलाकारों, विचारकों ने सम्बन्ध बना रखे थे। उपनिवेशवाद का विरोध - यही इसके पीछे मुख्य उद्देश्य था। अतः इस बंगाल कला पर यूरोपीय कला का कोई प्रभाव नहीं है। इसकी तुलना में उन्होंने जर्मन अभिव्यक्तिवाद को अपनाया। बंगाल के चित्रकारों ने अपने चित्र जर्मनी में प्रदर्शित किये।

रवीन्द्रनाथ के चित्र 'बंगाल स्कूल' से भी अलग हैं। वे बंगाल स्कूल के चित्रकार नहीं हैं, बल्कि उनके चित्रों के कारण बंगाल स्कूल की परिसीमाएँ कला जगत् के सामने खुल गयीं।

कैलिग्राफ़ी से शुरू हुई रवीन्द्रनाथ की चित्र-प्रक्रिया पक्षी, फूल, पशु, चेहरे, प्रकृति से होते हुए ग्राफ़ तक आती दिखायी देती है। रवीन्द्रनाथ रेखांकन से पूर्व आड़ी-खड़ी रेखाओं का ग्राफ़ अपने हाथों से बनाते और उस बुनियाद पर अपनी आकृति की रचना करते। इससे उनके चित्रों को एक वास्तुरचना का सूत्र प्राप्त हो जाता है। ग्राफ़ के कारण लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई का बोध बना रहता है। इसी कारण उनके चित्र भौमितिक रूप में प्रकट हुए हैं।

कैलिग्राफ़ी और ग्राफ़ 'अमूर्त' रूप के लिए पूरक होते हैं। इस कारण रवीन्द्रनाथ के चित्रों में अमूर्त का सूत्र हमेशा बना रहा। भौमितिक शैली के चित्रों के बाद यह दिखायी देता है कि रवीन्द्रनाथ ने पूरी तरह से अमूर्त चित्र बनाये हैं। फिर भी मूर्त, अमूर्त, प्रकृति, व्यक्ति, वस्तु आदि में बिना कोई भेद किये वे अपनी संवेदनाएँ अंकित करते रहे।

उपनिवेशवाद के विरोध से उभरा 'स्वदेशी' पन के अहसास और आज़ादी के बाद उभरे 'भारतीयता' के आग्रह के कारण अपनी कला में भारतीय पुराण, अध्यात्म, दन्तकथाएँ, परम्परा, दर्शन आदि का समाहार कर राजा रविवर्मा, नन्दलाल बोस से लेकर सैयद हैदर रज़ा आदि चित्रकार अपनी कला भारतीय होने का दावा करते हैं। परन्तु उनकी कलाकृतियों के मात्र बाह्य सादृश्य अथवा शैली को ही भारतीय पहचान मिली है, भीतरी संवेदनाओं को नहीं।

रवीन्द्रनाथ ने यह प्रतिपादित किया है कि स्वदेशी या भारतीय विचार अथवा अपने काव्य, साहित्य, संगीत

आदि कलाओं का उनकी चित्रकला से कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि धर्म और कला में कोई सम्बन्ध नहीं होता और दोनों क्षेत्र स्वतन्त्र हैं। इस कारण रवीन्द्रनाथ के चित्र किसी भी बने-बनाये दर्शन या परम्परा का अनुमोदन नहीं करते, बल्कि अपनी भीतरी संवेदनाओं से उभरी और ठेठ देसीपन को बयान करनेवाली उत्कृष्ट कला की बानगियाँ पेश करते हैं।

३

रामकिंकर बैज

(१९०६-१९८०)

रामकिंकर बैज का जन्म बंगाल के बांकुरा गाँव में हुआ। बांकुरा पारम्परिक कारीगरों का गाँव है। यहाँ कुम्हार, सुतार, चित्तारी, मिट्टी के खिलौने, माँ दुर्गा की मूर्तियाँ बनानेवाले पारम्परिक कारीगरों की बस्तियाँ थीं। यहाँ के बांकुरा घोड़े तो सुविख्यात हैं। रामकिंकर इसी कारीगरी को घण्टों निहारता रहता और इसी कारण बचपन से उसमें इस कारीगरी के प्रति दिलचस्पी जग गयी।

बांकुरा गाँव भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में स्वदेशी आन्दोलन का केन्द्र था। महात्मा गाँधी ने स्वदेशी आन्दोलन तीव्र कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध 'असहयोग' की घोषणा की। रामानन्द चटर्जी इस आन्दोलन के नेता थे। वे भी बांकुरा केनिवासी थे। रामानन्द ने रामकिंकर के कुछ काम देखे थे। रामानन्द चटर्जी उसके कलागुण देखकर औपचारिक कलाशिक्षा के लिए उसे शान्तिनिकेतन ले गये। विशेष बात यह कि चित्रकार यामिनी रॉय भी बांकुरा इलाके से ही हैं। उन पर भी इसी कारीगरी का प्रभाव है। बाद में वे कलकत्ता गये।

रामकिंकर बैज सन १९२५ में शान्तिनिकेतन गये। रवीन्द्रनाथ को 'नोबेल' पुरस्कार इससे पूर्व ही प्राप्त हो चुका था। अतः शान्तिनिकेतन में संसार भर के चित्रकार, शिल्पी, कवि, विचारक आदि का जमावड़ा लगता था। अपने शैक्षिक दौर में ही रामकिंकर को इसका लाभ हुआ। उस समय कलाभवन में अध्ययन विषय के रूप में केवल चित्रकला थी, शिल्पकला नहीं। परन्तु रामकिंकर को बचपन से ही मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने का शौक था। यहाँ भी वे हमेशा मूर्तियाँ बनायाकरते। इस दरमियान मिस मिलवर्ड और मिस वॉन फिलपॉट जैसी विदेशी कलाकार शान्तिनिकेतन में आयीं। उनसे भी रामकिंकर ने कुछ शिल्पकला के गुर सीख लिए।

शान्तिनिकेतन के माहौल में रामकिंकर एकाकार हो गये। प्रकृति, ग्रामीण जीवन, संथाल आदिवासी, रवीन्द्रनाथ जैसे प्रतिभाशाली कलाकार का सान्निध्य, विनोद बिहारी जैसे सहयोगी और दुनिया भर के विचारकों और कलाकारों का जमावड़ा। रामकिंकर पहले से ही जिज्ञासु थे। इस कारण वे अनेकों से ज्ञान, विचार ग्रहण करते हुए अपनी कला में उनका प्रयोग करते रहते।

बंगाल के अन्य कलाकारों की तरह शुरू-शुरू में वे भी देवी-देवताओं या प्राचीन धार्मिक कथाओं के चित्र बनाते थे। परन्तु जब उनका वास्तविक कला से परिचय हुआ, तब उन्होंने यह सब छोड़कर मुक्त रूप से प्रकृति चित्रण करना आरम्भ किया। परन्तु प्रकृति चित्रण में उन्होंने प्रकृति को कभी अकेले या एकाकी रूप में चित्रित नहीं किया। उनकी दृष्टि से प्रकृति में मनुष्य की सहभागिता अहम थी। इस कारण वे प्रकृति के साथ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के सहजीवन को चित्रित करते रहे। रामकिंकर के चित्रों में प्रकृति का चित्रण इतनी उत्कटता से आता है कि पेड़, व्यक्ति, पशु अलग-अलग न लगकर एक दूसरे में समाहित ही नज़र आते हैं। इसमें यथार्थ को कोई अवसर नहीं होता। ये सारे तत्व उस चित्र में स्थूल प्रतिमा के रूप में ही आते रहते। उनका दृश्यरूप कभी नहीं बनता। जलरंगों का खुलकर इस्तेमाल, जिसमें एक आभासी पेड़, व्यक्ति का अस्तित्व, और अन्य रंग। कुछ मिलाकर उनके लिए चित्र महत्वपूर्ण होता, विषय या दृश्य नहीं। उनके ये चित्र काल्पनिक भी नहीं होते, बल्कि आसपास के परिवेश के, रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से भरे होते। रामकिंकर किसी दर्शन या विचार से नहीं, बल्कि जीवन से प्यार करनेवाले कलाकार थे। अतः उनके चित्रों में जीवन भी इसी तरह आता रहा। कोई भी दर्शन अथवा वैचारिक प्रस्तुतीकरण उनके चित्रों में दिखायी नहीं देता।

रामकिंकर के चित्रों का अधिकाअधिक अवकाश आसपास का जीवन, सन्थाल आदिवासी, किसान, ग़रीब मज़दूर आदि को समर्पित था। मेहनत करते ग़रीब मजदूर, खेत में खटते किसान, उनके देह की हरकतें, लय, गति - यही टीपने का उनका लगातार प्रयास होता। इस कारण वे अत्यन्त तेज़तर्रार से चित्र बनाने का प्रयास करते, और इस प्रयास में छोटा-मोटा ब्यौरा देना टाल जाते। इस कारण उनका कोई भी रेखांकन अथवा चित्र गतिशील ही महसूस होता। शिल्पकला के लिए इसी गति को उन्होंने महत्वपूर्ण माना है।

रामकिंकर की कला का सम्बन्ध यूरोप के दृक्-प्रत्ययवादी चित्रकार विन्सेंट वान गोग, पॉल सेज़ाँ, पॉल गोगाँ आदि की विचार-संवेदनाओं के साथ जोड़ा जा सकता है। विन्सेंट के चित्रों में भी यही किसान और मेहनतकश जीवन है। पॉल गोगाँ तो आदिवासी जीवन से ही एकाकार हो गया था। पॉल सेज़ाँ अपने प्रकृति चित्र में घनवादी तत्व की खोज करनेवाले चित्रकार हैं। इसके बावजूद विन्सेंट और सेज़ा को अमूर्तता के प्रति आकर्षण था। यह ध्यान में आते ही कि उनके मित्र जार्जेस सरा को अमूर्त का अहसास है, वे जार्जेस के चित्र कुतूहल से निहारते थे।

बाहरी शैली, माध्यम और तकनीक की बात छोड़ दें, तो रामकिंकर बैज को भी ऐसे अमूर्त के प्रति आकर्षण है। अमूर्त चित्रों से पूर्व के उनके कुछ चित्र ग़ौर करने योग्य हैं। पॉल सेज़ाँ की तरह किंकर ने भी प्रकृति को घनवादी रूप में चित्रित किया है। ऐसे घनवादी चित्रों को वे संरचनात्मक संयोजन कहते हैं। यानी सामने उपस्थित प्रकृति की संरचना, समूचा ढाँचा घनवादी रूप में चितारना। इसी से वे अमूर्तवाद की तरफ झुक गये। इस दौर में रवीन्द्रनाथ भी चित्र बना रहे थे। उनके चित्र भी अमूर्त ही थे। परन्तु रामकिंकर और रवीन्द्रनाथ का अमूर्त

तत्व पूरी तरह से अलग है। रवीन्द्रनाथ ने इस यूरोपीय कला को कभी गले नहीं लगाया, जबकि रामकिंकर के लिए यह एक यूरोपीय आदर्श था।

दृक्-प्रत्ययवाद का एकत्रित सार पिकासो के चित्रों में मिलता है। बाद में पिकासो ने विरूपीकरण को प्रधान सूत्र मानकर उसे घनवाद में रूपान्तरित किया। रामकिंकर घनवादी चित्र बनाते थे, परन्तु उनके चित्रों में विरूपीकरण बिल्कुल भी नज़र नहीं आता। घनवाद में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। एक कलाकार के रूप में रामकिंकर ने कभी वैज्ञानिक दृष्टिकोण को नहीं अपनाया। चित्र वे अपनी अन्तःप्रेरणा से बनाते थे। उनकी प्रेरणाएँ यानी उनका परिवेश, किसान, मज़दूर, प्रकृति और जीवन आदि का अखण्ड रूप। रामकिंकर के चित्र में प्रकाश, गहराई अथवा आकार को भी प्रमुखता नहीं है। उन सभी का अखण्ड रूप यानी संरचनात्मक रूप से महत्वपूर्ण है, जो अमूर्त का अंग है।

अमूर्तन घनवादी चित्रकारों से लेकर दृक्-प्रत्ययवादी चित्रकारों तक केन्द्रीय तत्व रहा है, जो पिकासो के बाद ही यूरोप में पूरी तरह से छा गया। रामकिंकर के काम में घनवाद और अमूर्तवाद समानान्तर ही दिखायी पड़ते हैं। पिकासो और रामकिंकर समकालीन थे। रामकिंकर में पिकासो के प्रति आकर्षण था। अतः पिकासो का उनपर सीधा प्रभाव है, जो उनके तैलचित्र में दिखायी देता है। रामकिंकर के तैलचित्र और जलरंगचित्र पूरी तरह से अलग हैं। तैलरंगों में जलरंगों की भाँति उत्स्फूर्तता नहीं है अथवा जलरंग में जो पीले और नीले रंगों का संयोजन प्रमुखता से पाया जाता है, वह तैलरंग में नजर नहीं आता। तैलरंग के चित्र भूरे रंग के और रचना प्रधान हैं।

रामकिंकर प्रकृति से बुद्धिवादी नहीं, बल्कि तीव्र संवेदनाशील है। उनका यह व्यक्तित्व चित्रों की अपेक्षा उनके शिल्पों में अधिक मुखर हो उठता है। दो एक अपवाद छोड़ दें तो उनके शिल्प न तो घनवादी हैं और न ही उसपर किसी समकालीन शिल्पकला का स्पष्ट प्रभाव है। उनकी शिल्पकला बांकुरा कला से प्रभावित ठेठ देसी कला है।

यद्यपि रामकिंकर बुद्धिवादी नहीं हैं, परन्तु उनका व्यक्तित्व किसी आदिवासी कलाकार की भाँति तीव्र निष्ठावान है। इसी कारण उनके शिल्प आदिम शिल्पकला से रिश्ता जोड़ते हैं और मातृदेवता अथवा सिन्धु संस्कृति के प्राणियों के आकारवाले खिलौनों से समानता दर्शाते हैं। उनके शिल्प ऐसे उत्कट हैं, मानो एलोरा, खजुराहो, कोणार्क की शिल्प-संस्कृति के वंशज हो। रामकिंकर अपने शिल्प के बारे में स्पष्टीकरण देते हैं, 'मैं उसका चित्र बनाता हूँ जो मैं दिन में जीवन की वाटिका में देखता हूँ और जो अन्धकार में महसूस करता हूँ उसका शिल्प बनाता हूँ।' (सेल्फ पोट्रेट, पृ. ६१)

चित्रों की अपेक्षा रामकिंकर के शिल्प अधिक स्वाभाविक हैं। इसी कारण वे इस अभिजात्य परम्परा से जुड़ जाते हैं। रामकिंकर और पिकासो एक ही दौर के कलाकार हैं।उनकी सामाजिक-राजनैतिक परिस्थिति भी एक

जैसी थी। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप में हिंसा फैली थी। भारत में भी अँग्रेज़ों के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन की घोषणा की गयी थी। यद्यपि यह आन्दोलन शान्तिपूर्ण था, पर संघर्ष तो था ही। पिकासो के घनवाद के पीछे दृक्-प्रत्ययवाद की बड़ी परम्परा थी। नवजागरणवादी आन्दोलन का इतिहास रामकिंकर ने अस्वीकार किया, फिर भी उनकी चित्रकला पर रवीन्द्रनाथ की सम्पूर्ण प्रतिभा का प्रभाव था। पिकासो का झुकाव घनवाद से अमूर्त की तरफ था। रवीन्द्रनाथ द्वारा किया गया अमूर्तन का स्वीकार रामकिंकर के लिए पूरक बन गया और उनके लिए भी अमूर्तन के जरिए अभिव्यक्ति का माहौल अनुकूल हो गया।

घनाकार की लय रामकिंकर को मिल गयी थी। हाथ के मिट्टी के लोंदे को यथासम्भव आकार देते-देते रामकिंकर छोटे-छोटे शिल्प बनाते। उनकी अमूर्तवादी शिल्पकला की शुरूआत 'An organic form' ही से आयी। बाद में इन्हीं आकारों से उन्हें अलग-अलग आकारों का आभास होता गया और वे अभिव्यक्त होते गये। Female Figure, Mother and Child, Couple, Mithun आदि शिल्प-शृँखलाओं से उनका अमूर्तवाद प्रारम्भ होकर आखिर में उन्होंने 'दीपस्तम्भ' शिल्प बनाया। 'दीपस्तम्भ' (The Lamp Stand, 1940) भारत का पहला अमूर्त शिल्प है। घनवाद के बाद उत्तर घनवाद के दौर में यूरोप में अमूर्त कला का प्रारम्भ हुआ। घनवाद के दौर में ही रवीन्द्रनाथ और रामकिंकर बैज ने अपने अमूर्तवादी चित्र-शिल्पों की रचना की।

रामकिंकर बैज अथवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी कला में विषय, शैली, माध्यम, यथार्थवाद अथवा अमूर्तवाद आदि दृष्टियों से भेद नहीं किया। वे अपनी संवेदना के आधार पर शुद्ध कलात्मक रचना करते रहे।

भारत में वास्तुशिल्प की महान परम्परा है। इस परम्परा के अनुसार ही रामकिंकर ने अपने भव्य शिल्प का प्रारम्भ किया। उनका दीवार पर बनाया गया 'सरस्वती' शिल्प अथवा रवीन्द्रनाथ के निवासस्थान की दीवार पर बनाया गया 'शामली' शिल्प उनकी इस शिल्पकला का आगाज़ था। इन शिल्पों पर ग़ौर करते ही यह ध्यान में आता है कि यहीं से रामकिंकर के शिल्पों के व्यक्ति का आधार 'सन्थाल' स्त्री-पुरुषों की काठी बन गये थे।

सामान्यतः शिल्पी पत्थर, चट्टान और लकड़ी आदि माध्यमों में खोदकर शिल्प बनाते हैं। परन्तु रामकिंकर ने खोदकर नहीं बल्कि मॉडेलिंग अर्थात् रचकर बनाये हैं। निर्माण कार्य की सामग्री ही मिट्टी, सीमेण्ट, रेती वगैरह होती है। इस कारण रामकिंकर शिल्प के लिए इसी माध्यम का इस्तेमाल करते थे। परिणामतः उनकी शिल्परचना किसी निर्माण कार्य जैसी होती थी। रामकिंकर ने लकड़ी अथवा चट्टान में बहुत कम शिल्प बनाये हैं। ऐसे शिल्प स्वभावतः भव्य ही होते हैं, परन्तु खुली जगह में ही ऐसा कार्य सम्भव होता था।

रामकिंकर ने शान्तिनिकेतन परिसर में ही भव्य शिल्पों का प्रारम्भ किया था। सन्थाल परिवार, दीपस्तम्भ, मिल कॉल, सुजाता, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी जैसे उनके शिल्पों की एक शृँखला ही बन गयी थी। सन्थाल परिवार अथवा मिल कॉल का 'शिल्पखण्ड' अखण्ड चट्टान में खोदने जैसा लगता है। स्त्री-पुरुष, बच्चे, कुत्ते आदि के साथ बेसब्री से चक्की अथवा हाट की तरफ बढ़ रहा सन्थाल परिवार बेघर विस्थापितों जैसा लगता है। चाल

की गति की तुलना में ज़्यादा आगे बढ़ रही देह, विपरीत दिशा में मुड़ा चेहरा, नज़र आदि से रफ़्तार के साथ-साथ फ़ासले का भी अहसास होता है। देहाकृति मज़बूत और खुरदरी, परन्तु चेहरे पर मुस्कान और तृप्ति का भाव। रामकिंकर के शिल्प की स्त्रियाँ लावण्यमयी या शृँगारिक नहीं, बल्कि सशक्त और सख़्त लगती हैं। छोटी-बड़ी आकृतियों में हो रही हरकतों के कारण सम्पूर्ण शिल्प गतिशील और सजीव लगता है। शिल्प के व्यक्तियों के आकार सामान्यतः एक दूसरे से समान्तर हैं। इससे वे एक दूसरे के बिम्ब-प्रतिबिम्ब ही प्रतीत होते हैं। सबसे अहम् बात, शिल्प में हवा का अहसास! शिल्प की गति, हरकत और उसका आगे झुकना आदि से हवा का दबाव महसूस होता है।

रामकिंकर बैज चित्रकार एवं शिल्पी हैं, परन्तु संसार ने उनके शिल्पों को न केवल अपनाया, बल्कि उन्हें भारतीय शिल्प-परम्परा का अभिजात्य अंग भी माना। रामकिंकर की तरह पिकासो भी चित्रकार एवं शिल्पी था। पिकासो के चित्रों के प्रभाव को रामकिंकर स्वीकार करते हैं, परन्तु पिकासो शिल्प के बारे में उनके विचार अच्छे नहीं थे। रामकिंकर कहते हैं, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पिकासो मुझे प्रिय हैं। उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। पर उनके शिल्प थोथे हैं।' (सेल्फ पोट्रेट, पृ. २७)

पिकासो अपनी चित्रकला के प्रति जितना सजग था, उतना शिल्पकला के प्रति नहीं। शिल्पकला में वह मनमौज़ी था। अपनी ज़िन्दगी में भी वह काफ़ी बेफ़िक्र प्रकृति का दिखायी देता है और यह प्रवृत्ति उसकी शिल्पकला में भी उतरी है। इसी कारण रामकिंकर बैज को उनकी शिल्पकला विशेष नहीं लगती। दरअसल, रामकिंकर की यह टिप्पणी अत्यन्त जिम्मेदार है। पिकासो पर की गयी उनकी इस टिप्पणी को तत्कालीन शिल्पकला की उनकी प्रतिनिधि आलोचना ही कहना होगा। रामकिंकर के समकालीनों में उनके मुकाबले का एक भी भारतीय शिल्पकार नज़र नहीं आता। इस कारण विश्व स्तर पर रोदा, हेनरी मूर के बाद रामकिंकर बैज के अलावा कोई ग़ौर करने लायक शिल्पकार का नाम सामने नहीं आता।

४

अमृता शेरगिल

(१९१३-१९४१)

दृक्-प्रत्ययवाद और घनवाद का दौर विश्व कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण दौर है। आँखों को होनेवाली अनुभूति, उसका सन्दर्भ और अर्थ खोजने का वह प्रयास था। विन्सेंट वान गोग, पॉल गोगाँ, पॉल सेज़ाँ, जार्ज सूरे इनमें मुख्य चित्रकार थे। अलग-अलग आयामों से प्रकृति का, वस्तु का सामने का हिस्सा, उसके पीछे की गतिविधियाँ आदि की कारण-मीमांसा करना उनका मुख्य उद्देश्य था। खड़ी वस्तु को चीरता जाता छाया-प्रकाश, इससे उत्पन्न होनेवाली ज्यॉमितियाँ, सभी आकारों के मूल में काम करनेवाले मूलाकार, ध्वनि प्रकाश तरंगों से बनती है या कण-कण से इस तरह के अलग-अलग अनुमानों को सिद्ध करते हुए ये चित्रकार अपने चित्र बनाते थे।

इसी दौर में छाया-चित्रण (कैमरा) की सुविधा प्राप्त हुई और दृक्-प्रत्यय को तकनीकी रूप से एक विशेष दिशा मिल गयी। त्रिमिति का आभास करानेवाला यह द्विमितिक रूप, गति और हरकतों से बननेवाली प्रतिमाएँ, विलम्बित प्रतिमाएँ, उनके एकत्रित रूपान्तर का दृश्यरूप एक विरूपीकरण में परावर्तित हुआ। इस तरह अनेक ज्याँमितियों को अपनी परिधि में समेटकर ही बहुमिति की अनुभूति करानेवाला 'घनवाद' बन गया। पाब्लो पिकासो घनवाद का सफल चित्रकार है।

पानी के भीतर रखी छड़ टेढ़ी क्यों नज़र आती है? इसकी अनुभूति 'विरूप' में क्यों होती है? इन सवालों के जवाब भौतिक विज्ञान देता है, धर्म नहीं। विरूप अथवा अरूप भौतिक रूप के ही अंग हैं। इसी से अमूर्तन प्राप्त होता है। दृक्-प्रत्ययवादी चित्रकारों को अमूर्तन के प्रति ही आसक्ति थी। परन्तु घनवाद के भौतिक, वैज्ञानिक विश्लेषण से ही अमूर्तन की अनुभूति होती है। अमूर्त यानी मूर्त का विरोध नहीं, बल्कि भौतिक की ही रूपानुभूति है।

दृक्-प्रत्ययवाद और घनवाद तक के उथल-पुथल के दौर में अमृता शेरगिल यूरोप में थी। उसका जन्म सन १९१३ में बुडापेस्ट हंगरी में हुआ। उसकी शिक्षा भी यूरोप में ही सम्पन्न हुई। बाद में सन १९३४ में वह भारत आयी। माँ हंगेरियन और पिता भारतीय, इस तरह यूरोपीय और भारतीयता की विरासत अमृता शेरगिल को जन्म के साथ ही प्राप्त हुई।

भारतीय जीवन और संस्कृति के प्रति अमृता को विशेष आकर्षण था। भारत आते ही उसने देश भर में भ्रमण शुरू किया। उसने एलोरा-अजन्ता, दक्षिण के भित्तीचित्र, पहाड़ी लघुचित्र, राजपूत, मुग़ल लघुचित्र, मोहेनजोदड़ो, हडप्पा, कुशाण शिल्प, गुप्तकालीन कला और भारतीय समकालीन कला का बाक़ायदा अध्ययन किया। पिकासो, ब्राक़, मातिस की समकालीन अमृता ने वान गोग, गोगाँ के कलाविषयक विचार आत्मसात किये थे। इस कारण उसमें कला के प्रति सूक्ष्म एवं गहरी समझ आयी थी। इस दृष्टिकोण से भारतीय कला का मूल्यांकन करते समय उसने तीखी और स्पष्ट प्रतिक्रियाएँ दी हैं।

अजन्ता और भारतीय लघुचित्र परम्परा पर आधारित पुनरुत्थानवादी आन्दोलन और उससे निर्मित 'बंगाल स्कूल' और 'बॉम्बे स्कूल' आदि शैलियाँ भारत में स्थापित हो गयीं। परन्तु अजन्ता और लघुचित्र की अमृता की समझ अलग थी।

राजा रविवर्मा से लेकर भारत के कुछ प्रमुख चित्रकारों के चित्रों की प्रदर्शनी दक्षिण के त्रावणकोर में आयोजित की गयी थी। इस 'मॉडर्न इण्डियन आर्ट' प्रदर्शनी के बारे में अमृता शेरगिल कार्ल खण्डालवाला को लिखती है, 'Without exaggeration or rather underestimation, there was only one picture in the whole collection that could be called good - a small portrait by Jamini Roy, even Nandlal Bose were hopeless. I really never thought that Nandlal Bose was so erratic. Consins seems

to have a special faculty for picking out the worst.' (कार्ल को पत्र, १९३७)

इसी दरमियान 'बॉम्बे स्कूल' की एक प्रदर्शनी के बारे में वह लिखती है, 'I got our review of the exhibition to commenmorate the service of Gladstone Soloman. To say that you have been 'Most Temperate' and quite generous is to put it very mildly. I persued the catalogue carefully looking at the picture at great length with the object of imprinting indelibly on my mind 'how not to paint!' I have seldom seen such a profile collection of inmitigated rubbish. Compared to the best specimens of it, the worst examples of Bangal School are work of genius.' (कार्ल को पत्र, १९३७)

कला की बुनियाद पर खड़ी यह भारतीय कला निराधार होकर अलंकरण में फँस गयी थी। भारत आते ही अमृता में भारतीय जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ। यहाँ की ग्रामीण जीवन पद्धति, ग़रीब मेहनतकश लोग, उनका काला-साँवला वर्ण, उनका लिबास आदि देखकर उसे अहसास हुआ कि ऊपर से चाहे यह जीवन गन्दगीभरा लगता है, परन्तु इसके भीतर एक सौन्दर्य की आभा विद्यमान है। यहीं से उसकी यूरोपीय पद्धति की चित्रकला पूरी तरह से बदल गयी और इस भारतीय जीवन तथा अजन्ता जैसी यहाँ की परम्पराओं को पचाकर वह अपनी निर्मिति करने लगी। अमृता शेरगिल उद्विग्न होकर भारतीय कला पर केवल टिप्पणी नहीं कर रही थी, बल्कि भारत भर में अपने चित्रों की प्रदर्शनी भी लगा रही थी। भारतीय चित्रकारों ने भी बिना किसी प्रतिवाद के उसके चित्रों को स्वीकार किया और उसके मार्ग का अनुसरण करने लगे। अमृता शेरगिल के बहाने भारतीय कला में उथल-पुथल मच गयी। परन्तु इसी से भारतीय चित्रकारों को अपने 'भारतीयत्व' का अहसास हुआ। अमृता से भी वरिष्ठ चित्रकार के.के. हेब्बार और एन. एस. बेन्द्रे अमृता से प्रभावित हुए। उस दौर के युवा चित्रकार एम. एफ. हुसैन सिनेमा के बैनर बनाते थे। उन्होंने अमृता शेरगिल के चित्रों की नकल उतारते-उतारते चित्रकला सीख ली और अमृता के कारण कला क्षेत्र में आया तूफ़ान हुसैन के माध्यम से भारतीय चित्रकला में बढ़ता ही गया।

धार्मिक-पौराणिक कथाएँ, रोमांटिक कल्पनाएँ, अलंकरण की प्रवृत्ति के स्थान पर ठेठ वास्तविक जीवन के चित्र भारतीय कला में आने लगे। अमृता शेरगिल और रामकिंकर बैज दोनों समकालीन हैं। खास बात यह कि ग्रामीण जीवन, मेहनतकश किसान - यही दोनों की निर्मिति के केन्द्र थे। उनकी रचनाओं में शुद्ध देसी संवेदनाएँ इस प्रकार प्रकट होती हैं, मानो एलोरा-अजन्ता की सांस्कृतिक विरासत पर दावा करती हो। अमृता के चित्र और रामकिंकर के शिल्पों का यह दौर स्वतन्त्रतापूर्व का दौर है। यही वह समय है, जब भारतीय कला को सही मायने में यथार्थ जीवन का आधार प्राप्त हुआ था।

पॉल गोगाँ तथा भारतीय चित्रकारों में प्रकृति चित्रण अनिवार्य रूप पाया जाता है। अमृता शेरगिल के चित्र दोनों परम्पराओं से अलग हैं। उसके चित्रों में प्रकृति अथवा प्रकृति चित्रण के स्थान पर सीधे-सीधे व्यक्ति आते

हैं। विषय अथवा विषय के साथ आनेवाले परिसर का ब्यौरा भी चित्रों में अत्यन्त कम है। इसी कारण विषय भी अन्य ब्यौरे के साथ न आकर व्यक्ति की भावमुद्रा में ही प्रकट होता है।

चित्रों में रंग भरने की अमृता की पद्धति यूरोपीय थी। अपनी पद्धति में वह काल्पनिक ढंग से आकार नहीं बनाती थी, बल्कि सामने के चित्र के अनुरूप व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को 'मॉडेल' के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसका चित्ररूप कैनवास पर अंकित करती थी। फिर भी कैनवास के चित्र यथार्थ यानी, छाया-प्रकाश के अनुरूप न होकर यथार्थ की प्रतिमा के रूप में आते। चित्र पूरा होने के बाद उसे उलटा कर यानी ऊपर का हिस्सा नीचे कर उसके रंग-संयोजन का परिष्कार किया जाता, और तब वह चित्र सही मायने में दृश्यानुभव कर पाता। चित्र में अंकित व्यक्ति परस्पर संवाद करते हुए नहीं दिखते, बल्कि ऐसा आभास होता है कि वे 'आत्मनिवेदन' कर रहे हों।

चित्र में असमान कद वाले पर एक दूसरे के समान्तर खड़े व्यक्ति, अपने पहनावे के कारण, एक जैसी बनी शारीरिक गठन, अंगों में हरकत न होने से लय का अभाव, पहनावे की अनिवार्य तहें आदि के जरिए सम्पूर्ण व्यक्ति समूह एक 'मानवीय आकार का परिवार' अथवा स्थिर चित्रण जैसा स्तब्ध प्रतीत होता है। मथुरा शैली का कनिष्क के पुतले अथवा स्तब्ध खड़े बुद्ध के शिल्प का प्रभाव अमृता के चित्रण पर हुआ है।

चित्र में यद्यपि प्रकृति का अभाव है, फिर भी व्यक्ति के पहनावे से वह सम्बन्धित परिवेश से जुड़ा प्रतीत होता है। अतः चित्र का व्यक्ति मात्र व्यक्ति नहीं रह जाता, बल्कि सम्बन्धित भू-भाग का नागरिक बन जाता है। अपने परिवेश, प्रकृति, समाज, राति-रिवाज़, परम्पराएँ आदि को पचाकर ही नागरिकों की जीवनशैली बनती है। अमृता के चित्र ऐसे ही अलग-अलग भूभाग यानी शिमला, दक्षिण भारत, गोरखपुर, पंजाब, लाहौर, हंगरी आदि परिवेशों के हैं। यह परिवेश वहाँ की प्रकृति के कारण नहीं, बल्कि सम्बन्धित व्यक्ति का रंग-रूप और पहनावे से ही मालूम पड़ता है। शिमला और दक्षिण भारत की प्रकृति बड़ी सुन्दर है, तथापि अमृता को प्रकृति से ज़्यादा इन्सानों में दिलचस्पी है।

नागरिक अपनी भूमि से इतना एकाकार होते हैं कि अन्य परिवेश के लोग अलग और बाहरी प्रतीत होते हैं। अमृता के चित्र में व्यक्ति इसी तरह भौगोलिक संस्कृति के साथ आते हैं। इस कारण, चाहे प्रकृति अलग न हो, फिर भी वह नागरिकों के द्वारा अभिव्यक्त होती रहती है। समाजशास्त्र, इतिहास आदि का चित्रकला से सम्बन्ध हम जानते हैं, परन्तु नागरिकशास्त्र और चित्रकला का सम्बन्ध भारतीय कला में पहली बार अमृता के चित्रों में ही दिखायी देता है।

अमृता के चित्रों के विषय यथार्थ जीवन से उठाए गये हैं,परन्तु उनमें अंकित व्यक्ति पारम्परिक होते हैं और रंग काल्पनिक। रंगों की तीव्रता और अनेक रंगों की संयोजना के चलते विषय की अपेक्षा रंगों के कारण

ही चित्र अधिक प्रभावशाली बनते हैं। पूरे चित्र में रंग ही मुख्य होता है। इसी कारण अमृता के चित्र दो स्तरों पर बनते हैं। चित्र का विषय ग़रीबी, दुख आदि होता है, परन्तु इसके रंग विषय-आशय के साथ नहीं आते, बल्कि उनका अपना अस्तित्व स्वतन्त्र होता है।

अपने चित्रों के बारे में अमृता कहती है, 'I am personally tring to be, through the medium of line, colour, and design, an interpreter of life of the poor and sad, But I approach the problem on the more abstract plane of the purely 'Pictorial'. *(Amrita Sher-Gil, Geeta Kapur, pg. 42)*

रामकिंकर बैज के चित्र और शिल्पों का विषय भी ग़रीब, दुखी, मेहनतकश किसान ही था,परन्तु उनके शिल्प-चित्र जीने की मस्ती, जीवन के अहसास से भरे और ग़रीबी में भी सन्तोषपूर्ण जीवन जीने की गति और लय आदि को वहन करने में समर्थ थे। इसी से रामकिंकर की इस धारणा का पता चलता है कि दरिद्रता में भी सौन्दर्य होता है या ऊपर से गन्दा दिखनेवाला जीवन भीतर से सुन्दर हो सकता है। इसी कारण वे अपने चित्रों के बारे में कहते हैं, 'मेरे चित्र जीवन की वाटिका है'। अमृता को दरिद्रता के असली सौन्दर्य का अहसास नहीं था। क्योंकि उसके चित्र में लोगों के चेहरे हमेशा निराश, दुखी होते हैं और रंग इसके विपरीत होते हैं -उत्तेजक और तेजस्वी।

अमृता के चित्रों के व्यक्ति स्तब्ध और स्थिर होने के कारण वे 'फोटो फार्म' जैसे लगते हैं। चित्र के ये इंसान किसी आलंकारिक आकारों या किसी विशिष्ट शैली के नहीं बल्कि यथार्थ के सुलभीकरण जैसे लगते हैं। आकार का सुलभीकरण और रंगों की वरीयता के कारण चित्र अमूर्तन की ओर झुके हुए हैं।

अमृता शेरगिल का भारत आना भारतीय कला में परिवर्तन का कारण बना। अमृता के कारण भारतीय कला में दो दौर स्पष्ट दिखायी देते हैं - अमृता से पहले की भारतीय कला और अमृता के बाद की भारतीय कला। कला के लिए मानवीय आकार-इस भारतीय परम्परा को बदलकर अमृता शेरगिल ने -मानवीय जीवन के लिए कला-यह नया सूत्र दिया। यह परिवर्तन पारम्परिकता की पुनर्रचना है। यानी आधुनिकता का प्रारम्भ है। इसीलिए अमृता शेरगिल आधुनिक भारतीय कला की मुख्य चित्रकार बन जाती है।

५

मक़बूल फ़िदा हुसैन

(१९१५-२०११)

अमृता शेरगिल के कारण भारतीय कला पूरी तरह से बदल गयी। ब्रिटिश यथार्थवाद का विरोध करते हुए स्वदेशी की प्रेरणा से भारतीय परम्परा का पुनरुत्थान करनेवाला आन्दोलन भी अमृता के कारण फ़ीका पड़ गया।

इस दौर में अजन्ता, लघुचित्र, वैदिक दर्शन, पुराण, संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र आदि बिन्दुओं को जोड़नेवाला भारतीय कला का एक मानचित्र ही तैयार हो गया था। भारतीय कलाकारों पर बस यही धुन सवार थी कि भारतीय परम्परा का कोई एक लक्षण अपनी कला में आ जाए। ऐसे बाह्य लक्षणों के कारण कला में कृत्रिमता, तार्किकता और रोमंटिकता आती है, जिसे उतार फेंककर अमृता की कला ने भारतीय जीवन, ग्रामीण यथार्थ को केन्द्र बिन्दु बनाया था। अमृता शेरगिल की कला की इस तीव्र संवेदना की आँच को आनेवाली पीढ़ियों के चित्रकार वहन नहीं कर पाये। इसी कारण अमृता के बाद नये कलाकारों पीढ़ी तैयार हुई ही नहीं।

अमृता शेरगिल से प्रभावित के. के. हेब्बार, एन. एस. बेन्द्रे आदि चित्रकार अत्यन्त मासूमियत से ग्रामीण जीवन, लोकजीवन जैसे विषयों पर काम कर रहे थे। परन्तु उनकी कला में अमृता की कला जैसी जान नहीं थी। अमृता से ही प्रभावित युवा चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसैन ने अमृता के चित्रों की नकल उतारते-उतारते उनका अध्ययन किया और अपनी चित्रकारिता शुरू की। मक़बूल फ़िदा हुसैन उस दौर में सिनेमा के बैनर बनाते थे। अमृता के प्रभाव की अपेक्षा अमृता के चित्रों से प्रेरणा लेकर उन्होंने अपनी निर्मिति शुरू की।

आजीविका के लिए इन्दौर से मुम्बई आये हुसैन खिलौने बनाना, सिनेमा के बैनर और पोस्टर बनाना जैसे काम करते थे। एक तरह से यह चित्रकला का दिहाड़ी मज़दूर बनना ही था। उनके पिता का पत्तर के दीए, ढिबरी, लालटेन बनाना, छातों की मरम्मत आदि काम करना व्यवसाय था। बचपन में जिस कारीगरी को हुसैन ने बड़ी जिज्ञासा से देखा था, वही कारीगरी मुम्बई में खिलौने बनाने में उनके काम आयी।

अमृता शेरगिल के चित्र देखकर हुसैन ने पेंटिंग शुरू की। उसी दौर में चित्रकार फ्राँसिस न्यूटन सूज़ा से उनका परिचय हुआ। सूज़ा के कारण हुसैन का कला और कलाक्षेत्र से परिचय हुआ और वे पूरी तरह से कला में ही रम गये।

भारतीय स्वतन्त्रता के बाद स्वदेशी का विचार पीछे छूटता गया और देशभर में वामपन्थी विचारों की लहर फैल गयी। कला और साहित्य में भी इस प्रगतिशील विचार से अनेक परिवर्तन हुए। नाटक क्षेत्र के लोगों ने 'इप्टा' नाम से संगठन स्थापित किया। साहित्य के क्षेत्र में भी 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थापित हुआ। 'प्रोग्रेसिव' नाम से कुछ चित्रकारों ने एक ग्रुप बनाया। फ्राँसिस न्यूटन सूज़ा कम्युनिस्ट आन्दोलन के समर्पित कार्यकर्त्ता थे। उन्होंने ने ही कुछ चित्रकार और शिल्पकारों को जोड़कर यह ग्रुप बनाया था।

मक़बूल फ़िदा हुसैन भी इस समूह के सदस्य थे। सूज़ा, के. एच. आरा, बाकरे, गाडे, रज़ा और हुसैन। सतह से ऊपर उठे कलाकार में हमारे सामने ऐसा आदमी खड़ा होता है, जो ग़रीबी से अथवा ग्रामीण, आदिवासी समुदाय से आया हो। परन्तु हुसैन एक ऐसा चित्रकार है जो कला की बुनियादी कारीगरी से ऊपर आया है। इसी कारण उसमें कला और तकनीक का अलग अहसास है। खिलौने बनाने से लेकर सिनेमा बनाने का तकनीक और सिनेमा का बैनर बनाने से लेकर पेंटिंग कला का हुनर हुसैन में एक जैसा था। इन सभी कलाओं की

अहमियत हुसैन के लिए एक जैसी थी।

प्रोग्रेसिव ग्रुप औपचारिक ही था। उसके चित्रकारों का एक दूसरे की कला से, विचारों से कोई मेल नहीं था। उनमें हुसैन और आरा का अपवाद छोड़ दें, तो बाकी सभी कलाकार यूरोप चले गये और वहीं बस गये। उस दौर के अत्यन्त महत्वपूर्ण कला समीक्षक मुल्कराज आनन्द और निस्सिम एज़िकल हुसैन और आरा को 'दख्खिनी कलाकार' के रूप में सम्बोधित करते थे क्योंकि ये दोनों दक्षिण भारत से मुम्बई में आये थे। दक्खिनी गुण और व्यक्तित्व हुसैन में विशेष रूप से था। दक्खिनी होने के कारण ही हुसैन में हिन्दू-मुसलमानों की साझा संस्कृति और धर्म के अहसास का समाहार था। हुसैन की प्रकृति, जीवन शैली किसी सूफी औलिया जैसी ही थी।

कुछ ही अवधि में प्रोग्रेसिव ग्रुप समाप्त हो गया। उसके लगभग सभी कलाकार यूरोप जाकर बस गये। परन्तु हुसैन ने भारत को नहीं छोड़ा। उन्होंने भारत भर में भ्रमण करते हुए भारतीय शिल्प, वास्तु संस्कृति का अवलोकन शुरू किया। अमृता शेरगिल में जो जिज्ञासा थी, वही हुसैन में दिखायी देती है। हुसैन पर गुप्तकालीन शिल्प का प्रभाव इसी दौर में पड़ा। भारतीय सिनेमा, कला, पुराण, परम्परा, मिथक के प्रति हुसैन आकर्षित थे। राममनोहर लोहिया के विचारों से भी वे प्रभावित थे। इसी प्रभाव से उन्होंने रामायण के दृश्यों पर सैकड़ों चित्र बनाये। बाद में भी उनकी महाभारत आदि पर अनेक चित्र-शृँखलाएँ जारी रहीं।

रामायण, महाभारत, एलोरा, अजन्ता, कालिदास, ग़ालिब, उर्दू काव्य, मिथक वगैरह सभी का समाहार हुसैन की कलाशैली में है। शैली यानी निर्मिति सूत्र। सबका साझा सूत्र यानी प्रतीकवाद। हुसैन के बिल्कुल आरम्भिक चित्रों से लेकर अन्तिम चित्रों तक यह प्रतीकवाद दिखायी देता है। चित्र में बार बार आनेवाले घोड़े, हाथी, बाघ, कमल, मानवीय देह की मुद्राएँ - सारी चिह्न-व्यवस्था हुसैन के चित्रों के विशेष अंग हैं। मानवीय देह की गठन हमेशा गुप्तकालीन शिल्प, खजुराहो तथा कोणार्क की याद दिलाती है।

हुसैन के कई चित्र आत्मचरित्रात्मक हैं। क्योंकि बचपन से उन पर असर करनेवाली आसपास की वस्तुएँ चित्र में प्रतीक-चिह्न की तरह आती हैं। ढिबरी, साइकिल, दिया जैसी सामान्य लगनेवाली बातें चित्र में गहरी भाव संवेदना भर देती हैं। Between the spider and the lamp, 1958 चित्र इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है।

हुसैन जब इन्दौर में रहते थे, तब होलकर रियासत के घोड़े, मुहर्रम में जुलूस के 'डुल डुल' घोड़े अथवा प्रतिमाएँ उनके मन पर हमेशा के लिए अंकित हो गयी थी। इसी से प्रेरित होकर हुसैन ने घोड़े के चित्रों की शृँखला बनायी। घोड़ों के अलग-अलग आवेगों से लैस इस चित्र-शृँखला के कारण हुसैन के चित्र पिकासो के चित्रों-से लगते। क्योंकि पिकासो के 'गुअरनिका' चित्र में भी आवेगपूर्ण घोड़े का चित्रण है। इसी कारण सभी ने यह मान लिया कि हुसैन पर पिकासो का प्रभाव है। दरअसल, हुसैन ने घनवादी पद्धति के चित्र कभी नहीं बनाये, परन्तु आकृति साधर्म्य के कारण सभी ने उन पर यह प्रभाव मढ़ दिया गया।

चित्र में लोक प्रतीक और लोक प्रतिमाओं का इस्तेमाल होने के कारण हुसैन जनमानस में लोकप्रिय थे। इसमें उनकी रहन-सहन की शैली का भी योगदान था। हर विषय, माध्यम में हुसैन खुद को आसानी से अभिव्यक्त कर पाते थे और इसी कारण वे किसी लोक कलाकार की भाँति सहज थे। उनके चित्रों की रेखाएँ और रंग लोककला की ही देन हैं, जिसके कारण वे लोकाभिरूचि को स्पर्श करते थे। सिनेमा के बैनर आम तौर पर सिनेमा थिएटर, बाज़ार, मेला आदि जगहों पर लगते थे जहाँ लोकसमूह होता, हुसैन का काफ़ी समय वहीं बैनर बनाने में बीत जाता। भड़कीले रंग, साफ़ और स्पष्ट रेखा, गतिशील रंग-संयोजन आदि बैनर की आवश्यकताएँ होती हैं। इसी से ठोक-पीटकर हुसैन में रेखा, रंग और संयोजन की समझ आयी थी। एक अर्थ में यह लोककला का हिस्सा था, जो कि हुसैन के चित्रों की खासियत है। लोककला के इसी प्रभाव के कारण अनेक समीक्षकों को हुसैन और जामिनी रॉय के बीच आन्तरिक साम्य नज़र आता है। परन्तु पिकासो और जामिनी रॉय का हुसैन पर कोई प्रभाव नहीं है। कुछ साम्य स्वभावतः है। यदि हुसैन पर किसी का प्रभाव है तो वह है भारतीय प्रतीकवाद का। इसी प्रभाव के कारण हुसैन अन्य किसी भी कलाकार की तुलना में अधिक भारतीय प्रतीत होते हैं।

महाराष्ट्र के पंढरपुर में जन्म और बचपन बीता, इन्दौर में होलकर मराठा रियासत में। बाद में मुम्बई आने पर सिनेमा और सिनेमा बैनर के बहाने प्रभात सिनेमा के ठेठ मराठीपन के प्रभाव में रहे। इसी कारण हुसैन को भारतीय नहीं, बल्कि 'महाराष्ट्रीय' या 'दक्खिनी' कलाकार कहना ज़्यादा सही होगा। उनकी 'गजगामिनी' फ़िल्म में भी यही बात प्रतीकात्मक ढंग से नज़र आती है। 'पंढरपुर से निकली लड़की'-मुम्बइया बोली का यह वर्णन यानी उनकी 'गजगामिनी' की नायिका का पंढरपुर से निकलना और बनारस पहुँचना है। उनकी 'गजगामिनी' का रूप यानी नौ गजी साड़ी, सिर पर गठरी और पैरों में पैंजनी। अपनी काले रंग की साड़ी से तो वह अबीर रंग की यानी प्रतीकात्मक रुक्मिणी ही लगती है। इस तरह हुसैन अन्तर्बाह्य एक दक्खिनी कलाकार है।

मक़बूल फ़िदा हुसैन लोकमानस में एकाकार हो चुके थे और अपनी समकालीन घटनाओं की चित्रात्मक प्रतिक्रियाएँ तुरन्त देते थे। लातुर-सास्तुर का भूकंप हो, बाबरी मस्जिद गिरा देने की घटना हो अथवा इन्दिरा गाँधी की हत्या हो, हुसैन उन पर चित्र-शृँखला बनाकर अपनी तीखी प्रतिक्रिया देते थे। इसमें प्रतीकों का इस्तेमाल होने के कारण वे चित्र केवल प्रसंग अथवा वर्तमान प्रतीत नहीं होते, बल्कि उनमें नाटकीयता आ जाती। प्रतीकों के प्रयोग से उनके चित्र भावाभाव की रहस्यपूर्ण रचना लगते हैं, जो उनकी 'मदर टेरेसा' चित्र-शृँखला में नज़र आता है। चित्र में मदर टेरेसा कहीं भी शारीरिक रूप में विद्यमान नहीं है, परन्तु केवल उचित प्रतीकों के कारण ही हम यह जान पाते हैं कि चित्र मदर टेरेसा का है।

हुसैन के चित्र में आयीं स्त्री प्रतिमाएँ उथली और आकर्षक कभी नहीं रहीं, वे सदैव आदर-युक्त देवी के रूप में ही आयीं। मदर टेरेसा और गजगामिनी में यह प्रतिमा खास तौर से नज़र आती है। हुसैन बचपन में ही अनाथ हो गये थे। ऐसा लगता है कि अपनी माँ को कभी देख न पाए इसलिए हुसैन सभी स्त्रियों में अपनी

माँ को ही ढूँढ़ते हैं। उन्होंने अपने भीतर के इस कारुण्य को अन्त तक बनाए रखा है। यही कारुण्य उनका और उनकी चित्रनिर्मिति का प्रेरणास्रोत था। उनके नंगे पैरों के कारण यह और भी ज़्यादा तीव्रता से महसूस होता है।

हुसैन की सम्पूर्ण चित्रकला पर भारतीय काव्य परम्परा का गहरा प्रभाव है। चाहे घोड़ों की शृँखला हो या गजगामिनी, सभी में यह काव्यात्मकता नज़र आती है। उसमें भी ग़ालिब या कालिदास, कालिदास की काव्य प्रतिमा, प्रतीक तो हुसैन की प्रतीक शैली के लिए प्रेरक ही हैं।

हुसैन को अन्य कलाओं में भी दिलचस्पी थी। संगीत, नाटक, काव्य, मिथक आदि को तो उन्होंने अपने चित्रों का विषय ही बनाया ही था, परन्तु मराठी के 'घाशीराम कोतवाल' नाटक पर भी उन्होंने एक चित्रशृँखला प्रदर्शित की थी। समाज का कोई भी विषय हो, रेखा और रंग विशिष्ट हुसैन शैली के होने के कारण उनका साधारण विषय भी कलात्मक बन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि कला का अपना कोई दर्शन नहीं होता। वह स्वतन्त्र होती है। हुसैन ने अनेक माध्यमों, तकनीकों में काम किया है, परन्तु अमूर्त होने का प्रयास उन्होंने कभी नहीं किया। अमृता शेरगिल, रामकिंकर बैज, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि का प्रयोजन अमूर्तीकरण होता था। हुसैन के बाद के कलाकारों की धारणा है कि अमूर्त ही 'विशुद्ध' कला है। असल चीज़ है, रंग, रेखा और आकार के जरिए अभिव्यक्त होना। हुसैन के रंग और रेखा में इतना सामर्थ्य था कि एक मामूली-सी रेखा से भी पता चल जाता था कि वह हुसैन की है। इस कारण अमूर्त के लिए कुछ और करने की उन्हें ज़रूरत ही नहीं थी। हुसैन ने किसी शैली, वाद या किसी भी प्रकृति से ख़ुद को नहीं जोड़ा। उनका लक्ष्य सामाजिक और सांस्कृतिक होता था। इसमें कलाएँ, परम्पराएँ, इतिहास आदि को अलग-अलग रूप में देखने की आवश्यकता ही नहीं होती। इसी कारण भारत की लोक-संवेदनाएँ जहाँ केन्द्रित हैं, वहीं हुसैन की दिलचस्पी होती थी। फिर चाहे बनारस हो या हैदराबाद हो; हिन्दी, मराठी, उर्दू हो या रामायण, महाभारत या मदर टेरेसा हो। हुसैन सम्भवतः भारत के एकमात्र चित्रकार हैं, जिनमें लोक संवेदनाओं के प्रति सम्मान का भाव है। हुसैन की सही आलोचना करना या उनके बारे में तर्क करना आलोचकों और रसिकों के लिए भी कभी सम्भव नहीं हुआ। इसी कारण हुसैन के बारे में विवाद होते रहे, परन्तु हुसैन ने कभी उनका प्रतिवाद नहीं किया।

श्वेताम्बरी 'इन्स्टालेशन' हो या 'गजगामिनी' का विवाद हो। 'गजगामिनी' के विवाद की परिणति यह हुई कि उनकी 'मीनाक्षी' फ़िल्म प्रदर्शित नहीं होने दी गयी। 'श्वेताम्बरी' प्रदर्शित करने पर जहाँगीर आर्ट गैलरी ने उनपर पाबन्दी ही लगा दी। लगता है, हुसैन की प्रतीकात्मक शैली कभी-कभी दुर्बोध बन जाती है और इसी कारण उसे ग़लत अर्थ में लिया जाता है।

दरअसल, 'श्वेताम्बरी' एक सुन्दर कलाकृति थी। जैन मत के दिगम्बर और श्वेताम्बर के सन्दर्भ में श्वेताम्बरी का अर्थ लगाने से पूरे प्रदर्शन का आशय स्पष्ट हो जाता है। अत्यन्त सादगी भरा प्रदर्शन - पूरी गैलरी में लय की दृष्टि से मात्र सफेद कपड़ा और ज़मीन पर अख़बार के कागज़ के टुकड़े। परन्तु उसका भाव, अनुभूति

श्वेताम्बर साध्वियों तक जा पहुँचती है। नंगे पैर चलने का अहसास हो, इसलिए कागज़ का इस्तेमाल। संवेदना का मामला दर्शकों की अनुभूति पर सौंपा हुआ। परन्तु हमेशा से ज़रा हटकर अनुभव प्राप्त करना यहाँ के रसिकों के लिए असम्भव था। ऊपर से हमेशा की तरह प्रतीकात्मक रचना और हुसैन का नज़ाकत भरा आत्मचित्रण।

प्रतीकात्मकता इस देश की विशेषता है। रामायण, महाभारत, एलोरा, अजन्ता आदि आभिजात्य कलाएँ, साहित्य और अनेक देसी परम्पराएँ प्रतीक रूप में ही तो अभिव्यक्त होती हैं! हुसैन ने ऐसी ही लोकसंवेदनाएँ, व्यक्तिगत अहसास, गंगा, यमुना, सरस्वती, बनारस, पंढरपुर जैसी अमूर्त संवेदनाएँ और छाता, दिये, घोड़े जैसी मूर्त संवेदनाओं को प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त किया। लोक परम्परा से लेकर आभिजात्य परम्परा तक का विशाल फलक हुसैन का विषय था। भौतिक परम्परा की तुलना में काव्यशास्त्र, कला-परम्परा को हुसैन ने ज़्यादा तरज़ीह दी। इसी कारण भारतीय अथवा स्वदेशी की बजाय वे देश के ठेठ 'देसी' चित्रकार अधिक लगते हैं।

उनकी प्रतीकात्मकता का लोगों ने ग़लत अर्थ लगाया। इस कारण उनका व्यक्तिगत जीवन हमेशा विवादों से भरा रहा। आखिरकार, अपना ही देश त्यागने के लिए उन्हें विवश होना पड़ा और अन्त में करुण स्थिति में विदेश में ही उनका निधन हो गया।

६

वासुदेव गायतोण्डे

(१९२४-२००१)

आज़ादी पूर्व स्वदेशी आन्दोलन भारतीय परम्परा के अनुसरण के साथ-साथ औद्योगिकीकरण का विरोध भी करता था। मशीनी उत्पादन की बजाय मानव निर्मित उत्पादन के प्रति उसका आग्रह अधिक हुआ करता था। संक्षेप में, स्वदेशी आन्दोलन को भारतीय कारीगरी परम्परा से जोड़ने का यह प्रयास था क्योंकि भारत की अनेक कारीगरी परम्पराओं से यहाँ की आभिजात्य कलाओं का जन्म हुआ है।

भारतीय आभिजात्य साहित्य का जन्म भी मौखिक साहित्य परम्परा से हुआ है। इसी प्रकार कारीगरी परम्परा यहाँ के आभिजात्य वास्तुशिल्प का मूलाधार था। इस कारीगरी को ही राजाश्रय प्राप्त हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उन्नत कारीगरी के अनेक नमूने यहाँ दिखायी देते हैं। भारतीय परम्परा में कला और कारीगरी में अन्तर नहीं था।

कारीगरी में एक लघु-विज्ञान, उसकी एक अंगभूत तकनीक होती है। साहुल लटकाकर भूमि से ९० डिग्री का कोण बनाते या परत पर परत चढ़ाते समय कारीगर को भूमिति के साथ-साथ गुरुत्वाकर्षण का भी ज्ञान होता है। मिट्टी के लोंदे को आकार देने के लिए गति शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता होती है। धागों की बुनाई में विशिष्ट तनाव से बुनाई मज़बूत बनती है। अतः इस भूमिति और गति का अहसास, तनाव, गुरुत्वाकर्षण आदि भीतरी

विज्ञान का बोध कारीगर को होता है।

इस निर्मिति निरन्तरता के कारण ही कारीगर निर्मिति में एकाकार हो जाता है। दरअसल, कारीगर के मन में निर्मिति का एक 'मॉडेल' पहले से बसा होता है। इसी मॉडेल के द्वारा उसकी कल्पित संवेदनाएँ आकार धारण करती हैं। कल्पना और संवेदना से निर्मित यह वस्तु या वस्तुकला ही कारीगरी अथवा कलाकृति होती है। लौकिक वस्तु में कुछ अलौकिक गुणों का नज़र आना 'दर्शन' की अनुभूति है। इसीलिए कारीगरी और भक्ति दोनों समान्तर परम्पराएँ हैं।

संक्षेप में, भारतीय परम्परा के लिए अमूर्तन की अवधारणा नयी नहीं है। इसका अहसास इस कारीगरी की तकनीक, विज्ञान और अध्यात्म से हो जाता है। विज्ञान-अध्यात्म का अहसास अमूर्त ही होता है। ऐसे मूर्त-अमूर्त, सगुण-निर्गुण, द्वैत-अद्वैत की परम्परा मौखिक साहित्य और कारीगरी में एकसमान है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद औद्योगिकीकरण को अत्यधिक महत्व प्राप्त हुआ। भौतिक आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए सभी क्षेत्रों में औद्योगिकीकरण में वृद्धि हुई, जिससे उत्पादन क्षमता बढ़ गयी। औद्योगिकीकरण में निर्मिति चाहे मशीनी हो, परन्तु वहाँ भी कारीगरी की तकनीक का उपयोग किया गया। इसीलिए कारीगरी और औद्योगिकीकरण में कुछ बुनियादी बातें एक समान हैं। अतः औद्योगिकीकरण से कला भी प्रभावित हुई है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में स्थापित 'बाऊहाऊस' कला और औद्योगिकीकरण में मेल करानेवाली कलासंस्था थी। कुल मिलाकर विश्वयुद्ध के दौर का घनवाद और उसके बाद 'बाऊहाऊस' की औद्योगिक कला के कारण विश्वभर की कला में भौमितिक आकार का प्राबल्य बढ़ गया। पिकासो के चित्र में घनवादी शैली के साथ-साथ अफ्रीकी आदिवासी शिल्प का भी प्रभाव है। ये शिल्प प्राकृतिक होकर भी स्वभावतः भौमितिक आकार में थे। इस तरह आदिम और आधुनिकता के मेल के कारण ही पिकासो एक आभिजात्य चित्रकार बनता है।

भौमितिक आकार एक अमूर्तन की ही स्थिति है। इसलिए भौमितिक आकार की कला क्रमशः अमूर्तन में ही उपलब्ध होती है। वैश्विक कला के साथ-साथ भारत में भी भौमितिक आकार का अनुसरण किया गया। भारत के कलाकार उसका एक शैली के रूप में प्रयोग करते थे। यहाँ के परम्परागत विषय और भौमितिक शैली के कारण यहाँ की आलंकारिक शैली को भौमितिक शैली के रूप में तुरन्त एक विकल्प मिल गया और आलंकारिक शैली का पूरी तरह से ह्रास हुआ।

भारतीय कला के इस परिवर्तन में चित्रकार वासुदेव गायतोण्डे ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उन्होंने अलंकार शैली से हटकर भौमितिक शैली में काम शुरू किया। बाद में वे पूर्णतः अमूर्तवादी बन गये। वासुदेव गायतोण्डे ने जर्मन चित्रकार पॉल क्ले के चित्रों का अध्ययन करने के उपरान्त भौमितिक शैली अपनायी थी। पॉल क्ले 'थियोसोफ़िक' विचारधारा के थे। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आध्यात्मिक विचार- यही उसका स्वरूप है। यह विचारधारा भारतीय कारीगर परम्परा के समान होने के कारण गायतोण्डे को भी यह अपनी लगी होगी। व्यक्तिगत

रूप से भी गायतोण्डे आध्यात्मिक प्रकृति के थे।

गायतोण्डे चिन्तक भी थे, जो अपने स्टूडियो के बाहर समुद्र के किनारे घण्टों विचारों में डूबे रहते। नज़रों के सामने बस समुद्र और ऊपर आकाश - तरल प्रकृति के अलावा सामने झाड़-झंखाड़ों की जड़वादी प्रकृति भी नहीं। ऐसी तरल प्राकृतिक निरन्तरता से भौमितिक आकार के चित्र शिथिल होकर पूरी तरह से बदल गये और प्रकृति सामने के रूप में अनिवार्यतः रूपान्तरित होकर चित्र की शैली बदल गयी। 'फार्मलेस' यानी चित्र ने निराकार रूप धारण कर लिया। भूरे रंग का आकाश, भूरे रंग का समुद्र, बीच में धुँधला-सा क्षितिज, उसे काटनेवाली कुछ रेखाएँ। आकाश और समुद्र के एकत्रित अवकाश का यह 'पिक्टोरियल' भी निगुण-निराकार।

वासुदेव गायतोण्डे ये चित्र देखकर ब्रिटिश चित्रकार जॉन टर्नर (1775-1851) की याद आती है। टर्नर ने अपनी अधिकांश ज़िन्दगी समुद्र के किनारे बैठकर चित्र बनाने में ही व्यतीत की। समुद्र और आकाश - यही टर्नर के चिन्तन का विषय था। बाद में गति के प्रति भी उसे आकर्षण हुआ। समुद्र में आकाश का प्रतिबिम्ब, आकाश की रंगछटाएँ और उसी की पुनरावृत्ति क्षितिज पर! टर्नर को आकाश और समुद्र के बीच की रंगछटाओं के प्रति आकर्षण था। न्यूटन ने प्रकाश का पृथक्करण कर रंगों का अस्तित्व प्रमाणित किया था। प्रिज़्म से प्रकाश का पृथक्करण करने पर जो सात रंग आये, वे इन्द्रधनुष जैसे ही थे। यही है अवकाश का रंगशास्त्र। टर्नर के चित्रों का ऐसा ही विश्लेषण जॉन रस्किन (१८९१-१९००) ने किया है। रस्किन को इस प्रकृति चित्र में भी रंगशास्त्र मिल गया। न्यूटन के विश्लेषण की तुलना में इस रंगशास्त्र का पृथक्करण अलग था। इस रंगक्रम में पहला रंग पीला था। न्यूटन के रंगक्रम में लाल रंग पहले आता है। अवकाश का रंग और सतह का रंग क्रम बदल देता है। सतह द्विमिति की होती है। रंगों की इस मिति का बोध टर्नर के चित्रों का एक सिद्धान्त भी था।

गायतोण्डे केवल 'रूप' चाहते थे। सम्भवतः भौतिक रूपाकार के उस पार अवकाश में आकार ढूँढ़ने का उनका प्रयास था। आकाश-समुद्र टर्नर का 'मॉडल' था और गायतोण्डे का भी। खोज का अहसास अलग। यानि दर्पण ही दर्पण में देख रहा है। वासुदेव गायतोण्डे के विश्लेषण का प्रयास करे तो सन्त ज्ञानेश्वर के 'अमृतानुभव' ग्रन्थ की याद हो आती है। टर्नर, गायतोण्डे, न्यूटन, गैलिलियो, ज्ञानेश्वर आदि के आयामों से सिद्धान्त का और अनुमानों से अमूर्तन का अहसास होता है।

वासुदेव गायतोण्डे चित्र में ज़रा-सी भी हरकत नहीं चाहते थे। उन्हें रंगों का भी आकर्षण नहीं था। आकाश और रंग को पृथक कर निरभ्र निर्गुण आकाश और उसके प्रतिबिम्ब के साथ समुद्र। मानो दर्पण ही दर्पण में अपना रूप देखे। इसी कारण उनके चित्र भूरे रंग के हैं। टर्नर और वासुदेव गायतोण्डे के इन निराकार चित्र को देखकर और उनका विश्लेषण करने पर हम न्यूटन, गैलिलियो और ज्ञानेश्वर के विज्ञान और आध्यात्मिक विचारों तक पहुँच जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि विज्ञान और अध्यात्म के स्वभाव में अमूर्तता है।

गैलिलियो और न्यूटन ने जिस प्रकार भौतिक वस्तुओं के जरिए ये आविष्कार किये हैं, उसी प्रकार भौतिक

कारीगरी में भी ऐसी अमूर्त संवेदनाएँ हैं।

वासुदेव गायतोण्डे जब रंगों का विचार करते हैं, उनके रंग-संयोजन में ऐसा ही तरल अहसास होता है। किसी विषय वस्तु से वे रंग नहीं लेते, बल्कि रंग 'मात्र रंग' के रूप में उनका आविष्कार होता है। गायतोण्डे का चित्र में रंग भरना एक क्रिया नहीं, बल्कि वह एक प्रक्रिया है ठीक वैसी, जिस प्रकार प्रकृति में रंग अथवा रंग परिवर्तन की प्रक्रिया है। नारंगी, हरा अथवा पीला बनकर ही पत्ता पेड़ से झरता है। अथवा हरे रंग पर लाल फूल विरोधी रंग का होकर भी सुन्दर दिखता है। इस तरह यह एक भीतरी रंग-प्रक्रिया है। इसी कारण गायतोण्डे अपने चित्र में रंग और रंग लेपन की प्रक्रिया करते हैं। इसके लिए उन्होंने स्वतन्त्र तकनीक को नये सिरे से ढूँढ़ा है।

गायतोण्डे जब रंगों का अध्ययन या रंगों का अनुभव करते, तब चित्र की पुस्तक को उल्टा घुमाकर देखते। विशेषतः लघुचित्र की पुस्तक को। चित्र को उल्टा घुमाने से विषय-वस्तु के अनुसरण से आये रंग अपने आप ही स्वतन्त्र हो जाते हैं। गायतोण्डे को यह रंगानुभव स्वतन्त्र रूप से लेना होता है। गायतोण्डे की यह तकनीक बिल्कुल अमृता शेरगिल के चित्र देखने के ढंग से जा मिलती है। अमृता भी चित्र पूरा होने के बाद उसे उल्टा कर यानी ऊपर का हिस्सा नीचे कर देखा करती। फिर कुछ रंगों में बदलाव करने के बाद ही उसका चित्र पूरा हो जाता। गायतोण्डे इन रंगों की ओर विषय-वस्तु अथवा रंग-संयोजन के रूप में नहीं बल्कि 'कलर स्ट्रक्चर' की दृष्टि से देखते। इसी कारण गायतोण्डे के चित्रों के रंग, रंग नहीं लगते, बल्कि उस कलावस्तु की त्वचा लगते हैं।

रंग-संयोजन प्रक्रिया से गायतोण्डे के चित्र में आकारों की उपलब्धि होने लगती है। ये आकार यानी अलग अलग रंगों के अंग ही हैं। वे आकारों को अलग से बनाकर रंग नहीं भरते थे, बल्कि रंग-विभाजन में जो रूप बनेगा, वही उनके चित्र का आकार बन जाता था। यानी गायतोण्डे अपने चित्र में ही आकार की खोज करते थे। मानो आकार अवकाश से ही खोद निकाला हो। अवकाश से ही आकार ग्रहण करने के कारण उस आकार का अपना अस्थिशास्त्र बनता है। इसीलिए इस आकार में उल्टे-सीधे, ऊपरी-निचले पहलू नहीं हैं। ऐसे पहलू का अहसास भौतिक वस्तु में है। इन आकारों को दिशा का बोध है। दिशाएँ अवकाश की ही मितियाँ हैं। इन मितियों में ही आकार होने के कारण वे अमूर्त लगती हैं। ऐसे कई आकारों के समूह सजातीय, विजातीय, परस्पर आकर्षण में आने से उनमें तनाव, सन्तुलन, लय बनती है। इस संयोजित रचना से सम्पूर्ण चित्र में एक सांगीतिक लय उत्पन्न होती है।

गायतोण्डे के चित्र में बुनावट एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू है। यह बुनावट सच्छिद्र त्वचा जैसी सम्पूर्ण चित्र में होती है। इस कारण सम्पूर्ण चित्र में धड़कन का अहसास होता है। इस धड़कन के कारण चित्र सजीव होने का आभास देता है। त्वचा, रंग और स्पर्श को अलग नहीं कर सकते। साथ ही गायतोण्डे के चित्र यह भी अनुभूति

कराते हैं कि उनके रंग, आकार, बुनावट अलग नहीं हैं।

वासुदेव गायतोण्डे की चित्र निर्मिति में खड़ा मध्य माना हुआ होता है। बाद में आकार, रंग, बुनावट की रचना से सम्पूर्ण चित्र सन्तुलित अथवा विसन्तुलित रूप में पूर्ण होता है। गायतोण्डे की यह रचना वनस्पतिशास्त्रीय लगती है। कोई भी वनस्पति जब ऊपर की ओर बढ़ती है, तब उसकी शाखा का विस्तार सन्तुलित या विसन्तुलित रचना में ही होता है।

लेखन में हुई ग़लतियों की काटापीटी के कारण बने आकारों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को आशय मिलता था, उसी प्रकार गायतोण्डे भी कुछ अंकन करते थे। यह अंकन यानी प्रत्यक्ष वर्ण नहीं थे, परन्तु वर्णों के अवयव के रूप में इस्तेमाल होनेवाली मात्राएँ, छोटे-बड़े इकार, उकार जैसे आकारों की क्रमबद्ध रचना होते थे। यह रचना ऐसी सुलझी हुई होती थी कि इस कारण वह 'वर्णमाला की सारणी' ही लगती। बाद में गायतोण्डे के ये लिपि जैसे आकार अलग-अलग मोड़ों, लयों से अलग रूप धारण करते और आखिरकार वासुदेव गायतोण्डे के चित्र 'ज़ेन' मुनि के चित्रों जैसे लगने लगते। दरअसल, 'ज़ेन' जापान का एक दार्शनिक सम्प्रदाय है। ये लोग कैलिग्राफ़िक विधि से साधना करते थे। गायतोण्डे के ये चित्र उस रूप के साथ मेल खाते हैं।

कुल मिलाकर भारतीय अमूर्तता और पश्चिमी अमूर्तता, दोनों में दृष्टिकोण का अन्तर है। यद्यपि उसकी 'पिक्टोरियल भाषा' एक है, फिर भी पश्चिमी अमूर्त कला विज्ञाननिष्ठ होने के कारण उसका एक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण है। भारतीय अमूर्तता अध्यात्मनिष्ठ और असीम है। वासुदेव गायतोण्डे के चित्र भी इस तरह सैद्धान्तिक न होकर 'असीम' हैं।

भारतीय संस्कृति पूर्वजन्म पर विश्वास करती है। अतः इस अवधारणा से जिस तरह अनेक मिथक, कथा, पुराणों की रचना हुई है, उसी तरह चित्र, शिल्प और वास्तु की भी रचना हुई है। मिस्र की संस्कृति से लेकर सिन्धु संस्कृति तक इसके अवशेष मौजूद हैं। विश्व की आदिवासी कलाएँ भी कुछ ऐसी ही विधि अवधारणा से जन्मी हैं। भारतीय आदिवासी कलाएँ विधिचिह्नों के प्रतीकों से तैयार हुई हैं। मध्य प्रदेश की पहाड़ी-कोरवा जनजाति लोगों की धारणा है कि उनके पूर्वज भूमि पर कुछ लिखावट के चिह्न, निशान बनाकर अपने रिश्तेदारों से मरणोत्तर संवाद करते थे। परन्तु बिना किसी वर्ण के भी समान वर्ण, आकार की रचना होती है। यानी वर्णों की काटा-पीटी से रवीन्द्रनाथ ठाकुर में आया आकार का बोध अथवा वर्ण सादृश्य आकारों की गायतोण्डे द्वारा की गयी खोज या आदिवासियों की पुरातन परम्परा से आयी विधि का वर्ण रूप, आदि के चित्रण की परम्परा एक ही है। इसीलिए चाहे अमूर्त हो या भौमितिक हो, या फिर इस तरह वर्णमाला लिपि रूप की संरचना हो - एक ऐसी विशाल परम्परा है जो आदिमता और आधुनिकता को जोड़ती है। आज के समकालीन रूप में वासुदेव गायतोण्डे की कला इसी परम्परा को प्रवाहित रखती है।

७

जगदीश स्वामीनाथन

(१९२८-१९९४)

Along the highways of history they stand with their spells
But I am impervious to their charms
For I have no guilty knowledge of the past…
As my time unfolds, it lives its self and the millenniums
Where the accidental becomes the logical to delineate the image.
There is no progress for there is no tradition.
I stand where the first man stood.
Alone facing the terrors of my age.

(J. Swaminathan Contemporanity, Me in CONTRA 66)

प्रत्येक कला का अपना परिवेश होता ही है। हर कला पर सम्बन्धित परिसर के निशान स्वभावतः अंकित हो जाते हैं। घटित हो चुका इतिहास फिर से भूगोल पर अंकित निशानों में जीवित रहता है। इसी प्रक्रिया से परम्परा से परिचय होता है। इतिहास जैसे-जैसे पीछे की ओर जाता है, वैसे-वैसे ये निशान धुँधले होते-होते नष्ट हो जाते हैं। परन्तु कुछ पुराणकथाएँ, कथाएँ और मिट्टी में दबी वस्तुओं से इतिहास के इतिहास का बोध हो ही जाता है।

सबकुछ ज़मीन पर ही घटित होता हो, ऐसा भी नहीं है। अन्तरिक्ष के ग्रह, तारे, नक्षत्र आदि का भी असर यहाँ के जीवन पर होता है। भूगोल और खगोलशास्त्र दोनों परस्पर नियन्त्रित होते हैं। इसी से भारतीय गणितशास्त्र की कुछ शाखाएँ और भारतीय मिथकों की रचना हुई है। भूगोल और भौगोलिक वस्तु की मिति से उपजी भूमिति और अन्तरिक्ष के ग्रह, तारे, नक्षत्र आदि की ऊर्जा से तैयार होनेवाली अन्तरिक्ष की मितियाँ संरचना की दृष्टि से एक समान हैं। भौतिक वस्तु से उत्पन्न भूमिति मूर्त रूप में होती है और अन्तरिक्ष की मिति अमूर्त रूप में।

पृथ्वी के भीतर की गुरुत्व शक्ति और पृथ्वी के अक्षांश-रेखांश का न्यूनाधिक दबाव, नक्षत्र-तारों की गतिविधियाँ, उनकी ऊर्जा आदि के कारण सम्पूर्ण सृष्टि में कुछ रहस्यमयी घटनाएँ घटित होती हैं। इस रहस्य को खोजने का प्रयास प्राचीन काल से हो रहा है। हमारी परम्परा के अनेक सम्प्रदाय अपने-अपने ढंग यह खोजबीन कर रहे हैं। वैदिक परम्परा और उसे नकारनेवाली अनेक नास्तिक परम्पराओं का अपने-अपने ढंग से अर्थ लगाकर उन्होंने सृष्टि-रचना शास्त्र पर विचार किया है।

भारतीय परम्परा में जटिल और रहस्यवादी प्रकृति की तन्त्र-परम्परा का महत्वपूर्ण स्थान है। यह परम्परा प्रस्थापित वैदिक परम्परा को नकारती है। वैदिक परम्परा के लिए जो बातें त्याज्य हैं, उन्हीं का अनुसरण करनेवाला

हठयोग, शिवशक्ति, प्रकृति और पुरुष, लिंगपूजा, कुछ मन्त्र-तन्त्र, साधना, योग आदि इस परम्परा के प्रमुख लक्षण हैं।

आदिवासी, वैदिक, द्राविड़ी, राक्षसी, पिशाची, तान्त्रिक आदि परम्पराएँ एक ही भारतीय परम्परा की उपपरम्पराओं से उत्क्रान्त हुई हैं। अतः उन्हें पूरी तरह से अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए भारतीय परम्परा की वास्तुएँ, शिल्प, चित्र आदि में इन सारी परम्पराओं के सांस्कृतिक द्रव्य मिले हुए हैं। फिर भी अध्ययनोपरान्त कुछ अन्तर दिखायी देता है।

शिवशक्ति और प्रकृति-पुरुष की अवधारणा से आया शिवलिंग शिल्प, नटराज, वास्तु-रचना के जन्तर-मन्तर, काली, कालभैरव, ताण्डव आदि इसी तान्त्रिक परम्परा से आये हैं। खजुराहो, कोणार्क और अनेक हिन्दू मन्दिरों में स्थित मैथुन शिल्प भी सम्भवतः इसी लिंगपूजा का हिस्सा होंगे। भारत के आधुनिक चित्रकार खुद को परम्परा से जोड़ते-जोड़ते कुछ मिश्रित परम्पराओं से भी जुड़ गये हैं। कुछ चित्रकारों ने उसमें से किसी एक ही परम्परा पर अलग से विचार किया है। आधुनिक कला में तान्त्रिक परम्परा से जुड़नेवाले भारतीय चित्रकारों की तान्त्रिक आर्ट नामक एक शैली विकसित हुई, जिससे कुछ तान्त्रिक चित्रकारों का दल भी बन गया। के. सी. एस. पणिक्कर, जी. आर. सन्तोष, बिरेन डे, प्रफुल्ल महन्त आदि ने खुद को साफ़-साफ़ तान्त्रिक परम्परा से जोड़ लिया, जबकि एस. एच. रज़ा, जयराम पटेल, प्रभाकर बरवे और अनीश कपूर की कला में भी तान्त्रिक आयाम दिखायी देता है।

आदिवासियों में तान्त्रिक परम्परा मिश्रित रूप में है। यह बात आदिवासी चित्रों के खोजकर्ता भास्कर कुलकर्णी और आदिवासी लोगों में से एकाकार हुए चित्रकार जे. स्वामीनाथन के विचारों और क्रियाकलापों में साफ़-साफ़ दिखायी देती है।

स्वाधीनता के बाद देश में कम्युनिस्ट विचारों की एक नयी लहर आयी। बुद्धिजीवी वर्ग और अनेक कलाकार तथा लेखक इससे प्रभावित हुए। चित्तोप्रसाद भट्टाचार्य, एफ़. एन. सूज़ा और जे. स्वामीनाथन आदि चित्रकार तो पूर्णतः इसी विचार-आन्दोलन में सक्रिय थे। इसलिए स्वामीनाथन के इस दौर के चित्र सामान्यतः मज़दूर, मेहनतकश और कुछ राजनैतिक विषयों से प्रेरित थे। इस दौर के चित्र चित्तोप्रसाद भट्टाचार्य के चित्रों की तरह थे। एक समविचारी चित्रकार के रूप में यह स्वाभाविक भी है।

जे. स्वामीनाथन मात्र पारम्परिक चित्रकार नहीं थे। अपने तीव्र अनुभवों के कारण उनके चित्रों में ही नहीं, बल्कि उनके जीने की शैली में भी बदलाव आया था। अतः उनकी जीने की शैली बदलते ही उनके चित्रों की शैली भी बदल जाती थी। कई बार ये शैलियाँ परस्पर विरोधी बन गयी हैं। इसी कारण स्वामीनाथन की कलायात्रा एक सीधी रेखा की तरह नहीं है। उसमें साफ़-साफ़ बदलाव देखे जा सकते हैं।

किसी बाह्य विचार की अपेक्षा अनुभव पर ही विश्वास करनेवाले स्वामीनाथन आन्दोलन से अलग हो गये और उन्होंने अपना पूरा समय चित्रकला पर केन्द्रित किया। परन्तु पारम्परिक चित्रकार के रूप में नहीं। अनुभव का अन्वय चित्र में अंकित करने के लिए एक ही परिवेश में विचरण करना आवश्यक होता है। परन्तु स्वामीनाथन के विचरण का एक ही विशिष्ट परिवेश नहीं था। भारत भर में भ्रमण करनेवाले स्वामीनाथन के चित्र में इसी कारण अलग-अलग परिवेश का ब्यौरा आता गया।

पहाड़, पेड़, पक्षी आदि स्वामीनाथन के चित्र के अनिवार्य तत्व हैं। उन्होंने हमेशा इसी प्रतिमा से अलग-अलग रचनाएँ की हैं। रचना की विशिष्टता से उनका आशय बदलता रहा है। तत्व को बरकरार रखकर भी आशय बदलने का कारनामा तब होता है, जब अन्वय का पूर्ण बोध हो। अन्वय स्वामीनाथन का विशेष गुण था।

दरअसल, पहाड़, पेड़ अथवा पक्षी आदि कभी अकेले, एकाकी रूप में नहीं होते। पहाड़ों की कतारें, झाड़ियाँ, पक्षियों के समूह; इस तरह उनका जीवन प्राकृतिक होता है। इनमें से एक-एक तत्व को लेकर ही चित्र की रचना की जाती है। पेड़, पहाड़, पक्षी आदि एक ही क्षितिज पर नहीं होते, बल्कि प्रत्येक का अपना अलग क्षितिज होता है। उनमें परस्पर निर्भरता नहीं होती। ये तत्व यथार्थ होकर भी सपने जैसे लगते हैं। स्वामीनाथन की रचना कभी-कभी अतिवास्तव जैसी लगती है। प्रकृति होकर भी प्रकृति चित्र नहीं लगता, बल्कि सृष्टि रचना के बारे में कथन लगता है।

पहाड़ से पृथ्वी की, पक्षी से आकाश की, रंग से अग्नि या तेज की और पेड़ से वायु की, इस तरह सृष्टि रचना शास्त्र के बुनियादी तत्वों की प्रतीकात्मक रचना लगती है। इस कारण पर्वत, पेड़ और पक्षी आदि तत्व अलौकिक और सर्वव्यापी साबित होते हैं।

विशाल अन्तरिक्ष, तीव्र ऊर्जा के लिए बार-बार आता पीला रंग, उचित जगह पर नियोजित पक्षी, वृक्ष, पहाड़ की रचना, ग्रह-तारों की तरह चुम्बकीय आकर्षण से परस्पर नियन्त्रित करनेवाला अमूर्त आकर्षण, जिससे समय का बोध होता है। इस कारण ये सभी चिरन्तन तत्व होने के बावजूद एक जटिल और रहस्यमयता का आभास होता है।

तान्त्रिक दर्शन में 'काल' महत्वपूर्ण होता है। इसी कारण काल-महाकाल, काली-महाकाली आदि उनके देवी-देवता हैं। इस काल के बोध से ही जे. स्वामीनाथन के चित्र भीतर इस तरह के तान्त्रिक तत्व लगते हैं। सरल, सीधी रचना; हमेशा के ही तत्व फिर भी 'मन्त्रमुग्ध' लगते हैं।

ब्यौरेवार रंगों में संयोजित पहाड़, पेड़, पक्षी आदि तत्व, द्विमिति में रंगाया गया आकाश आदि के कारण समान्तर रचना के उनके ये चित्र लघुचित्र से प्रभावित लगते हैं। रंग-संयोजन, तकनीक की दृष्टि से ये चित्र पहाड़ी,

बसोली लघुचित्र के क़रीब पहुँच जाते हैं।

काव्य-बिम्बों की तरह चित्र के आकार और सांगीतिक लय की तरह रंगबोध - इस तरह काव्य और सांगीतिक रचना भारतीय लघुचित्र की खास विशेषताएँ हैं। शास्त्रीय संगीत में समय-असमय के बारे में बहुत सावधानी बरती जाती है। सुबह, शाम, रात के लक्षणों की विशिष्ट रागदारीपूर्ण रचनाएँ होती हैं। प्रकृति का बोध संगीत में एकाकार हो, इसीलिए यह समय-असमय की सावधानी आवश्यक है। यह 'समय' भी शास्त्रीय संगीत का एक अहम हिस्सा है। जे. स्वामीनाथन की इस चित्रशृँखला में नीरवता बोध होने के कारण वे लघुचित्र के क़रीब प्रतीत होते हैं।

शास्त्रीय संगीत में प्रकृति के बदलते रूपों का, ऋतुओं का, समय-असमय का, उससे उत्पन्न रस-भाव उत्पत्ति का सूक्ष्म ब्यौरे से लक्षणों का निर्माण होता है। इस तरह अलग-अलग प्रकृति के लिए उसके अनुरूप सांगीतिक राग-रागिनियाँ और लक्षणों से उनकी रचना बनती है। लघुचित्रों ने भी इसी शास्त्रीय सूत्र का, लक्षणों का आधार लिया है। इस कारण इसमें आनेवाले रंग सीधे प्रकृति के अनुरूप नहीं आते बल्कि शास्त्रीय संगीत के लक्षणों के सहारे आते हैं। इसी कारण उसमें सांगीतिक रंग होता है। परन्तु स्वामीनाथन के चित्र के रंग इस तरह ठेठ प्रकृति के अनुरूप न होकर भी उन्हें सांगीतिक लय प्राप्त है।

इस चित्र-शृँखला में व्याप्त सुप्त तान्त्रिकता का बोध जे. स्वामीनाथन के अगले चरण के चित्रों में स्पष्ट होता है। चित्र के प्राकृतिक तत्व - पहाड़, पेड़, पक्षी आदि विलुप्त होकर उसके स्थान पर कुछ रहस्यमय प्रतीक और चिह्न आते हैं। पूरे चित्र की गठन भूरी बन जाती है। पहला चित्र पूरी तरह से बिखर जाता है और उसकी पुनर्रचना होती है। मानो दुबारा की जानेवाली शुरूआत हो। पहले चित्रों की तान्त्रिक रचना से पूर्णतः अलग फिर भी भीतर से संलग्नता बोध बना रहता है। वह 'तान्त्रिक' बोध इस चित्र में अधिक स्पष्ट और मुखर हो उठता है।

जीवन के तीव्र अनुभव और जीवनशैली में आये बदलाव के कारण कला की शैली भी बदल जाती है। जे. स्वामीनाथन इस दौर में आदिवासी जीवन के साथ एकाकार हो गये थे। उनका पूरा परिवेश ही बदल गया था। इस आदिवासी जीवन में तीव्र जादुई अनुभवों की प्राप्ति के कारण उनकी सारी प्रतिबद्धताएँ बदल गयीं। आदिवासियों के जीवन में श्रद्धा का अहम स्थान है। ये श्रद्धाएँ अमूर्त होती हैं, अतः उन्हें अन्धविश्वास कहकर आसानी से खारिज भी किया जा सकता है। परन्तु आदिवासियों की इसी गहरी श्रद्धा से उनका कला-सर्जन होता है।

श्रद्धा-मूल्य के कारण ही आदिवासी समुदाय अपनी आदिम सांस्कृतिक कला-विरासत को बरकरार रख पाये हैं। स्वामीनाथन को इसका तीव्र बोध हुआ और उन्होंने भी खुद को इस आदिम परम्परा से जोड़कर उस

सांस्कृतिक विरासत को अपने सर्जन का अंग बना लिया। स्वामीनाथन ने इसी सोच से खुद को इस आदिमता के साथ जोड़ा कि मानववंशशास्त्र, समाजवंशशास्त्र और सांस्कृतिक वंशशास्त्र के साथ जुड़कर ही हम अपनी कला को स्वस्थ रख सकते हैं।

समय और पर्यावरण के असर से सनातन अथवा पुरातन वस्तु की बुनावट जैसी बनती है, वैसी बुनावट स्वामीनाथन के चित्रों का प्रमुख तत्व बन गया है। इन चित्रों में समय बाह्य रूप में भी प्रकट हुआ है। चाहे चित्र की शैली, तकनीक, आशय बदल जाए, लेकिन 'समय' चित्र में अनिवार्यतः अवतरित होता है। ब्यौरे के अंकन की शैली स्थूल हो जाती है। काव्य, प्रतिमा, रंग विलुप्त होकर चित्र में आनेवाले आकार तथा स्वयंभू की तरह रेखाओं की स्थापना की जाती है। इससे चित्र के सर्जन का नहीं, बल्कि उसके अवतरित होने का आभास होता है।

मुक्त, खुरदरी, फिर भी भौमितिक आकार की रेखाएँ, त्रिकोण-चौकोन के आकार, रेंगनेवाले साँप जैसे कुछ निशान, भूरा रंग, खुरदरी-सी भूरी रेखा, ऊबड़खाबड़ गठन आदि के कारण ये चित्र रूद्र और भैरव रूप प्रतीत होते हैं।

अनेक रंगों की पर्तें आने से कुछ चिह्न, प्रतीक, बिम्ब और रेखाएँ धूमिल बनती हैं और कुछ मुखर हो उठती हैं। इससे ये चित्र अर्ध-पारदर्शी, पारदर्शी प्रतीत होते हैं। इससे एकसाथ ही खुरदरापन और पारदर्शिता की तरलता अनुभव होती है।

चित्र में आनेवाले चौकोन, त्रिकोण आदि आकार मानक नहीं, मुक्त हैं। ये भौमितिक आकार वस्तुनिष्ठ भूमिति से नहीं आये हैं, बल्कि अलग-अलग ऊर्जा के अहसास से उत्स्फूर्त रूप में आये हैं। भौमितिक आकार, कुछ चिह्न, निशान, प्रतीक आदि से ये चित्र अभिमन्त्रित-से लगते हैं। इसी कारण दुबारा तान्त्रिक बोध स्पष्ट होता है।

ये चित्र पुरातन और अनामिक भित्तीचित्र के अवशेष की तरह हैं। ये रचना ऐसी होती है, मानो उत्क्रान्त होते आये आज के जीवन की मूल स्थिति हो। लगता है, स्वामीनाथन ने यह सफ़र उल्टा करके अपने ही सर्जन की आदिम जड़ें खोलकर दिखा दी हैं।

यहाँ के आदिवासियों को मिलाकर ही यहाँ की परम्परा बहुवंशीय बनती है। हमारी परम्परा में एक के ऊपर एक अनेक पर्तें हैं। एकसाथ वह मुण्डा होती है, द्राविड़ी होती है, राक्षसी होती है, पैशाची होती है, तान्त्रिक होती है और आर्य भी होती है। ये सारी संस्कृति, परम्पराएँ भारतीय होने के नाते देसी हैं। इस परम्परा से जुड़ने हेतु किया गया अनेक शैलियों का सफ़र अन्ततः आदिम रूप तक पहुँच जाता है। उसमें कई सांस्कृतिक द्रव्य हैं, जिनके मिश्रण से वे अपना सांस्कृतिक वंश ढूँढने का प्रयास करते हैं। ऐसे आकर्षण से की गयी निर्मिति आसानी से भारतीय और देशीय बनती है।

८

के. जी. सुब्रह्मण्यम

(१९२४)

भारतीय संस्कृति की दो समान्तर परम्पराएँ हैं-कारीगरी और मौखिक साहित्य। कारीगरी, कला अथवा साहित्य को लोकाभिमुख बनने की प्रक्रिया में वे सहज ही एक दूसरे में घुलमिल जाते हैं। कारीगरी और कला के कारण ही पुराण, मिथक, दन्तकथाएँ आदि को मूर्त रूप प्राप्त हुआ है और कला तथा कारीगरी के निर्माण में भी इन पुराणों, मिथकों का योगदान है। इसी प्रक्रिया से यहाँ के शिल्प, चित्र, वास्तु और रामायण, महाभारत तथा भागवत जैसी रचनाएँ लोकाभिमुख और आभिजात्य बनी हैं।

भारतीय संस्कृति अथवा परम्परा में जो भी मूर्त है, वे सभी इन्हीं दो परम्पराओं के मिश्रण से बनी वास्तुएँ हैं। ये वास्तुएँ यानी भारतीय 'मन्दिर'; जो कारीगरी की, अमूर्त तत्व और पुराण के 'कथन' परम्परा की अर्थात् मूर्तामूर्त की अद्‌भुत अभिव्यक्ति हैं। मानो भौमितिक आकार की वास्तुओं में काव्य अथवा गणित-काव्य का आच्छादन हो। ये यह सब मूर्तामूर्त तत्वों की सांस्कृतिक विरासत है, जो भूमिति और काव्य अथवा गणित-काव्य जैसी परस्पर विरोधाभासी लगती है, परन्तु रचना के स्तर पर परस्पर पूरक भी है।

भारतीय जीवन, परम्परा और संस्कृति अध्यात्मकेन्द्रित है। अतः यहाँ मन्दिरों की निर्मिति बड़े पैमाने पर हुई है। इस मन्दिररूपी वास्तु परम्परा को राजाश्रय, धर्माश्रय और लोकाश्रय प्राप्त हुआ, जिसके कारण पूरी शक्ति और श्रद्धा से उनका निर्माण हुआ। इसी प्रकार सगुण-निर्गुण भी एक ही है। हमारा परम्परागत दर्शन भी यही कहता है कि मूर्तामूर्त में कोई भेद नहीं है। हमारा सौन्दर्यशास्त्र भी कहता है कि वीभत्स भी लावण्य जैसा सुन्दर है। मूर्त अथवा अमूर्त, लावण्य अथवा विद्रोह को अपनी कला के जरिए साकार करनेवाले अनेक कलाकार हैं। परन्तु परम्परा के दोनों पक्षों को अपनी कला में समाहित करनेवाले बिरले ही हो सकते हैं। के. जी. सुब्रह्मण्यम ऐसे ही एक बिरले कलाकार हैं।

के. जी. सुब्रह्मण्यम ने अनेक माध्यमों, दृश्यकला के अनेक प्रकारों में कला का प्रदर्शन किया है। उदाहरणार्थ, चित्र, शिल्प, भित्तीचित्र, भित्तीशिल्प, मुद्राशिल्प, मिट्‌टी की मूर्तियाँ, कपड़े पर चित्रकारी, खिलौने आदि। उनमें विचार और निर्मिति की दृष्टि से पारदर्शिता थी। निर्मिति के बाद वे कला का मूल्यांकन किसी और को नहीं सौंपते थे। उसके सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का स्वीकार स्वयं करते हुए उस पर लिखते थे। उन्होंने एक प्रदर्शनी के कैटलॉग में खुद के बारे में लिखा है, "I want my work to be ambiguous. I would like it to appear to me every morning as a new configuration. Also I want to straddle the visible and the abstract with their forms now becoming recognisable, now going into hiding. I think that this balancing of the abstract with the objective is one of the most signifi-

cant characteristic of the traditional art of my country like in its temples. Which are undoubtedly impressive as abstract heaps of stone, but also bristle with mythology and representational details at second glance. This is where I get into contact with it. I want my work also to live in such a twilight zone of sensibility. Although, the ingredients I put into it are not what they used to be, but are of this time." (Exibition catalogue, Gallery Naving, New York, 1967)

के. जी. सुब्रह्मण्यम के चित्र पहले पहल रंग-रूप की एक गुत्थी लगते हैं। किसी अपेक्षित-अनपेक्षित रंग-आकार की रचना प्रतीत होते हैं। उनके चित्र यानी अमूर्त आकार, भौमितिक आकार, वास्तू, पक्षी, वृक्ष, पशु, कथा, दन्तकथा, आदि का साफ़-साफ़ मिश्रण। सब परिचित होकर भी अपरिचित। पुराण कथा, कहानी समझ में आते-आते बीच में अचानक वह विलुप्त हो जाती है। सुन्दर अमूर्त आकार आते-आते कुरूप चेहरा उभर आता है। हिंसा की घटना लगते-लगते वहीं वत्सल पशु दिखने लगता है। तैलरंग और जलरंगों का एक ही पृष्ठ पर आना तो कलाशास्त्रीय परम्परा के अनुरूप नहीं है और वह भी कागज़ या कैनवास की जगह पर काँच पर! यह सब लोककला की तरह उत्स्फूर्त और साफ़-साफ़ है।

वास्तविकता का सम्बन्ध भूमि से होता ही है। भूमि के गुरुत्वाकर्षण के कारण भूमि के साथ वास्तविकता हमेशा जुड़ा रहती है। जिस प्रकार वास्तु, वृक्ष, व्यक्ति आदि का भूमि से सम्बन्ध है, उसी प्रकार उनकी छायाओं का भी भूमि से सम्बन्ध होता है। परन्तु छायाओं का सम्बन्ध गुरुत्व से नहीं होता। गुरुत्व से मुक्त होने के कारण वे 'वास्तविकता' से सम्बद्ध होकर भी 'वास्तविकता' जैसी नहीं होतीं। वस्तुतः वे मुक्त और स्वतन्त्र होती हैं। के. जी. सुब्रह्मण्यम का चित्रावकाश भी इसी तरह वास्तविक भी है और उससे मुक्त भी। उसमें जड़त्व नहीं, बल्कि तरलता है। जड़त्व न होने के कारण चित्र की वास्तुएँ, वस्तु, आकार, व्यक्ति, पेड़, पशु, पक्षी आदि शरीर नहीं लगते बल्कि उनकी कायाएँ प्रतीत होती हैं। गुरुत्व से छिटकी ये कायाएँ अन्तरिक्ष में मुक्त रूप से विचरण करती हैं। ऐसी अनेक कायाओं के समूह पूरे अन्तरिक्ष छिटके रूप में विचरण करते-करते एक-दूसरे में आसानी से प्रवेश कर जाते हैं। इस तरह काया से काया का प्रवेश अथवा परकाया प्रवेश के चित्र में अद्‌भुत नाटकीयता आ जाती है। यह 'वास्तविकता' न होकर भी 'वास्तविक' प्रतीत होता है, भूमि पर न होकर भी भूमि पर प्रतीत होता है। पुराण कथाओं की 'देवभूमि' की तरह इन चित्रों की भूमि भी अपनी एक 'देवभूमि' है।

वास्तविक जीवन एकाकी नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति, वृक्ष, प्राणी, पक्षी, वास्तु आदि अनजाने में परस्पर जुड़ जाते हैं। परस्पर निर्भर जीना - जीवन एक दूसरे में ऐसा रच बस गया है कि चित्र के आकार, काया परस्पर प्रवेश करते-करते उनमें एक दूसरे के अंग, रंग रूप, भाव आदि का सहज ही आदान-प्रदान होता है। फिर एक व्यक्ति के अनेकों हाथ, व्यक्ति भी पक्षी जैसा, पेड़ में इंसान जैसे अवयव और प्राणियों में मानवीय भावना। यानी एक दूसरे से एक दूसरे का जन्म होकर उत्क्रान्त होना और एक दूसरे के पैदा होने के निशान एक दूसरे पर

अंकित हो जाना। अपना-पराया, कोई भाव नहीं, कोई द्वैत नहीं, छोटे-बड़े का भेद नहीं। इसमें यही भाव उमड़ता है कि सारी चराचर सृष्टि एक ही है।

जल में रहनेवाले अनेक जलचर जन्तु यूँ ही में एक दूसरे के सान्निध्य में आकर फिर बिछड़ जाते हैं। जल की वनस्पतियाँ, जलचर, आसपास के पानी में दिखते प्रतिबिम्ब, प्रकाश किरणें आदि अलग-अलग बिम्ब जल में पास-पास होते हैं, इस कारण हम उनका परस्पर सम्बन्ध जोड़ देते हैं। पानी में हलचल होती है और उनके आकार बिगड़कर वे किसी और आकार के साथ जुड़ जाते हैं। किसी रंग के आकार में कोई और ही रंग मिल जाता है। इस तरह के 'रूप-भेद', 'रंग-भेद' के जादू का अनुभव पानी के अवकाश में लगातार होता है। ऐसे बिम्ब और प्रतिबिम्बों का मेल के. जी. सुब्रह्मण्यम के चित्रों में भी दिखायी देता है। चित्र के रंग किसी जैविक द्रव्य की तरह पूरे अवकाश में फैलते जाते हैं, रिसते जाते हैं।

के. जी. सुब्रह्मण्यम अपने चित्र के रंग, रूप और रचना पर अधिकार नहीं जताते। वे सिर्फ़ उनके होने के साक्षी होते हैं। बाद में रचना का सन्तुलन बना रहे, इसलिए चित्र में अनेक खिड़कियाँ या कुछ भौमितिक आकार बनाते हैं। इससे चित्रावकाश में दुबारा छोटे-बड़े अवकाश बनते हैं और पूरा चित्र सन्तुलित हो जाता है। ऐसे छोटे-छोटे चौकोनों का विरामचिह्नों की तरह इस्तेमाल करने से एक विशिष्ट प्रकार का चित्र विधान सम्पन्न होता है।

हवा और जल के कारण परिसर का बोध होता है। इसी प्रकार रंग के कारण भी चित्र में किसी परिवेश का बोध उत्पन्न होता है। पूरे चित्र में फैले हुए व्यक्ति, पेड़, पशु-पक्षी आदि के आकार बिखरने का आभास होकर शरीर और अवयवों की मात्रा, परस्पर नियन्त्रण आदि में सम्बन्ध नहीं रह जाता और एक ही शरीर में अनेक अवयवों का अहसास होने लगता है। अनेक हाथ, अनेक सिर अथवा चेहरे पर कई आँखें या अवयवों में अप्राकृतिक मोड़ या हरकतें। ऐसी आकृतियों से चित्र के आकार भारतीय मूर्तिशास्त्र की परम्परा जैसे लगते हैं। ऐसी रचना से चित्र में कोई पुराणकथा या किसी घटना के होने का आभास मिलता है। एक कथा के रूप में देखते समय वह कथा अखण्ड नहीं रह पाती। बीच में ही विलुप्त हो जाती है और कोई अपरिचित रंग या आकार प्रकट होता है और कोई अर्थबोध नहीं होता।

चित्र में यह अहसास होता है कि कथाबीज कहीं तो है। परन्तु रंग, आकार और रचना के एक पर एक ऐसे कई पारदर्शी परदे आते हैं और उस कथा के अनेक रूपान्तरण बन जाते हैं। कथकली नृत्य में जिस प्रकार कथाबीज ढूँढ़ना पड़ता है, इस चित्र में भी कथा की खोज करनी पड़ती है। इस कथाबीज का विस्तार कथा या काव्य से नहीं, बल्कि भाषा और गणित के एक बीजगणितीय रूप से ही अनुभव होगा।

भाषा के माध्यम से मूल्य प्रस्तुत करने का तरीका बीजगणितीय है। के. जी. सुब्रह्मण्यम के चित्र भी बीजगणित की तरह अर्थ और मूल्य को दर्शाते हैं। शब्द में कई अर्थ होते हैं, परन्तु संख्या के अनेक मूल्य नहीं

होते। अर्थात् शब्द बहुवचन है और संख्या एकवचन। शब्द और संख्या की रचना से के. जी. सुब्रह्मण्यम के चित्र एकसाथ एकवचन और बहुवचन भी हैं। संक्षेप में, वे बहुरुपिए जैसे हैं।

के. जी. सुब्रह्मण्यम के चित्रों में भाषा और रूप का सन्तुलन एकसमान है। उनके चित्रों को भाषा और रूप का आधार एकसाथ प्राप्त है। यानी उनके चित्र द्विदल रूप में हैं। दो स्तरों पर होने के बावजूद वे दो नहीं हैं और एकांगी भी नहीं हैं। दरअसल, यहाँ भाषा और रूप - दोनों परिधियों का केन्द्र बिन्दु एक ही है और वह है 'वर्ण'। वर्ण के दो अर्थ हैं - रंग भी और अक्षर भी। इसीलिए भाषा के लिए वर्णमाला महत्वपूर्ण होती है और रूप के लिए रंगमाला। इन चित्रों में ऐसा दोहरा रूप होने के कारण एकसाथ वे मूर्त भी हैं और अमूर्त भी।

के. जी. सुब्रह्मण्यम ने शान्तिनिकेतन की परम्परा के अनुरूप प्रकृति-चित्रण नहीं किया है। परन्तु उनके चित्र में प्रकृति मूलसूत्र रूप में होती है। पॉल सेज़ाँ कहते थे कि जिस व्यक्ति को प्रकृति में भौमितिक आकार दिखायी नहीं देते, उसमें प्रकृति की समझ ही नहीं है। इस दृष्टिकोण से के. जी. सुब्रह्मण्यम के चित्रों पर ग़ौर करें तो उसमें प्रकृति का मूलसूत्र दिखायी देता है। प्रकृति भीतर से भौमितिक और बाहर से मुक्त तथा अमूर्त आकारों की प्रतीत होती है। किसी भी फल को काटने पर यह दिखायी देता है कि उसकी भीतरी रचना अत्यन्त अनुशासनबद्ध और भौमितिक है। भौमितिक और मुक्त की एकत्रित रचना के. जी. सुब्रह्मण्यम के चित्रों की अनन्य विशेषता है। इसी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृति से उनका रिश्ता है।

कारीगरी परम्परा से आये हुसैन की तरह के. जी. सुब्रह्मण्यम ने भी खिलौने बनाये हैं। अत्यन्त गम्भीरता से खिलौने बनानेवाले कलाकार ये दो ही होंगे। भारतीय कारीगरी की परम्परा को जोड़ने का उनका यह प्रयोजन सोद्देश्य है। के. जी. सुब्रह्मण्यम के खिलौनों की शैली हुसैन से अलग है। वे साफ़-साफ़ घनवादी हैं। उनके चित्र में आनेवाले प्राणियों के आकार का त्रिमिति रूप है। के. जी. सुब्रह्मण्यम की चित्रकला पर घनवाद और उत्तर घनवाद का प्रभाव नहीं है, परन्तु उनके भित्तीशिल्प और भित्तीचित्र में यह प्रभाव साफ़-साफ़ महसूस होता है। उनके भित्तीचित्रों पर घनवाद के साथ-साथ आदिवासी सन्थाल कला का भी प्रभाव है।

के. जी. के भित्तीचित्र सन्थाल आदिवासी जैसे हैं, परन्तु उनके शिल्पचित्र अलग हैं। देखते ही वे उत्कीर्ण शिल्प जैसे लगते हैं। परन्तु वे एक पर एक मिट्टी की अनेक परतें डालने से बने हैं। लगता है, एक ही मिट्टी की पर्त से काटकर निकालने के कारण उसके आकार कागज़ की हस्तकला जैसे बने हैं। के.जी. सुब्रह्मण्यम ऐसे ही म्युरल्स अथवा भित्तीशिल्प में सजावट करते हुए दिखते हैं। वास्तु के सामनेवाले हिस्से को परम्परागत ढंग से सजाने जैसी यह शैली है। यद्यपि यह सजावट है, फिर भी वह पुरातन और धातु की तरह कठोर और मज़बूत लगती है। ये भित्तीशिल्प पुरातन स्मारक जैसे ही हैं।

के. जी. सुब्रह्मण्यम के चित्र 'बहुरूपी' हैं। एकसाथ वे एकवचन भी हैं और बहुवचन भी। मूर्त भी हैं और अमूर्त भी। कुरूप भी हैं और सुन्दर भी। लावण्यमयी भी हैं और वीभत्स भी। कारुण्य, व्यथा, क्लेश, वेदनाओं

के साथ-साथ वे प्रसन्न भी हैं। इस तरह वे एकसाथ दोहरे आयाम दर्शाते हैं। इस कारण उन्हें देखते समय एक सम्भ्रम भी होता है और साथ ही कुछ देखने, अनुभव करने का अहसास भी। परन्तु स्थिति कुछ ऐसी बनती है कि उसे अभिव्यक्त करना मुश्किल हो जाता है। इस स्थिति को क्या कहें? कवि केशवसूत का शब्द : झपूर्झा।

के. जी. सुब्रह्मण्यम ने परम्परा, विचार, तकनीक, शैली, प्रकृति -जीने से कुछ अलग खोदकर चित्र बनाने का काम नहीं किया। जीते समय छोटा-बड़ा साफ़-साफ़ जो भी उनके सामने आया, उसका उन्होंने चित्र में इस्तेमाल किया। अपनी ही काव्य भाषा में उन्होंने लिखा है :

'Between the sky and earth hover life and
Death, loathing and love, groth and grey decay,
Man snipes at clouds.
Birds land in spectral flight
Between abstract beauty and twisted agony,
Hearts meet under trees below the moon.
All broken fragments of stories to be made.
And all addressed both to our eyes and our mind.'

६

तैयब मेहता

(१९२५-२००९)

God laughs, Shri Ramkrishna Paramhansa says, when two brothers draw a line on the ground, and one of them says, 'The land on this side of the line is mine' and the other says, 'the land of this side of the line is mine.' *(SAVRAJ; A Journey with Tyeb Meheta's Shantiniketan Triptych-Ramchandra Gandhi.)*

स्वदेशी आन्दोलन के कारण भारत को आज़ादी मिली। इस आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण तत्व 'अहिंसा' था, जो विभिन्न धर्म और संस्कृतियों के बीच सेतु का कार्य करता था। इसी 'अहिंसा' के पथ पर चलते हुए स्वदेशी आन्दोलन और स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ हुआ था और देश को आज़ादी मिली थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में जहाँ विश्व भर के अनेक देश 'हिंसा' के पथ को अपनाकर आज़ाद हुए थे, वहीं भारत में अहिंसा का आग्रह था।

यद्यपि देश को आज़ादी अहिंसात्मक ढंग से मिली थी, फिर भी देश के भीतर अनेक स्थानों पर हिंसा की वारदातें हुईं। देश का विभाजन यहाँ की सामासिक संस्कृति को छिन्न-भिन्न करनेवाली ऐसी ही हिंसात्मक वारदात थी। इसका असर यहाँ के मुख्यतः लाहौर, कलकत्ता, दिल्ली आदि महानगरों पर हुआ, जिससे देश भर के कलाकार भी अछूते नहीं रह पाये। यह विभाजन धर्म पर आधारित था। परन्तु यहाँ की गंगा-जमुनी संस्कृति में गहरी जड़ें जमा चुके कलाकारों ने संस्कृति को छिन्न-भिन्न करनेवाली पाकिस्तान की नागरिकता को नकार दिया और वे इसी भूमि में बस गये।

जिस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रतिबिम्ब पिकासो के चित्रों में अंकित हुआ है, उसी प्रकार विभाजन के दौर की हिंसा का प्रतिबिम्ब भी अनेक कलाकारों, विशेषतः तैयब मेहता के चित्रों में दिखायी देता है। 'हिंसा' के शाश्वत रूप में ही पाब्लो पिकासो और तैयब मेहता की कला-निर्मिति हुई है। उनमें 'हिंसा' ही एक बुनियादी सूत्र है। अनेक भारतीय आलोचकों ने लिखा है कि तैयब मेहता के चित्रों पर पिकासो का प्रभाव है। दरअसल, यह प्रभाव कला का बाह्य प्रभाव नहीं है, बल्कि 'हिंसा' इस सूत्र की ही ये दो अलग अभिव्यक्तियाँ हैं।

तैयब मेहता के चित्रों में यह साफ़-साफ़ दिखायी देता है कि उन्होंने ब्रिटिश चित्रकार फ्रांसिस बेकन (१९०९-१९९२) की कलाकृतियों का अध्ययन किया और उसके चित्रों के आधार पर हिंसा का चित्रात्मक रूप बनाया। बाद में तैयब ने अपनी अलग शैली विकसित की।

पाब्लो पिकासो की 'गुअर्निका' तो हिंसा और द्वितीय विश्वयुद्ध के माहौल का साफ़-साफ़ बयान करती है। तैयब मेहता की 'शान्तिनिकेतन ट्रिपटिच कलाकृति' भी विषय और संरचना की दृष्टि से भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का ब्यौरा देती है। 'गुअर्निका' और 'शान्तिनिकेतन ट्रिपटिच', दोनों कलाकृतियों में आशय और रचना के स्तर पर परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

प्रत्येक कला का अपना-अपना परिवेश होता है और उस परिवेश के चिह्न सम्बन्धित कला पर सहज ही अंकित हो जाते हैं। इतिहास भी भूगोल पर अंकित चिह्नों से दुबारा जीवित हो उठता है और इसी से उसकी परम्परा की पहचान स्थापित होती है। इतिहास जैसे-जैसे पीछे की तरफ जाता है, वैसे-वैसे ये चिह्न धूमिल होते जाते हैं और एक दिन विलुप्त हो जाते हैं। परन्तु ये चिह्न परम्परा से जुड़े ही रहते हैं। मिट्टी में दबी हुई वस्तुओं के सहारे पुराणकथाएँ, कहानियाँ बनाई जाती हैं और उनके माध्यम से परम्परा का तर्क लगाया जाता है। पुराणकथाएँ इतिहास की तरह भूगोल से जुड़ी नहीं होतीं। इसी कारण वे अलौकिक लगती हैं। फिर भी उनमें लौकिक जीवन के सन्दर्भ मिलते हैं। इसी के चलते वे आज के लौकिक जीवन के लिए उद्‌बोधक लगती हैं। पुराणकथाएँ भूगोल से नहीं, बल्कि समय के साथ जुड़ी होती हैं। ये कथाएँ अपना-अपना परिवेश बनाती हैं। इस परिवेश को किसी भी समय के साथ जोड़ा जा सकता है। इसीलिए वे सार्वकालिक हैं। इसी कारण भारतीय कला-साहित्य परम्परा को उनका ठोस आधार प्राप्त है।

तैयब मेहता की कला वर्तमान की घटना का सन्दर्भ पुराणों में खोजती है और पुराणकथा को आज का सन्दर्भ देती है। इसीलिए वह लौकिक-अलौकिक रूप में रहती है। पुराणों के ईश्वर, दानव और मानव आदि प्रतिमाएँ परस्पर मिल जाने के कारण चित्र का सामान्य विषय भी वर्तमान जीवन पर व्यापक प्रकाश डालता है।

तैयब मेहता के चित्र ब्रिटिश चित्रकार फ्रान्सिस बेकन के आसपास जाते हैं, परन्तु उनकी पुराण सम्बन्धी दृष्टि बेकन से अधिक व्यापक है। बेकन विषयगत सौन्दर्य के प्रति आस्थावान हैं। परन्तु तैयब मेहता विषयगत सौन्दर्य के साथ-साथ रंग, रेखा, आकार आदि कलागत तत्वों के सौन्दर्य के प्रति भी आस्थावान हैं। विषय के साथ-साथ कला-सौन्दर्य का भी ध्यान रखना, एक विशेष भारतीय प्रवृत्ति है।

भारतीय पुराणों में ईश्वर-दानव और मानव आदि को परस्पर जोड़नेवाली कथाएँ होती हैं। देवता निर्गुण-निराकार होते हैं और मनुष्य जन्म-मृत्यु के फेरे में फँसकर जीवन के रहस्य को ढूँढ़ रहा होता है। वह इस फेरे से मुक्ति की खोज में है। इसी के चलते उसने 'स्वर्गलोक' की काल्पनिक दुनिया तैयार की है। वह पुनर्जन्म पर विश्वास करता है और नीति और रीति-रिवाज़ के सहारे आज के भौतिक जीवन को आसान और उन्नत करने का प्रयास करता है। परन्तु सभी प्रकार के प्रयासों के बावजूद वह बार-बार 'ढहता' है। तैयब मेहता ने अपने चित्रों के जरिए मानव जीवन की इसी विडम्बना पर भाष्य किया है। तैयब अपने चित्रों में यह रूपक बार-बार प्रयुक्त करते हैं कि मनुष्य चाहे जितना उन्नत हो, अन्ततोगत्वा उसका जीवन पतनशील ही है।

ईश्वर हमेशा से निर्गुण-निराकार रहा है। मनुष्य के जीवन में दानव हमेशा पीड़ा और संकट लाता रहता है और इसी पीड़ा या संकट के निवारण के लिए निर्गुण निराकार ईश्वर मनुष्य की प्रतिमा में 'अवतार' धारण करता है। ईश्वर की यह एक 'लीला' है। मनुष्य अथवा प्राणी के रूप में जन्म लेना और उस दानव का संहार ही उसका कर्म है। बाद में निर्गुण-निराकार होने के कारण ईश्वर मनुष्य को दिखायी नहीं देता। मनुष्य को दिखायी देती केवल उसकी मनुष्य रूप अथवा पशु रूप की प्रतिमा।

तैयब मेहता अपने चित्र में इसी तरह पुराणों की रचना करते हैं। भारत में ऐसे अनेक कलाकार हैं जो पुराणों के सन्दर्भ में अपनी निर्मिति करते हैं। परन्तु तैयब इन सबसे अलग हैं। तैयब कथा को ज्यों का त्यों 'इलस्ट्रेट' नहीं करते। वे दृश्यकला की एक समृद्ध भाषा में उसे रूपान्तरित करते हैं। इस कारण पुराणकथा एक सन्दर्भ के रूप में आती है। बाकी पूरी कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है।

ढहनेवाला व्यक्ति, चारों पैर ऊपर किये औंधा पड़ा बैल, पंख फैला परन्तु उड़ने की गति समाप्त हुआ पक्षी, एक दूसरे के आधार बननेवाले मानवीय आकार, रौद्र और बीभत्स चेहरे, उनका मौन आक्रोश, भीषण तनाव और आकर्षण से विकलांग हुए रिक्शावाले आदि सभी आकारों में तैयब की रचना होती है।

तैयब के चित्र में अवकाश अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। आड़ी-खड़ी रेखाओं से वर्गाकार क्षेत्रफल बनता है। परन्तु इस क्षेत्रफल से अधिक लम्बी आकर्ण की रेखा होती है। तैयब मेहता इस आकर्ण-रेखा का इस्तेमाल कर

अपना अवकाश विस्तृत कर लेते हैं। वे अपने चित्र में इस भूमितीय रहस्य का इस्तेमाल करते हैं, इसलिए पहली नज़र में ही उसका प्रभाव पड़ जाता है।

अवकाश के इस तिरछे छेद से यथार्थ-दर्शन का आभास होता है। बाद में ऐसी छेदक रेखाओं से अनेक छोटे-छोटे अवकाश बनते हैं और उनका रूपान्तरण अद्‌भुत आकारों में हो जाता है। इस तरह बाहरी और भीतरी अवकाश के रूप में उनका विभाजन हो जाता है और रेखा अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाती है। यहाँ अवकाश का विभाजन करनेवाली रेखाएँ, मानवीय आकार अथवा पशु-पक्षियों के आकारों की रेखाएँ आदि का एक मिश्रित ढाँचा बन जाता है।

किसी भी भूमितीय कृति में मिति, छेदक रेखा, स्पर्श रेखा आदि तत्व महत्वपूर्ण होते हैं, जिनमें रेखा ही सबसे मुख्य होती है। तैयब के चित्र में जो रेखाएँ आती हैं, वे चित्र का तत्व बनकर नहीं आती, बल्कि बतौर भूमितीय रेखा वह स्पष्ट और निर्णायक होती है। भूमिति के तत्व कठोर होते हैं, परन्तु रस-रंगभाव के कारण वे लचीले बनते हैं। तैयब के चित्र की रेखाएँ भी कठोर परन्तु लयपूर्ण होती हैं। इन रेखाओं की प्रकृति चित्र के बुनियादी विषय 'हिंसा' को उभारती है।

विकर्णरेखा, छेदकरेखा, स्पर्शरेखा और त्रिज्या। विकर्णरेखा के कारण होनेवाला यथार्थ दर्शन का आभास, छेदकरेखा के कारण बननेवाले अनेक क्षितिज, अवकाश, सभी आकृतियों को स्पर्श करनेवाली ये भौमितिक रेखाएँ और मानवीय तथा पशु-पक्षियों की आकृतियाँ - सभी में भूमिति के एक प्रमेय का आभास होता है। ज़िन्दगी का साफ़-साफ़ विवरण और ये प्रमेय एकत्रित हो जाने से यह चित्र-रचना 'स्पष्ट और सुप्रमेय' बनती है।

ऐसी भूमितीय रेखाएँ और मानवीय प्रतिमाओं के एकत्रीकरण से एक आकार बनता है। इन मानवीय प्रतिमाओं का अनुपात, उनके शरीरावयव, रचना आदि मुक्त और भौमितिक होने से इन आकारों में एक अलग ही लय उत्पन्न होती है। नृत्य, अभिनय, क्रीड़ा, क्रिया अथवा कृति करते समय अवयवों की हरकतों में भी एक लय आती है। उस कृति में, अभिनय में, नृत्य में एक कार्य-कारण भाव होता है। तैयब के चित्र के आकार की रचना भी ऐसी ही होती है। इस रचना में शरीरावयवों के आकार का, उनकी हरकतों का आत्यन्तिक महत्व होता है। इसीलिए ये रचनाएँ हस्तमुद्रा या पदन्यास के आकारों की होती हैं। इस रचना में चेहरा विषय के अनुसार स्तब्ध अथवा वीभत्स रूप में होता है। शरीर के बिना भी अवयवों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। फिर भी चुम्बकीय आकर्षण की तरह वे शरीर से ही जुड़े रहते हैं।

यथार्थ और प्रतिमा के संमिश्रण से चित्र के आकार बनते हैं। आँख पर उंगली से हल्का-सा दबाव डालने पर एक ही वस्तु की अनेक प्रतिमाएँ बनती नज़र आती हैं। इस चित्र के आकार की रचना भी कुछ इसी तरह की होती है। एक ही आकार से अनेक आकार बनने का आभास होता है। ऐसे ही 'ऑप्टीकल' आभास जैसी इस चित्र की प्रतिमाएँ और रचनाएँ होती हैं। धूप में जलती भूमि से उठनेवाली लू के पीछे सारी 'वास्तविकता'

थिरकती, कम्पित होती दिखायी देती है। उसी प्रकार इस चित्र-रचना में भी कम्पन की तरह एक ही प्रतिमा से अनेक प्रतिमाएँ छूटने लगती हैं। शोले आकाश की तरफ बढ़ते हैं, उसी तरह ये आकृतियाँ भी कभी-कभी उद्रेक से अवकाश में छलाँग लगाती आभासित होती हैं।

रंग स्वयं प्रकाशित होता है और उसका अपना एक तेज भी होता है। रंग बाह्य प्रकाश के सान्निध्य से परप्रकाशित होता है। उसकी अनेक छटाएँ बनती हैं। स्वयंप्रकाशित और परप्रकाशित - इस रूप में रंग का तीव्र और मृदु अहसास बना रहता है। इस विरोधी तत्व के कारण चित्र में तनाव-दबाव उत्पन्न होते हैं और चित्र में हरकतें तेज़ हो जाती हैं। तैयब मेहता के चित्र में ऐसी ही रंग-छटाएँ होती हैं। यानी रंगों का यह बाह्यतेज प्रकाश के तेज से बदलता है। इसलिए तैयब की ऐसी चित्र-रचना में प्रकाश का अस्तित्व होता है। प्रकाश के अस्तित्व के कारण ही ऐसा आभास होता है कि ये चित्र किसी पृष्ठ पर न होकर खुले अवकाश में हैं।

अवकाश, आकार के रंग नज़दीक आते हैं, परन्तु परस्पर स्पर्श नहीं करते। उनकी एक अलग ही आभा उत्पन्न होती है। इसी आभा पर रेखा की योजना होने के कारण रेखा और मुखर हो उठती है। इस तरह वास्तविक रेखा के अभाव से भी दो रंगों के बीच की रेखा तेजस्वी और सजीव बनती है।

प्राचीन काल से भारतीय पुराणों में शिव-शक्ति की एक परम्परा मिलती है। शिव-शक्ति की यह परम्परा लोक-परम्परा है। इस परम्परा के सभी देवी-देवता लोकदेवता हैं। देवी-देवता परम्परा में वाममार्गी और निशाद मानी जानेवाली काली, महिषासुर मर्दिनी आदि देवियाँ तैयब के चित्र की प्रतिमाएँ हैं। इन देवी-प्रतिमाओं के साथ-साथ बैल, बकरी, पक्षी आदि प्रतीक भी आ जाने के कारण वे लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब दर्शाती हैं। इस दृष्टि से तैयब के ये चित्र लोक-जीवन से मेल खाते हैं, परन्तु रंग, रेखा और आकार की योजना लोककला से विभक्त होकर नागर जीवन से जुड़ जाती हैं। इस तरह लोक-जीवन और नागर-जीवन के मिश्र रूप से तैयब की कला-निर्मिति होती है। भारतीय मन्दिर परम्परा भी इन्हीं दो शैलियों में है। द्रविड़ शैली और नागर शैली से ये चित्र जोड़ दिये जाने के कारण तैयब की कला समूचे भारतीय कला की ही प्रतिनिधि के रूप में सामने आती है।

१०

जिव्या सोमा मशे

(१९३४)

'Artist has no belive in their own truth to make art,' Rechard said. 'I am in the modernist avant-grade tradition as well as 'Primitive'. All art depends on other art. Jivya works in his tradition, but goes beyond it, has his own personal style and subject matter.' *(Richard Long, b. 1945, Bristol England)*

Jivya Soma Mashe is a substantial, influential man in his community. With an international artistic reputation, the disparity between the price of his work and that of Richard Long speaks values not just about market force, but the distribution of power and wealth in the world. *(Denise Hooker).*

जिव्या सोमा मशे विश्व मंच के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चित्रकार हैं। प्रत्येक आभिजात्य कला एक परम्परा से आती है। जिव्या सोमा मशे के चित्र वारली चित्र परम्परा से आकर आज आभिजात्य बन गये हैं। जिव्या सोमा के जरिए ही वारली चित्र लोकाभिमुख हुए हैं। आज यह चित्र परम्परा न केवल केन्द्रीय बनी है, बल्कि वह वारली जनजाति की पहचान भी बन गयी है।

यह समाज जंगल 'वार'कर (साफ़ कर) खेती करता है, इसलिए इसे वारली कहा जाता है। संक्षेप में, इस समाज की कृषि संस्कृति की अपनी प्राचीन परम्परा है। सिन्धु संस्कृति से पूर्व अनेक जनजातियाँ घुमन्तू हुआ करती थीं। नवपाषाण युग में ये जनजातियाँ पशुपालन और खेती-उद्योगों के कारण एक जगह पर स्थिर हुईं। ऐसी अनेक जनजातियों की परम्पराएँ वैदिक परम्पराओं में मिल गयी थीं, जिनसे मिलकर नागर सिन्धु संस्कृति बनी। सिन्धुपूर्व दौर की इन कृषि परम्पराओं को कुलीन आर्य जाति के लोगों ने निषाद परम्परा माना। तब से यह समाज संस्कृति की मुख्य धारा से कट गया। वारली समाज इसी निषाद संस्कृति का वंशज है।

यूरोप में अनेक वादों की शृँखलाएँ हैं, जिनमें से एक दृक्-प्रत्ययवाद में विचार और शैली के स्तर पर वारली चित्र शैली की समानता दिखायी देती है। मात्र बौद्धिक और सैद्धान्तिक चित्र न बनाकर ये चित्रकार खुली हवा में ठेठ यथार्थ जीवन से ही भिड़ जाते हैं। पॉल सेज़ाँ, पॉल गोगाँ और विसेंट वान गॉग आदि इस शैली के मुख्य चित्रकार हैं। खुले माहौल में चित्र की रचना करने के कारण इनके चित्रों में उसी जीवन शैली की अर्थात् किसान, श्रमिक, मज़दूर आदि की संवेदनाएँ आती गयीं। इससे यह साम्य दोनों शैलियों में अपने आप आ गया।

'मैं शहर का चित्रकार नहीं हूँ। शहर से मेरा कोई नाता नहीं है। मैं किसान हूँ। मुझे खेत में लौट जाना है। मुझे सूर्य के ऐसे प्रदेश में जाना है, जहाँ उसकी गर्मी चित्रकला की इच्छा के अलावा मेरे भीतर का सबकुछ जला देगी।', 'मैं किसान ही चित्रित करता हूँ, और मुझे लगता है कि ये औरतें भी किसान ही हैं। हाड़-माँस की बनी। ज़मीन और माँस तो एक ही तत्व के दो रूप हैं!' ये दोनों कथन विन्सेंट वान गॉग के हैं। यूरोप के वादों की शृँखला में दृक्-प्रत्ययवाद और अभिव्यक्तिवाद के अनुयायी पॉल सेज़ाँ, सरा, पॉल गोगाँ आदि में से प्रत्येक की व्यक्तिगत सोच की दिशा और काम की शैली भिन्न है। जार्ज सुरे का अपवाद छोड़ दें, तो स्टूडियो में बन्द माहौल में काम करने की बजाय खुले में और साक्षात् प्रकृति के सान्निध्य में काम करने से उनमें यह गम्भीरता है। इसी कारण पॉल गोगाँ और वान गॉग आदि चित्रकार प्रकृति की तुलना में आदिवासी और किसान-मज़दूरों के जीवन में अधिक एकाकार हो गये। पॉल गोगाँ ताहिती द्वीप के निवासी आदिवासियों के पास

पहुँचा और वान गॉग आल्प्स पर्वत पर।

विन्सेंट ने केवल प्रखर उजाले में दिखनेवाले तीव्र रंगों के लिए आल्प्स पर्वत की तरफ जाना तय किया था। वहाँ वह किसान और मज़दूरों के जीवन से एकाकार ही हो गया। वान गॉग कहता है, 'इस पौधे का ज़मीन से जो रिश्ता होता है, वही रिश्ता खेती में काम करनेवाले किसानों का खेत से होता है। मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि यह सूर्य किसान, पौधे, भूमि, हल - सबको नहला रहा है। इस संसार की लय, जिससे दुनिया की सारी गतिविधियाँ घटित होती हैं, एक बार समझ में आ जाए तो आपको ज़िन्दगी समझ में आती है। यही तो परमात्मा है।' विन्सेंट वान गॉग और जिव्या सोमा मशे, दोनों का परमात्मा एक ही है। ऊपर सूर्य और नीचे खेत की दुनिया। वारली चित्र को आदिवासी चित्र समझकर अनदेखा नहीं कर सकते। आज उन्हें विश्व कला के परिप्रेक्ष्य में ही देखना होगा। प्रकृति में जिसे बुनियादी आकार दिखायी नहीं देते, वह चित्रकार ही नहीं है। प्रकृति में ऐसे अमूर्त शास्त्र के तत्व दिखायी दें, ऐसी कड़ी शर्त पूरे दृक-प्रत्ययवादी और अभिव्यक्तिवादी चित्रकारों की ही थी। ऐसा दृक्-प्रत्यय वारली चित्रों में साफ़-साफ़ आता है। वारली चित्र में प्रत्ययवाद, अभिव्यक्तिवाद, घनवाद, उत्तरघनवाद, अमूर्तशास्त्र आदि सभी के लक्षण साफ़-साफ़ दिखायी पड़ते हैं। भीम-लघुद्वीप से उत्क्रान्त यह कला आधुनिकतावाद के साथ-साथ चलती है। उत्तर सिन्धु संस्कृति की जीवनशैली विलुप्त हो गयी, फिर भी वारली जीवनशैली में वे सभी लक्षणों के साथ दुबारा दीख पड़ती है।

सूर्य, चन्द्रमा, चन्द्रमा की वृत्ताकार आभा, आँखों की पकड़ में न आनेवाले परन्तु महसूस होनेवाले हवा के भँवर, दँवनी, खलिहान, तालाब, चींटियों की बाँबियाँ, ऊँचे वल्मीक, साँपों की कुण्डलियाँ, उन्माद में वृत्ताकार झूमते स्त्री-पुरुषों का तारपा नृत्य, इससे होनेवाला वृत्त का अहसास, पहाड़, झुग्गियाँ, कमर से विभाजित होते मनुष्य-प्राणियों के शरीर का त्रिकोण से साम्य - ये दोनों यथार्थ के ही प्रत्यय हैं। परन्तु चौकोन अथवा चौक पूरी तरह से प्रतीकात्मक, मिथक से आया होता है। समुद्र की रेखा, धरती की रेखा, ग्रामदेवता की रेखा और गोत्र की रेखा - चारों प्रतीकों का एक ही चौक। इस तरह उनके चित्रों में चौकोन, त्रिकोण और वृत्त की अनुभूति होती है।

चन्द्रमा की वृत्ताकार आभा, उसके इर्दगिर्द पूरे आकाश में फैले हुए सितारे - इस तरह इन चित्रों की रचना होती है। कभी पूरे आकाश के सितारों को अमूर्त रेखाओं से जोड़कर उसकी संरचना की कल्पना कर सकते हैं, तो कभी सितारों के पुंज से आकृतियाँ बनती हैं। इन ग्रह-तारों का जिस प्रकार अपना एक मिथक होता है, उसी प्रकार वारली चित्र की आकृतियाँ उस पूरे चित्र में फैली प्रतीत होती हैं। मिथक की तरह वारली चित्र में भी एक कहानी होती है। ये आकृतियाँ उस एक ही कहानी के क्रियाशील तत्व होते हैं। इसलिए वे भी अमूर्त रेखा से परस्पर जोड़ दिये जाते हैं।

वारली चित्र की 'कहानी' में वारली समाज की मिथक कथा होती है। यह कहानी किसी के द्वारा पढ़ी गयी या सुनायी हुई नहीं होती। ऐसी कहानियों पर ही कृषि-संस्कृति का दर्शन खड़ा है। चित्र के आधार रूप में कोई कहानी उठायी जाती है और चित्रकला की तकनीक के अनुसार उसकी संरचना की जाती है। इसमें यह आग्रह नहीं होता कि चित्र की कहानी समझ में आ ही जाए। कहानी कृषि-संस्कृति की ही होने के कारण चित्र का प्रत्येक तत्व कृषिकर्म के साथ सक्रिय होता है। वान गॉग के चित्र का प्रत्येक तत्व इसी तरह सक्रिय होता है। वान गॉग के चित्र में सूरजमुखी और गेहूँ के खेत के परिसर का दृश्य होता है, उसी तरह धान की बुआयी या कटायी का दृश्य वारली के चित्र में होता है। वारली चित्र चाहे सपाट पृष्ठ पर द्विमिति में अंकित हों, परन्तु उसकी तकनीकी के कारण भूमि पर भी वह बिल्कुल वास्तविक रूप में आभासित होता है। इस चित्र की कहानी में स्त्री-पुरुष के भेदभावपूर्ण अथवा श्रेणी, दर्ज़े के व्यक्ति नहीं होते। व्यक्ति, प्राणी, पशु, वनस्पति एक ही आकृति से आते हैं। इस कारण प्रकृति और जीवन यहाँ एकाकार होता है। उनमें अन्तर नहीं रह जाता। जिव्या सोमा कहता है, मेरे चित्र के प्राणी, जन्तु, पक्षी, इंसान सब मेरे वास्तविकता में देखे होते हैं। बस पेड़ मैं कल्पना से बनाता हूँ। वारली चित्र के पेड़ चाहे जंगल के हो, पर वे बुआयी किये पेड़ों जैसे पंक्तिबद्ध होते हैं। वे राजपूत लघुचित्र की तरह लग सकते हैं, परन्तु उन लघुचित्रों में पेड़ की तुलना में लताओं का इस्तेमाल अधिक होता है। वारली चित्र के पेड़ तने हुए होते हैं। ऊपर पक्षी और बया का घोसला - इस कारण ये काल्पनिक के पेड़ भी यथार्थ प्रतीत होकर पूरे चित्र के साथ एकाकार हो जाते हैं। विन्सेंट के पेड़ लच्छेदार और ऊपर की तरफ बढ़ रहे होते हैं। उजाले के रंगीन कणों से गतिमान होनेवाली हवा, गरमी के न्यूनाधिक दबाव से बननेवाले चक्राकार, आकाश के सितारों पर हवा के वातावरण का हल्का-सा पल्लू लिये धूमिल परन्तु धीरे-धीरे साफ़ होती हरकतों के वृत्ताकार, प्रखर सूर्य प्रकाश की जलन, भूमि से परावर्तित होती दीख पड़ती लू, उस लू में काँप रहे पेड़, खेती, किसान सब एक-दूसरे में मिलकर फिर अलग होते हैं। इससे चित्र में क्षिप्रता आ जाती है। विन्सेंट के रंग सड़ाका शैली के नहीं हैं। सूर्य और मेहनतकश व्यक्ति की साझा जलन, सूर्य की दिशा में झुक रहे पीले सूरजमुखी के खेत, उनकी रफ़्तार आदि को विन्सेंट चित्र में पकड़ने का प्रयास करता है। यही रफ़्तार वारली चित्र में दिखायी देती है। रंग न होकर भी आकृति की रफ़्तार, उनकी कमी महसूस होने नहीं देती। ऊपर आकाश, नीचे ज़मीन। बीच में अलग-अलग गति की वायु का अस्तित्व चित्र में तीव्रता से अनुभव होता है। पृथ्वी, आकाश, तेज, वायु, जल आदि प्रकृति के बुनियादी तत्व इस चित्र में आसानी से पाये जाते हैं।

वारली चित्र की रचना से उत्पन्न होनेवाली लय में अलग-अलग धुनें, नाद अनुभव होते हैं। वारली चित्र हमेशा सामूहिक होते हैं। इन चित्रों में चेहरा महत्वपूर्ण नहीं होता। इनमें नाक, आँखें आदि शरीर के अलग-अलग अंग नहीं होते। एक समग्र देहबोध होता है। ये शरीराकृतियाँ एक कोण में झुकी हुई होने के कारण अत्यन्त चुस्त और गतिशील लगती हैं।

चित्रकला यद्यपि भूमि से सम्बद्ध कला नहीं है, परन्तु वारली इसका अपवाद है। क्योंकि यह कला भूमि से अत्यन्त एकाकार हुई है। भूमि के भौतिक रूप - पहाड़, नदियाँ, पेड़ ही नहीं बल्कि पूरे परिसर से वह जुड़ी हुई है। वारली समाज पेशे से किसान है। अतः यह दिखायी देता है कि यह कला भूमि से कितनी गहरायी तक जुड़ी हुई है। दरअसल, जंगल 'वारकर' खेती करने के कारण ही इस जनजाति को 'वारली' नाम मिला है। संसार के सारे आदिवासी जंगल में रहते हैं। शिकार अथवा जंगल में उपलब्ध हुए अन्न पर गुज़ारा करते हैं। यही जीवनशैली इनके चित्रों में आती है। परन्तु शिकार, देवी-देवता, रीति-रिवाज आदि के चित्र वारली चित्रकला में नहीं आते। बहुत हुआ तो मछलियाँ पकड़नेवाले मछेरे आएँगे, वरना बाकी सारे चित्र खेती से सम्बन्धित ही होते हैं। क्योंकि यही उनकी जीवनशैली है। इसी कारण संसार भर के आदिवासियों में वारली शैली अत्यन्त विशिष्ट है। वारली अतिप्राचीन जनजाति है, तथापि वह आदिवासी नहीं है।

वारली समाज परिसर के साथ-साथ भूमि के साथ भी अत्यन्त निष्ठावान होता है। अतः भूमि की भूमिति के सारे तत्व वारली चित्रों में परावर्तित दिखायी देते हैं। पैरिस के कलासंयोजक हार्वे ने वारली परिसर को भेंट दी। वह इस भूमि की विशेषता से बिल्कुल अभिभूत हो गया। उसकी इच्छा थी कि लन्दन का विश्वविख्यात कलाकार रिचर्ड लाँग भी यहाँ आये। उसने लाँग के इस दौरे का आयोजन भी किया। दरअसल, उत्तर आधुनिक दौर के बाद प्रायोगिकता चरम पर पहुँच चुकी थी। कला वास्तव या यथार्थ में होती है। उसे अलग करने की आवश्यकता नहीं होती। या फिर परम्परागत रंग माध्यमों को त्यागकर कुछ कला निर्मिति हो सकती है। 'लैंड आर्ट' का विशेषज्ञ रिचर्ड लाँग भूमि से जुड़कर काम करनेवाला कलाकार है। इस कला में पत्थर, रेत, मिट्टी के जरिए प्रत्यक्ष भूमि पर पूरे परिसर का अनुमान लगाकर इस तत्व की पुनर्रचना की जाती है। रिचर्ड लाँग की काम की यह पद्धति और वारली परिसर - दोनों का मेल हार्वे की कल्पना में था।

रिचर्ड लाँग वारली में आया और उसने अत्यन्त प्रभावित होकर भूमि पर अनेक विश्वस्तरीय कलात्मक अभिव्यक्तियाँ साकार कीं। झील, पगडण्डियाँ, धान की खेती, वारली की मिथक कथाएँ, परिसर, वारली की मिट्टी का विशिष्ट रंग, भूमि की भूमिति और संरचना, धान की भूसी, हल्दी आदि माध्यमों का प्रयोग कर लैंड आर्ट के रूप में उसने अपनी कलाभिव्यक्तियाँ साकार कीं।

भूमि से एकाकार वारली चित्र और भूमि को माध्यम बनानेवाली रिचर्ड की लैंड आर्ट, दोनों का अद्‌भुत संगम। बाद में रिचर्ड ने इसी कल्पना को कलाकृति में परिवर्तित कर जिव्या सोमा मशे और रिचर्ड लाँग - दोनों की एक प्रदर्शनी आयोजित की। पैरिस में भी एक विश्वस्तरीय प्रदर्शनी सम्पन्न हुई।

वान गॉग कहता है, 'मैं खेती करता हूँ तब मुझे भुट्टे या बाल के अनाज का दाना अपनी ज़िन्दगी के लिए मशक्कत करता नज़र आता है।' जिव्या सोमा मशे, विन्सेंट वान गॉग और रिचर्ड लाँग की कलाभिव्यक्ति

इसी बीज की धड़कन के लिए है। बीज और उसका अपार अवकाश खेती चित्रकार है। चाहे ये ऊपरी तौर के बौद्धिक अनुसंधान या बौद्धिक सम्बोधन हों, परन्तु उनकी कला एक श्रमिक के कार्य जैसी है। पहाड़, झील, पत्थर, पक्षी - ये सब मात्र प्रकृति के तत्व नहीं हैं, बल्कि प्रकृति से एकाकार बने किसान जीवन के भी तत्व हैं। किसान अपनी जीवनशैली में इन तत्वों का इस्तेमाल करता है। वान गोग, जिव्या सोमा और रिचर्ड लॉंग भी उन्हीं तत्वों का इस्तेमाल करते हैं। इसलिए ये कलाकार कृषक जीवन की गहरायी से मात्र प्रभावित ही नहीं हैं, बल्कि वारली कृषक बने वारली चित्रकार हैं।

११

भूपेन खक्कर

(१९३४-२००३)

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद दुनिया के सामने पेश करने लायक भारत के दूसरे चित्रकार हैं -भूपेन खक्कर। खक्कर भी रवीन्द्रनाथ की तरह चित्रकला में अपवाद हैं। प्रचलित अर्थ में उन्होंने भी कला की शिक्षा नहीं ली और काफ़ी उम्र के बाद चित्रकला का आरम्भ किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और भूपेन खक्कर, दोनों ने अपने अपने दौर में कलाक्षेत्र के स्थापित मूल्यों को नकारकर अपनी अन्तःप्रेरणा से अलग कलाभिव्यक्ति की। उन्होंने अपने-अपने दौर में भारतीय कला को एक नया आयाम प्रदान किया। उनके चित्र प्रचलित परिपाटी के नहीं थे। अतः उस दौर में उनकी कला को एक कला के रूप में स्वीकृति प्राप्त होने में काफ़ी समय लग गया।

गगेन्द्रनाथ ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके छात्र नन्दलाल बोस जैसे अत्यन्त प्रभावशाली चित्रकार रवीन्द्रनाथ के घर में ही थे। उनकी शैली के कारण ही उनकी कलाएँ 'बंगाल स्कूल' के बाद बतौर भारतीय कला विश्वमान्य हो गयीं। परन्तु रवीन्द्रनाथ की कला से पूरा माहौल बदल गया। अमृता शेरगिल जैसी तरह अत्यन्त मेधावी विचारों की चित्रकार ने भारतीय कला की समीक्षा करते हुए कला को जो गम्भीरता प्रदान की, उससे रवीन्द्रनाथ की कला में और निखार आया। देश की स्वाधीनता के बाद जो कलाकार भारतीयत्व के लिए अथक प्रयास कर रहे थे, इससे 'प्रोग्रसिव' और 'कलकत्ता ग्रुप' के आन्दोलन सामने आये। भूपेन खक्कर की कला ने उनकी भी मर्यादाओं का प्रदर्शन किया। इससे उनका कला सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रभावशाली बन गया और उनके 'प्लेस फॉर पिपल' विचार से प्रेरित 'नेरेटिव' कला भारत में सही मायने में प्रचलित हुई।

साहित्य क्षेत्र में 'लिटिल मैगज़ीन' नाम से लघु-पत्रिकाओं का आन्दोलन चला, जिसके द्वारा कवियों, लेखकों ने रोमंटिक, रंजक और आयातीत साहित्य को नकारकर ठेठ यथार्थ को, ज़िन्दगी के मूल्य को साहित्य में स्थान प्रदान किया। सम्भवतः इसी आन्दोलन के प्रभाव से 'प्लेस फॉर पिपल' आन्दोलन खड़ा हुआ था। क्योंकि इन

आन्दोलनों में अनेक चित्रकार मूलतः लेखक थे। भूपेन खक्कर भी मूलतः लेखक ही थे, जो बाद में चित्रकार बन गये।

जब रवीन्द्रनाथ कला के क्षेत्र में आये, उस समय भारतीय कला आलंकारिक बन गयी थी। उसी प्रकार भूपेन जब कला क्षेत्र में आये तब वह रोमांटिक और रंजक बनी हुई थी। फिगरेटिव चित्रकार अथवा अमूर्तवादियों में अन्तर केवल शैली का था, वरना दोनों एक ही थे। एक तरफ भूपेन के प्रभाव के कारण फिगरेटिव चित्रकारों ने उन्हें अपने क़रीब लाने का प्रयास किया, परन्तु अमूर्तवादी चित्रकारों ने भूपेन को अपना घोर विरोधी माना।

यह साहित्यिक आन्दोलन मात्र साहित्य तक सीमित नहीं रहा बल्कि सांस्कृतिक आन्दोलन भी बन गया। इससे न केवल नाटक-फ़िल्म कला में बदलाव आया, बल्कि चित्रकला भी बदल गयी। इसी कारण इस दौर में साहित्य के सम्पर्क में आये वासुदेव गायतोण्डे, प्रभाकर बरवे, भूपेन खक्कर आदि चित्रकार अन्य भारतीय चित्रकारों की तुलना में अलग और प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। बाद के चित्रकारों ने इन्हीं चित्रकारों का अनुकरण करना स्वीकार किया। बरवे और गायतोण्डे की तुलना में भूपेन तकनीक तथा अनुभव की दृष्टि से भी अपवादात्मक थे। अतः उनका अनुकरण सम्भव नहीं था। क्योंकि अपवाद तो आखिर अपवाद ही होता है। वह प्रातिनिधिक कैसे हो सकता है?

वासुदेव गायतोण्डे और भूपेन खक्कर, दोनों परम्परा से मज़बूती से जुड़े हुए चित्रकार हैं। पीछे जाकर देखें, तो यह परम्परा मौखिक और कारीगरी की परम्परा तक जाती है। मौखिक, वाचिक परम्परा से आनेवाले 'नेरेशन' की अतिसुन्दर अभिव्यक्ति भूपेन खक्कर के चित्रों में है और कारीगरी की तकनीक, कुशलता, विज्ञान और अमूर्त के अलौकिक अहसास की अभिव्यक्ति वासुदेव गायतोण्डे के चित्रों में हैं।

वस्तु सुन्दर होती है, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसकी छाया भी सुन्दर होगी। वस्तु में रंग होता है, छाया में नहीं होता। सुन्दर वस्तु की छाया कुरूप भी हो सकती है। फिर भी वस्तु और छाया एक ही है। इसी सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव गायतोण्डे और भूपेन खक्कर एक-दूसरे की छाया-प्रतिच्छाया हैं। ये दोनों छायाएँ यानी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही बदली हुई प्रतिमाएँ ही हैं। भूपेन खक्कर और वासुदेव गायतोण्डे के चित्रों का एकत्रित ब्यौरा रवीन्द्रनाथ के चित्रों में नज़र आता है। अथवा रवीन्द्रनाथ के चित्रों को तनिक कुरेदकर देखें तो उनमें खक्कर और गायतोण्डे दिखायी देते हैं। भूपेन और गायतोण्डे शैली और विचार की दृष्टि से चाहे अलग हों, परन्तु उनके चित्रों के भीतर से एस्थेटिकली एक ही अभिसरण होता है। इसी कारण भारत के रवीन्द्रनाथ ठाकुर, भूपेन खक्कर अथवा वासुदेव गायतोण्डे को दुनिया चाहती है।

प्रत्येक व्यक्ति में एक ललित और एक दलित अंग होता है। मनुष्य अपने ललित अंग पर गर्व करता है और दलित अंग की चुपके से देखभाल करता है। भूपेन खक्कर ने इंसान को पूरा घुमाकर उसके दोनों -दलित

और ललित अंगों के दर्शन कराये हैं। 'सत्य का दर्शन कराने' के कारण भूपेन खक्कर 'सन्त भूपेन खक्कर' बन जाते हैं। सन्त पारदर्शी होते हैं, पारदृष्टा भी होते हैं।

'झरझर बहती ज़िन्दगी' को कलाकृति में उतारना अलौकिक कार्य है। भूपेन ने जीने की थाह लेकर उसे सगुण-निर्गुण और उसके दुर्गुणों के साथ कलाकृति में उतारा है। इसीलिए उनके चित्र मूर्त हैं, अमूर्त भी हैं। मुर्तामूर्त एकसाथ होने के कारण वे 'परिपूर्ण' हैं।

भूपेन खक्कर की प्रकृति में भी एक काइयाँपन है। यह काइयाँपन उनके चित्रों में भी होता है। हमारी परम्परा के कुछ हठयोगी, औलिया आदि का बर्ताव कुछ ऐसा ही काइयाँ होता हैं। प्रस्थापित को नकारना उनका असल उद्देश्य होता है। हमारी तान्त्रिक परम्परा में एक सम्प्रदाय ऐसे ही धूर्तयोगियों का है। इनका धर्म है, पवित्र और सुन्दर को त्यागकर पाप और कुरूपता को अपनाना। ज़िन्दगी के अवांछित पक्ष हमेशा अपनाते रहना।

भूपेन की धूर्तता और काइयाँपन के कारण उनके चित्र हमेशा विनोदपूर्ण प्रतीत होते हैं। उनके चित्र गम्भीर होकर भी विनोदपूर्ण होते हैं। चित्रकला में इस तरह विनोदपूर्ण होनेकी दृष्टि से भी भूपेन अपवाद हैं। बिना व्यंग्य, पैरोडी के निर्मल और स्वाभाविक विनोद भूपेन के रंग, रूप, आकार में अत्यन्त स्वाभाविक रूप में आते हैं। मात्र रंग-संयोजन विनोदपूर्ण होना असम्भव बात है, जो भूपेन के चित्रों में सहज ही दिखायी देती है।

जिस वस्तु की चुम्बकीय शक्ति भीतर से खत्म हो जाए, वह संज्ञाशून्य हो जाती होगी। भूपेन के चित्र के लोग भी ऐसे संज्ञाशून्य प्रतीत होते हैं, मानो उनकी भीतरी बौद्धिक संवेदनाएँ गुम हो गयी हों। परस्पर छिटके हुए लोग फिर से क़रीब आकर शारीरिक गतिविधियों के रूप में कुछ हरकतें करते हैं। परन्तु वे हरकतें सुसंगत नहीं होतीं। इससे ऐसा नहीं लगता कि वे कुछ संवाद कर रहे हैं। इसी कारण चित्र के मानवीय समुदाय का कोई सामुदायिक कार्य नहीं होता। अतः ऐसा नहीं लगता कि वहाँ कुछ कथा घटित हो रही है। प्रत्येक व्यक्ति आत्ममग्न अथवा खुद के लिए दुर्बोध-सा होता है। ऐसी विसंगति से भी एक नाट्यरूप घटित होता है।

कथा, कहानी, नीतिकथा, बोधकथा आदि कथा के अनेक प्रकार हैं। कथा का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है। परन्तु बिना किसी उद्देश्य के, बिना किसी बोध के बस कथन करते जाना, ऐसी कुछ बेकार कथाएँ भी होती हैं। भूपेन के चित्र ऐसी ही बेकार कथाओं जैसे हैं, बोधकथाओं या नीतिशास्त्र जैसे नहीं। कथन करना मनुष्य की प्रकृति है, इसीलिए कथा बनाते जाना। कथा जैसी होकर भी कथा न होना, केवल चित्र ही बने रहना, यही चित्र का गुण है। इसलिए भूपेन के चित्र 'कथाचित्र' नहीं, बल्कि 'चित्रकथाएँ' हैं। मात्र 'नेरेटिव' न होकर 'विज़ुवल नेरेटिव' हैं।

भूपेन के चित्रावकाश में चित्र के विषय की तुलना में जल और ज़मीन -दो तत्व अधिक होते हैं। ज़मीन का सुन्दर रूप मात्र भूपेन के चित्र में ही देखने को मिलता है। चित्र में मैदान, खाली परिसर, सड़कें आदि विशेष

रूप के होते हैं। क्षितिज के पास ही चित्र समाप्त होने के कारण चित्र में आकाश होता ही नहीं। भूपेन के चित्र में आकाश की तरह सूर्य का प्रकाश भी नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु अपने ही असल गहरे और उजले रंग में दिखते हैं। इस कारण भूपेन मनचाही दिशा में प्रकाश का आभास उत्पन्न कर सकते हैं। इससे चित्र यथार्थ लगने लगता है और उसमें जड़ता नहीं रह जाती। सम्पूर्ण चित्र में एक तरलता आ जाती है और व्यक्ति तथा वस्तु इस तरलता में जुड़ जाते हैं। सम्पूर्ण चित्र में चित्रकार की कल्पना का 'दृश्य' होता है। इसलिए साधारण से साधारण ब्यौरे में, रंग में, रचना में वही कल्पना बार-बार आती है। सम्पूर्ण चित्र चित्रकार की भीतरी कल्पना की रचना होती है।

जल तत्व भी उनके चित्र का अधिकाधिक फलक घेरे हुए होता है। परन्तु यह जल उसके जलचरों के बिना होता है। इस कारण मूल विषय से विषयान्तर नहीं होता अथवा अन्य घटना घटित होकर चित्र का विभाजन नहीं होता। इस पानी और ज़मीन के कारण चित्र में परिसर का अहसास बनता है। यानी सामनेवाले व्यक्ति की हरकतों में ठोस वास्तविता आती है। यह परिसर चित्रों का एक अंग ही बन जाता है, जो अधिकाधिक खाली होता है। इससे चित्र की घटना कथा की घटना नहीं लगती बल्कि जीवन की घटना प्रतीत होती है।

भारतीय पुराण साहित्य तथा पुराण कथाओं का प्रभाव कला पर भी है ही। अनेक चित्रकारों ने इन पुराणकथाओं का अपने चित्रों में इस्तेमाल किया है। भूपेन खक्कर के चित्रों में भी पुराणकथाएँ होती हैं। परन्तु यहाँ भी भूपेन अन्य चित्रकारों की तरह पुराणकथा का ज्यों का त्यों इस्तेमाल नहीं करते। उनकी चालाकी यहाँ भी सामने आती है। चित्र में पुराणकथाओं का इस्तेमाल न कर वे खुद को उस पुराणकथा का हिस्सा कल्पित करते हैं और उसके बाद उस कथा का चित्र में इस्तेमाल करते हैं। पुराणों में खुद की ही प्रतिमा ढूँढ़ते हैं। इससे वह पुराण पुराण नहीं रह जाता, बल्कि उसे अर्वाचीन रूप प्राप्त हो जाता है। परम्परागत जीवन का बाहरी जीवन भूपेन के चित्र का आशय होता है। सभ्य और भद्र लोगों के जीवन की परिधि के बाहर अभद्र और असभ्य लोगों के जीवन का वृत्त होता है। भूपेन ऐसे इंसानों की प्रतिमाओं को पुराणों से खोदकर उनका चित्रण करते हैं। यानी पुराण के बाहर का पुराण। यही भूपेन चित्रों का विषय होता है।

प्रत्येक कला की अपनी परम्परा होती है, जो सामान्य लोकजीवन से आती है। लोककला, लोकसाहित्य को ही साधारण चित्रकार अपनी कला का आधार मानते हैं। यहाँ भी भूपेन इस बनी-बनायी लोककला से खुद को नहीं जोड़ते। लोकबुद्धि और लोक संवेदना से वे अपनी निर्मिति करते हैं। लोककला के बने-बनाए आधार, प्रतीक, चिह्नों का वे प्रयोग नहीं करते। बल्कि लोक-संवेदना, लोकबुद्धि यानी मूल से ही लोककला आत्मसात करते हैं। इसी कारण उनके चित्रों में एक देसीपन बना हुआ है।

लोक-संवेदना के कारण ही भूपेन के चित्र लघुचित्रों की याद दिलाते हैं। परन्तु लघुचित्र में जो नैपुण्य, जो

कौशल, जो विषय होता है, वह तो भूपेन के चित्र में बिल्कुल भी नहीं मिलता। लघुचित्र में जो भी नैपुण्य या कौशल है वह भी प्राकृतिक नहीं होता। ग्रामीण चित्रकारों को राजाश्रय प्राप्त होने के कारण ही उनकी कला में निखार आया है। आश्रित की तरह रहकर, राजाभिरूचि का पोषण करने के कारण यह कला लोककला से परिवर्तित हो गयी। फिर भी यह कल्पना की जा सकती है कि राजा की उच्च अभिरूचि के बारे में न सोचकर अथवा राजाश्रय में न रहकर यह कला वृद्धिंगत हो जाती तो आज भूपेन खक्कर के चित्र में जो देसीपन अनुभव होता है, वह भी उसी रूप में आ जाती। यानी भूपेन के चित्र के बहाने हम परम्परा के पीछे की असली परम्परा की कल्पना कर सकते हैं।

लोक-संवेदना से जो तैयार होता है, वह भूपेन के चित्र की तरह दिखता है। अथवा भूपेन किसी भी वस्तु का, व्यक्ति का चित्रण करे, तो भी वह लोककला की तरह ही दिखता है। इतना वे एकाकार हो गये हैं। लोक-संवेदनाओं की इस तरह थाह लेनेवाला चित्रकार भारतीय कला के परिप्रेक्ष्य में दूसरा नहीं है। इसी कारण एक भारतीय कलाकार के रूप में भूपेन खक्कर का दुनिया ने सहज ही स्वीकार किया है।

१२

अनीश कपूर

(१९५४)

Vishnu, the powerfull Hindu deity, has 1000 names, each of express a different attribute. With no single material nature, he may manifest in any form. Invoking this mythic representation of simultaneous unity and multiplicity, Kapoor gave a single title to an entire body of work. From this early movement of the 1000 names series, it is clear that Kapoor's art, while resolutely abstract, would have range of association. Moreover, those associations would be grounded, in the physical world, in the most basic bodlily and constructed forms, yet would also connect to spiritual questions of origin and belief. The penetrating red cone of 1000 names, 1979-80 might read as phallic, but it also is reminiscent of a spiralling minaret, like that of the great mosque of Samarra in Iraq. ('अरूप' पत्रिका से साभार)

More remarkable still is that in Kapoor's art the noncompositional critique of the romantic model of artistic creation merges with an Indian concept of self-manifestation. Svayambhav is a Sankrit term referring to that which is created of its own accord rather than by the hand of man. Thus, stones from the Narmada, a holy Indian river, which have been polished into elliptical shapes by the fast-moving currents, are revered as lingams,

sacred objects that represent the god Shiva. ('अरूप' पत्रिका से साभार)

किसी वस्तु को केन्द्र में रखकर एक प्रदक्षिणा पूर्ण करने के बाद हम उस वस्तु के भीतर जाते हैं। वहाँ अनेक दिव्य संवेदनाओं का अहसास होता है। हमारी आँखों को वस्तु चाहे तीन मितियों में दिखायी देती हो, परन्तु वस्तु में ऐसी अनेक मितियाँ होती हैं, जो हमें दिखायी नहीं देतीं। ऊपर से उन मितियों की अलग-अलग संवेदनाएँ होती हैं। इससे वस्तु रहस्यपूर्ण अनुभव होती है। यह एक मिथक ही होता है।

'विष्णु के सहस्र नाम हैं'

'कलाकार वस्तु नहीं, मिथक की रचना करते हैं।'

- अनीश कपूर

कोई कलाकार जब कोई वस्तु या रूप गढ़ता है, उस रूप या वस्तु को गढ़ना ही उसका उद्देश्य नहीं होता, बल्कि उस रूप से, वस्तु से वह कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है। यही अभिव्यक्ति उसका लक्ष्य होती है, जिसे वह रूप अथवा वस्तु से ही हासिल कर सकता है। मानवीय हस्तक्षेप से परे की वस्तुओं में भी मनुष्य की मानसिक संवेदनात्मक बातें होती हैं, जो उसे आकर्षित करती हैं। ऐसी स्वयम्भू वस्तुएँ मनुष्य को अपनी स्वनिर्मित वस्तुओं से भी अधिक 'दिव्य' लगती हैं।

साम्प्रदायिक परम्परा अथा आध्यात्मिक परम्परा में इसी कारण ऐसी दिव्य बातें अलौकिक प्रतीत होती हैं। साक्षात्-आकार, प्रकटन अथवा स्वयम्भू को उच्च कोटि की अनुभूति माना जाता है। इसी परम्परा को केन्द्र में रखकर अनीश कपूर अपनी कलानिर्मिति करते है। भारतीय मिथक, वास्तुपरम्परा, दर्शन, धर्मशास्त्र - सबका प्रभाव अनीश कपूर की कला पर है। इनके प्रति उनमें तीव्र आकर्षण है।

अनीश कपूर विश्व के समकालीन कलाक्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली कलाकार है। लन्दन में बसे हुए इस कलाकार की मुख्य बात यह है कि वह जन्म से भारतीय है। अर्थात् भारतीय वंश का वैश्विक कलाकार है।

यूरोप की कला-परम्परा विज्ञाननिष्ठ है तो भारत की अध्यात्मनिष्ठ। विज्ञान और अध्यात्म का अद्भुत मेल अनीश कपूर की कला में है। यद्यपि अनीश कपूर की कला भारतीय और यूरोपीय कला के मिश्रण का उत्कृष्ट नमूना है, फिर भी अनीश कपूर अपने आप को भारतीय कलाकार ही मानते हैं।

स्वयम्भू वस्तुओं के प्रति अनीश कपूर का अत्यधिक आकर्षण है। उसका आग्रह होता है कि मनुष्य का ऐसी निर्मिति में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसी कारण उसकी रचनाएँ भावनाप्रधान नहीं होती हैं। वे उसी प्रकार तटस्थ प्रतीत होती हैं, जैसे विज्ञान। अध्यात्म में मानवीयता की उन्नत स्थिति होना अपेक्षित है। परन्तु वह एक विरक्त स्थिति होती है। अनीश कपूर की आकार निर्मिति भी ऐसी ही तटस्थ और विरक्त भाव से होती है, और

फिर भी रंग की दृष्टि से वह कलाकृति अत्यन्त आकर्षक और रसपूर्ण बनती है। अर्थात् स्वयम्भू वस्तु मानवीय हस्तक्षेप के परे हो, परन्तु फिर भी मनुष्य को अपनी मानसिक संवेदनाओं के कुछ बिम्ब उस वस्तु से प्रकट होते दिखायी देते हैं। इसी कारण अनीश कपूर की कला निर्मिति के बजाय 'निर्माण' अधिक लगती है।

अनीश कपूर रंग और माध्यमों का इस्तेमाल प्रचलित ढंग से नहीं करता। उसकी किसी भी कलाकृति में रंगद्रव्य नहीं होता। 'धूलिरंग' के माध्यम से वह अपनी कला का निर्माण करता है। भारतीय धर्म-सम्प्रदायों में कुछ रंग सम्बन्धित सम्प्रदायों के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। ये रंग यानी अलग अलग रंगों के गुलाल ही होते हैं। अलग-अलग उत्सवों के समय गुलाल उड़ाना यहाँ की परम्परा है। अनीश कपूर अपनी कलाकृतियों में इन्हीं धूलिरंगों का प्रयोग करते हैं। वह इन रंगों का मिश्रण नहीं करते, बल्कि मूल रूप में ही उनका प्रयोग करते हैं। ऐसे साम्प्रदायिक रंगों से भी एक तरह से मिथक का अहसास होता है।

कलाकार वस्तु नहीं, मिथक की रचना करते हैं।

अनीश कपूर की रचना सरल होती है। उसका प्रत्येक आकार, तत्व स्वतन्त्र होता है। ऐसे सभी स्वतन्त्र तत्वों की एकत्रित योजना होती है। ऐसे स्वतन्त्र आकार का फिर अपना स्वतन्त्र रंग होता है। ऐसी समूह रचना से वे आकार ही एक-दूसरे के सन्दर्भ ही बन जाते हैं। एक-दूसरे के सन्दर्भ से ही स्वतन्त्र बने रंग परस्पर संयोजन में आते हैं और एक अलग रंग-संयोजन बन जाता है।

चित्र-शिल्प परम्परा में कलाकार चाहे जितना प्रयोगशील हो, पर वह स्थूल रूप में मानवीय आकार, प्रकृति आदि की प्रतिमाओं का प्रयोग करता ही है। परन्तु अनीश कपूर इस परम्परा को हटाकर केवल वस्तुनिर्मिति करता है। ऐसी वस्तुनिर्मिति से वह ठेठ कला के बुनियादी अंग से यानी कारीगरी से जुड़ जाता है। कोई भी कारीगरी तकनीकी ज्ञान के माध्यम से विकसित होती है। अनीश कपूर भी अपनी निर्मिति के लिए विशेष तकनीक विकसित करता है।

कुम्हार पहिए की गति से मिट्टी के लोंदे को आकार देकर कोई वस्तु बनाता है। यह वस्तु खोदकर या रचकर बनायी नहीं गयी है, वह गति की सहायता से निर्मित हुई है। इस कारण आकार की दृष्टि से वह स्वयम्भू प्रतीत होती है। ठीक उसी प्रकार, जैसे नदी के पानी के गतिशील प्रवाह से पत्थर को आकार प्राप्त होता है और वे भी स्वयम्भू प्रतीत होते हैं।

गति के प्रति अनीश कपूर को अत्यधिक आकर्षण है। इस कारण उसकी प्रत्येक निर्मिति गति से ही होती है। गति से ही निर्मिति होने के कारण उसकी कलाकृति के आकार सामान्यतया वृत्ताकार, घनवृत्ताकार अथवा मुक्त, इस तरह निराकार होते हैं। एक ही शक्ति के अनेक रूप अथवा उसकी अनेक मितियाँ अथवा एक ही बीज का असीम विस्तार अथवा एक ही घड़े के अनेक आकार - इस तरह एक में अनेक दिशाओं के रहस्य अनीश कपूर

को आकर्शित करते हैं।

'विष्णु के सहस्त्र नाम हैं।'

गति के आकर्षण में कला का अमूर्त बनना स्वाभाविक है। जॉन टर्नर, जैक्सन पोलॉक ऐसे ही चित्रकार थे, जो गति के प्रति आकर्शित थे। गति के आकर्षण से ही अनीश कपूर रंगों के गोले सीधे तोप से दीवार पर दागता है। तोप से दीवार तक के फासले का नाट्य आँखों की क्षमता से परे है। अतः हमें केवल तोप और दीवार पर छिन्न-भिन्न हुए रंगीन आकार ही दिखायी पड़ते हैं। दीवार की इस तरह निराकार की प्रतिमा स्वप्नमय, अद्‌भुत लगती है। ये आकार कलाकार की कल्पना या उसके विचार नियन्त्रित प्रयोजन के नहीं होते। वे होते हैं, बस स्वतन्त्र, गति का चित्ररूप।

'स्वयम्भू।'

दो दीवारों के दरमियान नब्बे अंश का कोण बनाकर उसके बीचोबीच पैंतालीस अंशों के कोण में रंग दागने का माध्यम तोप संयोजित होती है। दीवार के कोण पर रंग का प्रहार होने के कारण उस प्रहार की शक्ति दोनों पार्श्वों में विभाजित होकर स्थिर हो जाती है। दोनों पार्श्वों में यह प्रहार विभाजित होकर रंग-रचना समान्तर बन जाती है और एक कल्पित चित्र जैसा चित्र सामने खड़ा हो जाता है। अनीश कपूर का यह चित्र अपने भीतर हिंसा का भाव भरता है। रक्त, मांस आदि का आभास करानेवाली घटना सामने खड़ी हो जाती है। दो दीवारों के बीच के कोने में खड़ी रेखा और यह रक्त-मांस का अहसास; अपने आप ही 'नरसिंहावतार' के मिथक का रूपक साकार करता है।

'कलाकार वस्तु नहीं, मिथक की रचना करते हैं'

एक ही दिशा में जानेवाली अथवा वृत्ताकार घूमकर किसी भी दिशा से विहीन - दोनों प्रकारों में गति बहुत तेज़ रूप धारण करती है। एक केन्द्र में स्थिर होकर कम्पास जैसी वृत्ताकार घूमनेवाली गति से भी अनीश कपूर अपनी कला निर्मिति करते रहते हैं। पूर्ण वृत्ताकार, अर्धवृत्ताकार अथवा वृत्त का अल्प हिस्सा (कोष्टक की तरह) अनेक आकार बनाते हैं। भीतर का अहसास एक रहकर बाहर से असंख्य आकार बनते हैं। केन्द्र एक ही हो तो भी परिधि असीम होती है।

'विष्णु के सहस्त्र नाम हैं।'

अनीश कपूर की कलाकृति में गति के साथ-साथ प्रकाश की भी क्रीड़ा होती है। धातुओं का अत्यन्त विशालकाय आयीना भूमि पर रखकर उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब तोला जाता है। इससे भूमि पर ही एक आकाश का टुकड़ा अवतरित होने की तरह एक स्वप्निल दृश्य बनता है। झाड़-झंखाड़ में तरल बादलों का रूप जादुई लगता है। कलाकृति देखने के बाद यह दृश्य केवल दृश्य नहीं रह जाता, बल्कि उसमें भी चन्द्रमा के लिए जिद करनेवाले

राम का मिथक प्रकट होता है।

अपने परिसर को अपने भीतर समा लेना आयीने का गुण है। अनीश कपूर कभी-कभी इसके विपरीत जाकर अलग ही रूप तैयार करते हैं। धातु से बना उनका आयीना अनेक टुकड़ों में बँटा होता है। प्रकाश अनेक कोणों में परावर्तित होने के कारण आयीना सामने का दृश्य ज्यों का त्यों नहीं दिखा पाता। परिणामतः सामने का दृश्य छोटे-छोटे दृश्यों में बिखरकर उसका एक अपरिचित पुनर्रूप बनता है। अर्थात्, रूप का एक मिथक ही तैयार होता है।

'विष्णु के सहस्त्र नाम हैं।'

अनीश कपूर को रंग, रूप और प्रत्येक वस्तु में मिथक ही मिथक महसूस होते हैं। भारतीय परम्परा में यह धारणा है कि चराचर के हर किसी में आत्मा का अस्तित्व होता है। शायद इसी कारण अनीश कपूर को भारतीय वास्तु, अध्यात्म, कारीगरी, परम्परा -सभी के प्रति तीव्र आकर्षण है। वह कहते हैं, 'मैं भारतीय हूँ। मुझे इसका गर्व है। भारतीय जीवन मिथकीय दृष्टि से समृद्ध और शक्तिसम्पन्न है।'

सम्वत्सरमूला-अग्नीषोमविद्या

मोतीलाल शास्त्री

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो मनुष्याः।
वाचीमां विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी।।१।।
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता, अमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु।।२।।
प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः।
श्रीविश्वेशदयोदयाच्च समभूत काश्यां सुविद्योदयः।।
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्तिभाग्योदयः।
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः।।३।।
ओष्ठापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पविः।
सर्वेस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत्।।४।।
तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे।
यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटाः।।५।।

भारत की मूलनिधिरूप वेदशास्त्र के 'सृष्टिविज्ञान' को लक्ष्य बनाकर आज जो कुछ निवेदन किया जा रहा है, वह सम्भवतः अनेक शताब्दियों के अनन्तर साकाररूप धारण करने वाले वैसे सुखःस्वप्न हैं, जिनकी साकाररूपता के लिए भारतीय आस्तिक प्रजा अनेक शताब्दियों से आशा-प्रतीक्षा कर रही थी। कविकुलगुरु कालिदास के युग में, जो कि सत्तानुबन्ध से भोज का युग भी माना जा सकता है वेदाभ्यासपरायण भारतीय के लिए एक बहुत बड़ा सम्मानित पद नियत था, और वह पद था- 'वेदाभ्यासजड़मति'। भोजकालीन साहित्यिक युग में शिखा-सूत्रधारी वेद-पारायणपाठी को इसी सम्मानित पद से आमन्त्रित किया जाता था। और सम्भवतः आज

के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्रयुग में भी वेदशास्त्र के सम्बन्ध में सर्वसाधारण की कुछ ऐसी ही मान्यताएँ हैं।

'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' - 'नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः'-'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि वेदमन्त्रों का पद-घन-जटा-उदात्तादि स्वर-सन्धानपूर्वक पारायण करते रहना, पारलौकिक अदृष्ट फल-प्राप्ति-कामना से इन मन्त्रों के माध्यम से ग्रहशान्ति-स्वस्त्ययन-आदि कर्म सम्पादित कर लेना, बहुत अधिक हुआ, तो लोकोत्तर किसी अचिन्त्य आत्मब्रह्म की कल्पना कर तदर्थ आत्मचिन्तन नाम की एक विशेष अज्ञात प्रक्रिया में आत्मविभोर बने रहना, और यों अपनी आस्था-श्रद्धा के माध्यम से वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धांजलियाँ समर्पित करते रहना ही भारतीय मनुष्य का वेदशास्त्र के प्रति अनन्य कर्त्तव्य समाप्त है। कब किस युग से आरम्भ होकर अन्धयुग का उपक्रम हुआ? इसका कोई ऐतिहासिक मापदण्ड नहीं है। यदि है भी, तो उसका इसलिए कोई महत्त्व नहीं है कि, प्रतिक्षण परिवर्तनशील मन-शरीर-भावों से अनुप्राणित भौतिक इतिहास को ऋषिप्रज्ञा ने कभी कोई भी महत्त्व नहीं दिया। भारतीय चिरन्तन प्रज्ञा पर वर्तमानयुग के पुरातत्ववेत्ताओं तथा इतिहासमर्मज्ञों के इस अभियोग कि 'इन भारतीयों का कोई मौलिक व्यवस्थित इतिहास रहा ही नहीं' भारतीय मनुष्य अभिनन्दन ही करेगा क्योंकि मन और शरीर के इतिहास को वह इतिहास ही नहीं मानता। अपितु आत्म-समन्वित बुद्धियुक्त सांस्कृतिक इतिहास ही उसकी दृष्टि में उपयोगी इतिहास रहा है, जिन एवंविध सांस्कृतिक आत्मबुद्धिनिबन्धन चिरन्तन इतिहासों के सन्देश-वाहक निगम-आगम-पुराण-स्मृति आदि ग्रन्थ सदा से ही भारतीय मनुष्य के लिए उपास्य रहे हैं, इस सांस्कृतिक इतिहास के मूलभूत वेदशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सृष्टीतिहास के सम्बन्ध में ही आज हमें भारत के महामहिम राष्ट्रपति के सम्मुख दो शब्द निवेदन करने हैं।

सम्वत्सरयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि और सोम के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना है। 'अग्नि' से सम्बन्ध रखने वाली उत्तेजनापूर्ण रौद्री घटनाओं का विश्लेषण ही हमारा उद्देश्य नहीं है। अपितु घोर-आग्निरस-अग्नि को शिव-शान्त-भाव में परिणत रखने वाले सोम के सम्बन्ध से ही, इस सम्बन्ध से रुद्राग्नि को सौम्याग्नि बनाते हुए ही अग्नीषोमविद्या की रूपरेखा उपस्थित की जाएगी। इस उपस्थिति से पूर्व अग्नि-सोम के मूलाधारभूत 'वेद' के सम्बन्ध में एक वैसी नवीन धारणा व्यक्त की जायगी, जिसे सुनकर यहाँ उपस्थित सभी आस्तिक बन्धु सहसा यह कल्पना करने लग पड़ेंगे कि 'अरे! वेद के नाम से आज हम ये कैसी भ्रान्त धारणाएँ सुनने आ बैठे।'

वेदशास्त्र के सम्बन्ध में भारतीय आस्तिक प्रजा की ऐसी धारणा है कि ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-भेद से मन्त्रात्मक संहितावेद चार भागों में विभक्त है। एवं प्रत्येक वेद क्रमशः २१-१०१-१०००-९-इन अवान्तर शाखाओं में विभक्त है, जिनके संकलन से चारों वेदों के शाखाग्रन्थों की संख्या ११३१ विश्रान्त है। प्रत्येक शाखा का एक-एक ब्राह्मणग्रन्थ, एक-एक आरण्यकग्रन्थ, एवं एक-एक उपनिषद्ग्रन्थ और है। ब्राह्मणग्रन्थ-जिसे कि विधिग्रन्थ भी कहा गया है-आरण्यकग्रन्थ तथा उपनिषद्ग्रन्थ की समष्टि ही सनातनसम्प्रदाय में 'ब्राह्मणवेद' कहलाया है। ब्राह्मणवेद के शाखाग्रन्थों का यदि संकलन किया जाता है तो ३३९३ ग्रन्थ हो जाते हैं। इनमें ११३१ संहिताग्रन्थों को मिला

देने से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के कुल ४५२४ वेदग्रन्थ हो जाते हैं, जिनका- 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि आर्षवचन से संग्रह हुआ है।

उक्त आस्था के सर्वथा विपरीत आज हम यह निवेदन करने का दुस्साहस कर रहे हैं कि, 'कदापि उक्त शब्दात्मक वेदग्रन्थों का नाम वेद नहीं है', आस्था सब की इस सम्बन्ध में यही चली आ रही है कि, 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि वर्णाक्षरपदवाक्य मन्त्रसमष्टिरूप शब्दात्मक वेदशास्त्र ही 'वेद' है, एवं यह शब्दात्मक वेदशास्त्र किसी भी मानवविशेष की प्रज्ञात्मिका रचना से कोई भी सम्बन्ध न रखता हुआ विशुद्ध ईश्वरीय शास्त्र है, अपौरुषेय शास्त्र है, नित्यकूटस्थ शास्त्र है। ईश्वर की वाणीरूप शब्दात्मक वेदशास्त्र की अपौरुषेयता का भी कुछ रहस्य है, जिसका शब्दार्थ के तादात्म्य-सम्बन्धात्मक औत्पत्तिक सम्बन्ध पर विश्राम माना गया है एवं इस शब्दनित्यता की दृष्टि से वेदशास्त्र की अपौरुषेयता को भी सुरक्षित रखा जा सकता है, रखा गया है। तथापि तत्वतः 'वेद' शब्दार्थ की वास्तविक पर्य्यवसान भूमि तो 'मौलिकतत्त्व' ही माना जाएगा, जिस तत्व की स्वरूपव्याख्या करने के कारण 'ताच्छव्य' न्याय से शब्दात्मक ग्रन्थ भी आगे जाकर 'वेद' नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। उसी प्रकार जैसे कि विद्यतत्व का प्रतिपादक ग्रन्थ लोक में 'विद्यग्रन्थ' कहलाने लग पड़ा है। विद्यद्ग्रन्थ तत्वप्रतिपादक पुस्तक है, स्वयं विद्यत् नहीं। एवमेव वेदग्रन्थ वेदतत्त्व की पुस्तक है, स्वयं वेदतत्त्व नहीं, जिस इत्थंभूत तात्विकवेद की ओर विगत अनेक शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा का ध्यान गया ही नहीं। अतएव वैदिक तत्ववाद के समन्वय में, वेदार्थसमन्वय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो पड़ीं। वेदतत्व के माध्यम से सर्वप्रथम इसी भ्रान्ति का निराकरण अभीष्ट है। तदनन्तर ही वेदात्मक सम्वत्सरयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली अग्नीषोमविद्या का दिग्दर्शन कराया जाएगा।

क्या तात्पर्य्य है तत्त्वात्मक वेद का ? प्रश्न के सम्बन्ध में हमें यह समाधान करना पड़ेगा कि ऋषिप्रज्ञा की एक यह विशिष्ट शैली, किंवा चिरन्तन पद्धति रही है कि 'जिस तत्व को समझाने के लिए ऋषि ने जो शब्द नियत किया है, उस शब्द में ही तद्वाच्य तत्व की मौलिक स्वरूप व्याख्या ज्यों की त्यों निहित कर दी गयी है।' अतएव वेदार्थपरिशीलन के लिए किसी स्वतन्त्र व्याख्या का अन्वेषण करना सर्वथा व्यर्थ हैं। 'वेद क्या है ?' प्रश्न का समाधान स्वयं 'वेद' शब्द के ही गर्भ में अन्तर्निगूढ़ है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। प्रकृत में तथाकथित शैली के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणरूप से 'हृदयम्' शब्द ही आप के सम्मुख रक्खा जा रहा है। यह शब्द सभी सहृदयों के लिए सुपरिचित है। शब्द 'हृदय' नहीं है, अपितु 'हृदयम्' है, अर्थात् नपुंसकलिंगान्त है। इस शब्द में 'हृ' इत्येकमक्षरम्, 'द' इत्येकमक्षरम्, एवं 'यम्' इत्येकमक्षरम्, इस रूप से तीन अक्षर हैं। वर्ण यद्यपि अनेक हैं इस शब्द में। किन्तु 'स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैव्यंजनैः' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्तानुसार अक्षरात्मक स्वर तीन हीं हैं। व्याकरण के सुप्रसिद्ध 'हृञ् हरणे' धातु से लिया गया 'हृ' नामक प्रथम अक्षर। 'दो अवखण्डने' धातु से लिया गया 'द' नामक द्वितीय अक्षर। एवं 'यम्' नामक तृतीय अक्षर बना दोनों का नियामक, किंवा नियन्ता। तात्पर्य्य तीनों का क्रमशः हुआ आहरण-खण्डन एवं नियमन। 'हृ' इत्याहरणभाव, आदानभाव, संग्रहभावः। 'द' इति

खण्डनभावः, विसर्गभाव, त्यागभाव। 'यम्' इति उभयो संयमनम्, नियमनम्। तात्पर्य्य-जो शक्ति वस्तु का संग्रह करती है, लेती रहती है, उसका नाम हुआ 'ह्'। जो शक्ति आये हुए पदार्थों का विसर्जन करती रहती हैं, फेंकती रहती है, उसका नाम हुआ 'द'। एवं जिस नियामक-तीसरी शक्ति के आधार पर यह आदान और विसर्ग-क्रिया प्रक्रान्त रहती है, दोनों की नियामिका शक्ति-प्रतिष्ठा शक्ति का नाम हुआ 'यम्', तीनों शक्तियों की समुच्चितावस्था का ही नाम हुआ- 'हृदयम्'।

विसर्गात्मिका शक्ति के लिए वेद में पारिभाषिक शब्द नियत हुआ 'प्राणन' एवं आहरणशक्ति के लिए शब्द नियत हुआ 'अपानन'। 'जाना' प्राणन है, आना अपानन है। केन्द्र से परिधि की ओर जाना प्राणन है, यही विसर्ग है। परिधि से केन्द्र की ओर आना अपानन है, यही आदान है। पीछे हटना अपानन है, आगे बढ़ना प्राणन है, दोनों का जिस मूलबिन्दु पर नियमन है, वही मध्यस्थ 'व्यानन' है। श्रुति कहती है-

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेताषुपाश्रितौ ।।१।।

प्राणनरूप श्वास एवं अपाननरूप प्रश्वास से ही मरणधर्म्मा प्राणी जीवित रहते हैं, ऐसी सर्वसाधारण की मान्यता है। इसी आधार पर 'जब तक साँस तब तक आस' यह किंवदन्ती प्रचलित हुई है। किन्तु श्रुति इस लोकधारणा के सर्वथा विपरीत हमें यह बतला रही है कि न तो मर्त्य प्राणी प्राण (श्वास) से जीवित रहता है, न अपान (प्रश्वास) से जीवित रहता। अपितु वे तो उस किसी तीसरे ही (व्यान) तत्व से जीवित रहते हैं, जिस (व्यान) के आधार पर प्राण और अपान स्वरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं शिरोऽन्त स्थानात्मक शिखान्त स्थान से अनुप्राणित ब्रह्मरन्ध्र स्थान से प्रविष्ठ होने वाला सौर इन्द्रप्राण अध्यात्म में प्रतिष्ठित रहता है। यह हृदयस्थ व्यान पर्य्यन्त पहुँच कर यहाँ से प्रत्याहित होकर पुनः उसी मार्ग से परावर्तित हो जाता है। आगमनदशा में यही 'प्राण' है, गमनदशा में यही 'उदान' है। एवमेव ब्रह्मग्रन्थिद्वार से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव आग्नेय प्राण आगमनदशा में 'समान' है, निर्गमन दशा में 'अपान' है। हृदयस्थ व्यान से प्रत्याहित होकर ही यह पार्थिवप्राण भी सौरप्राणवत् दो अवस्थाओं में परिणत हो रहा है। यों प्राण और अपान के प्राणोदान, समानापान दो दो विवर्त्त हो जाते हैं। यह गमनागमन मध्यस्थ व्यानप्राण पर ही अवलम्बित है। द्वितीय मन्त्र ने इसी की स्वरूपव्याख्या करते हुए कहा है कि हृदयस्थ व्यान ही प्राण को उदान रूप से ऊपर ले जाता है, अपान को अपान रूप से नीचे फैंकता है। मध्यस्थ इस वामनरूप यज्ञिय वैष्णव व्यान प्राण को आधार बनाकर ही पार्थिव अपान (आग्नेय) देवता, एव सौर प्राण (ऐन्द्र) देवता स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ।।

मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ।।२।।

-कठोपनिषत् ५।५,३

प्राण-अपान-व्यान, तीनों शब्द सुप्रसिद्ध हैं। प्राण 'द' है, अपान 'ह्' है, व्यान 'यम्' है। इस प्राणत्रयी की समष्टि ही 'हृदयम्' है। सौरजगत् को लक्ष्य बनाएँ। सम्पूर्ण प्रकाशमण्डल सौररश्मियों का समूहमात्र है, जो सहस्रधा महिमानः सहस्रभावापन्ना रश्मियाँ सूर्यकेन्द्र में आबद्ध हैं, नियन्त्रित हैं। नियन्ता ही व्यान है, जिससे नियन्त्रित सौररश्मियाँ प्राणात्-अपानात्-रूप से गतिशीला बनी हुईं हैं। प्रत्येक रश्मि पीछे हटती हुई अग्रगामिनी है। यही सर्पणाप्रक्रिया है, यही प्राणदपानलक्षण विसर्गादान व्यापार है। धूप और छाया के मध्य में एक रेखा खींच दीजिए। आप देखेंगे कि रश्म्यवच्छिन्न प्रकाश पीछे हटता हुआ ही आगे बढ़ रहा है। पीछे हटना ही अपानन है, आगे बढ़ना ही प्राणन है। जो पीछे नहीं हट सकता, वह कदापि अग्रगामी नहीं बन सकता। वर्तमानरूप मध्यस्थ व्यान केन्द्र पर प्रतिष्ठित मानव भूतरूप अपानन के इतिहास के आधार पर ही भविष्यद्रूप प्राणन के इतिहास-सर्जन में सफलता प्राप्त करता है। जो भूत को विस्मृत कर देता है, उसका भविष्यत् भी अन्धकार पूर्ण है, एवं उभयमध्यस्थ वर्तमान भी अव्यवस्थित है। विशाल प्रांगण (मैदान) में अनुधावन करने वाले मल्ल को पहिले जंघाप्रकोष्ठ का ताड़न करते हुए (खम ठोकते हुए) पीछे ही हटना पड़ता है, तभी वह अग्रानुधावन में विजयलाभ करता है। वाष्पशकटी (ट्रेन) के इंजिन का अग्रस्थ धुर पीछे हटता हुआ ही तेा अग्रगामी बनता है। सर्वत्र गतितत्व इस विसर्गादानात्मक प्राणदपानद् भाव से ही नित्य समन्वित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है-

अयंगौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरम्पुरः ।।
पितरंच प्रयन्त्स्वः ।।१।।
अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती ।।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ।।२।।
त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतंगाय धीयते ।।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ।।३।।

- ऋक्संहिता १०।१८६।१,२,३

एति च प्रेति च लक्षणा सुप्रसिद्धा 'गायत्रीविद्या' के द्वारा भी इसी आदान विसर्गात्मिका क्रिया का स्वरूप

'पृश्नि', अर्थात् सप्तवर्णसमन्वयात्मक सावित्राग्निमय सूर्यरायण 'माता' नामक पृथ्वीलोक, 'पिता' नामक द्युलोक, एवं उभयोपलक्षित अन्तरिक्षलोक, इन तीनों लोकों में अपने रश्मिप्रसाररूप महिमाभाव से व्याप्त हो रहे हैं (१)। सूर्यनारायण की ज्योतिर्म्मयी ये रोचना (रश्मियाँ) अपने सुसूक्ष्म प्राणरूप (गतिरूप) से सम्पूर्ण पदार्थों के अन्त-गर्भ में प्रविष्ट रहती हुई प्राणत्-अपानत् रूप से व्याप्त हैं। इन प्राणदपानल्लक्षणा रश्मियों से महिमामय बनते हुए महिष सूर्य सम्वत्सरमण्डलात्मक त्रैलोक्यरूप सम्पूर्ण द्यु लोक को प्रकाशित कर रहे हैं (२)। वषट्कारविज्ञान के अनुसार एक सहस्र भावों में परिणत सौररश्मियाँ ३०-३० अहर्गणों के अनुपात से ३३ अहर्गणात्मक वषट्कारमण्डल की स्वरूप-समर्पिका बनी हुई हैं। ३०-३०-रश्मिरूप एक एक रश्मिव्यूह एक एक विश्राम धाम बना हुआ है सूर्य का, यही तात्पर्य है। इत्थभूत केन्द्रस्थ पतंग (सूर्य) के लिए ३०-३०-वामो से समन्वित ३३ अहर्गणात्मक वाड्मय वषट्कार-मण्डल व्यवस्थित रूप से आहुतिप्रदाता बना हुआ है (३)।

विश्लेषित हुआ है। पार्थिव आग्नेय प्राणात्मक अन्नादधर्म्मा देवताओं ने यह अनुभव किया कि वे अन्नसोम की आहुति के बिना अपने स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकते, जीवित नहीं रह सकते। सोम तथा पार्थिव आग्नेय देवताओं से अत्यन्त विदूर तीसरे द्युलोक में, जो कि तृतीय लोक सूर्य से भी ऊपर 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध है। 'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' (शत. ३।२।४।१।) इत्यादि के अनुसार पारमेष्ठ्य तृतीय लोक में वहाँ के प्रचण्डरूप से धोधूयमान सर्पणशील वायु के द्वारा तथा आप्यप्राणरूप गन्धर्वों के द्वारा सुगुप्त था। उसे ही भूलोक पर लाने की इच्छा देवताओं ने की। चार पैर वाली जगती ने कहा, मैं सोम का अपहरण करूँगी। जगती गयी केवल प्राणन ही करती हुई। इसी निर्बलता से अपने तीन पैर सोमरक्षक गन्धर्वों से कटवा कर एक पैर से जगती निराश बनती हुई लौट आयी। अनन्तर चार पैर वाली त्रिष्टुप् गयी। प्राणन के साथ इसने अपानन तो किया, किन्तु अन्तरिक्षाकर्षण से अपानन पूर्णरूप से व्यक्त न हो सका। फलतः अपना एक पैर कटवा कर तीन पैरों से त्रिष्टुप् भी निराश ही लौट आयी। अब गायत्री चली एति-प्रेतिरूप उभय बल को लक्ष्य बनाकर। 'एति च प्रेति-चान्वाह' ही चतुष्पदा गायत्री की आधारभूमि बना। परिणामस्वरूप पारमेष्ठ्य गन्धर्व गायत्री के वेग को न सह सके। झपाटा मारकर गायत्री ने सोम का भी अपहरण कर लिया एव गन्धर्वों के द्वारा क्षत जगती के तीन पैर तथा त्रिष्टुप का एक पैर, इन चार पैरों को भी ले आयी। इस आहृत सोम से जहाँ पार्थिव देवता तीन टाँगों वाली त्रिष्टुप आयी अपना एक पैर माँगने, तो गायत्री ने कहा, वह तो मेरा स्वरूप बन चुका है, तुम चाहो तो मुझ में मिल सकती हो। त्र्यक्षरा-त्रिष्टुप् अष्टाक्षरा गायत्री से मिलकर एकादशाक्षरा बन गयी। और यों गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-नामक छन्दों का स्वरूपसमर्पक यह सोमापहरणाख्यान अनेक सृष्टितत्वों का परोक्षभाषा में विश्लेषण करता हुआ उपरत हुआ, जिसका 'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद् आचक्षते' (श्रुतिः) इत्यादिरूप से ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से निरूपण हुआ है।

वेदशास्त्र के तथाकथित गायत्री रहस्यात्मक सौपर्णाख्यान का ही पुराणशास्त्र ने 'कद्रूविनता' के आख्यान के द्वारा विस्तार से उपवृहण किया है। गरुड़माता विनता तथा सर्पों की माता कद्रू, दोनों की प्रतिद्वन्द्विता से सम्बन्ध रखने वाले इस पौराणिक आख्यान से आस्तिक मानवश्रेष्ठ तो अवश्य ही परिचित होंगे। इस प्रकार के आख्यान ही पुराण परिभाषा में 'असदाख्यान' कहलाये हैं। (१)- आध्यात्मिक, (२)- आधिभौतिक, (३)- आधिदैविक, (४)- आध्यात्मिकाधिदैविक, (५)- आध्यात्मिकाधिभौतिक, (६)-आधिदैविकाधिभौतिक, (७)- आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिक, एव (८)-असत्, भेद से पौराणिक आख्यान आठ स्वतन्त्र धाराओं में विभक्त हैं, जिनमें से 'कद्रूविनताख्यान' का आठवें असदाख्यानविभाग से ही सम्बन्ध है। कल्पित कथानक ही असदाख्यान है। सम्भवतः जिसे आप अपनी प्रियभाषा में 'माइथालॉजी' कहते हैं, वही हमारा असदाख्यानविभाग है, जिसका तात्पर्य है, मिथ्या ज्ञान कल्पित ज्ञान किंवा कल्पित कथानक। ऋषिप्रज्ञा ने अपनी दूरदर्शिता से यह अनुभव कर लिया था कि मानव का मौलिक शिक्षाप्रद इतिहास पत्रों (कागजों) पर कभी स्थायी नहीं रह सकता। अतएव ऋषिप्रज्ञा ने शिक्षात्मक सांस्कृतिक इतिहास को

चिरन्तन बनाने की कामना से नद-नदी, पर्वत तथा नक्षत्र इन तीन प्राकृतिक स्थायी पत्रों पर इसे लिख डाला। सामान्य श्रेणी के इतिहासों का माध्यम बनी नद-नदियाँ, मध्यम श्रेणी के इतिहासों के माध्यम बने पर्वत एवं विशेषरूप से संरक्षणीय लोकशिक्षक इतिहासों का माध्यम बना नक्षत्रमण्डल। स्मरण रखिए- भारतीय संस्कृति, नदनदियों-पर्वतों-नक्षत्रों पर लिखी हुई है, जिसे पृथ्वी का कोई भी आततायी क्षत-विक्षत नहीं कर सकता। शाश्वत सनातन संस्कृति के पत्र भी शाश्वत ही बने हुए हैं। यही कारण है कि यद्यपि अनेक बार यहाँ के ग्रन्थभण्डार क्रव्यादाग्नि में आहुत कर दिये दुष्टों ने तथापि यह संस्कृति नदनदियों-पर्वतों-नक्षत्रों के आख्यान-माध्यम से आज तक अक्षुण्ण ही बनी हुई है, अक्षुण्ण ही बनी रहेगी यावच्चन्द्रदिवाकरौ। अवश्य ही कोई वैसा गुप्त अमृतस्रोत उपलब्ध है इस जाति को, जिसके बल पर सब ओर से आक्रमण सहती हुई भी यह जीवित है, जीवित रहेगी। 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' यही इस जाति का चिर उद्घोष है, जिसे कौन अभिभूत कर सकता है।

'विश्वामित्र ने किसी अपराध पर अपनी कन्या को शाप दे डाला कि तू आज से पानी बन जा, नदी बन जा। वही अभिशप्ता नदी आज 'गण्डकी' के नाम से प्रसिद्ध है' यह है असदाख्यान का एक उदाहरण। घटना के स्मरणमात्र के लिए नदी के साथ इस आख्यान को जोड़ दिया है। एवमेव उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव का यद्यपि खगोलस्थ सनातन ध्रुवनक्षत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि स्मरणमात्र के लिए ध्रुव का आख्यान ध्रुवादि नक्षत्र विशेषों पर डाल दिया गया है। यही असदाख्यान का दूसरा उदाहरण है। आप कहेंगे- कल्पित कथाएँ क्यों बनायी गयी, स्पष्ट रूप से सीधी व्यक्त भाषा से ही क्यों नहीं इन तत्वों का विश्लेषण कर दिया गया। उत्तर स्पष्ट है। सब आप ही जैसे तो प्रज्ञाशील नहीं है। हमारे जैसे सामान्यप्रज्ञों की ही संख्या अधिक है, जो मानस उपलालनात्मक आख्यानव्याज से ही तत्वसीमा के तट का अवगाहन कर सकते हैं। 'त्यंजति न मृगव्याधरभस' से प्रसिद्ध प्रजापति का आख्यान- 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायन्-दिव वा, उपसमित्यन्ये' इत्यादिरूप से किस सरलता से नाक्षत्रिक मण्डल का विश्लेषण कर देता है, यह तो आख्यान के हृदय का स्पर्श करने वाले श्रद्धालु ही जान सकते हैं। शिक्षण कौशल से सम्बन्ध रखने वाले इसी असन्माध्यम का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् भर्तृहरि ने कहा है-

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्त्वा ततः सत्यं समीहते ।।

-वाक्यपदी

भूगोल-खगोल-शिक्षण के लिए माध्यम बनने वाले वर्त्तुलवृत-विविध रेखाचित्र इन कल्पित वृत्तों-चित्रों के द्वारा ही तो खगोलीय-भूगोलीय-सत्य-स्थितियों का बोध कराते हैं। आप जैसे प्रज्ञाशील भी तो उपललनात्मक इन माध्यमों से ही शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। फिर पुराण ने ही क्या अपराध किया ? अपने अन्तर्जगत् में ही समन्वय कीजिए वास्तविक स्थिति का। अलमतिपल्लवितेन प्रासंगिकेतिवृत्तेन।

'हृदय' शब्द से सम्बन्ध रखने वाले आदान-विसर्ग-स्तम्भन-भावों के द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि, स्वयं शब्द ही तद्वाच्य तत्वार्थ के स्पष्टीकरण की क्षमता रखता है। यही स्थिति 'वेद' शब्द की है। विद ज्ञाने, विद लाभे, विद सत्तायाम्-रूप से विद धातु के ज्ञान, लाभात्मक रस, सत्ता तीनों अर्थ है। ज्ञान चित् है, लाभात्मक रस आनन्द है, सत्ता सत् है, समष्टि सच्चिदानन्द हैं, यही ब्रह्म है, यही विद्या है, और यही वेद पदार्थ है। यह है 'वेद' शब्द का तटस्थ लक्षण। अब एक वैसे स्वरूपलक्षण की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है जिससे स्पष्ट ही वेद की तत्वरूपता व्यक्त हो रही है। मन्त्र तैतिरीय ब्राह्मण का है

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः -
सर्वा गतिर्याजुपी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् -
सर्वं हेदं ब्रह्मण हैव सृष्टम् ।।

-तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।६।१।

जितनी भी मूर्तियाँ है, सब 'ऋक्' तत्त्व से उत्पन्न हुई हैं। पिण्ड, मूर्त-भौतिक-पदार्थ, मरण धर्म्मा परिवर्तनशील-क्षरकूटात्मक 'द्रव्य' ही मूर्ति शब्द की स्वरूप व्याख्या है। आजकल तो वीतराग साधु महानुभाव ही यहाँ 'मूर्तियाँ' कहला रही हैं। प्रश्नोपनिषत् ने- 'तस्मान्मूर्तिरेव रयि' के अनुसार 'रयि' को ही मूर्ति माना है। प्राणग्नि को स्व आहुति से चित्य पिण्डरूप में परिणत कर देने वाला स्नेहधर्म्मा भागर्व सोम ही 'रयि' है। इसी आधार पर श्रुति ने रयिरूप सोम को मूर्ति मान लिया है। रयिसोम ही वैदिक परिभाषा में 'अश्मा-सोम' कहलाया है, जिसके सम्बन्ध से विशक्लनधम्मा भी प्राणाग्नि क्षर-भूत-परमाणुओं के कूट का विधरण करता हुआ वस्तुपिण्डरूप में परिणत हो जाया करता है। 'ध्रुवोऽसि-धर्त्रमसि-धरुणमसि' (यजु संहिता १।१८।) के अनुसार भारतीय विज्ञानकाण्ड में पदार्थों का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण हुआ है। ध्रुवावस्था ही निबिडावस्था, किंवा घनावस्था है। धर्त्रावस्था ही द्रवावस्था किंवा तरलावस्था है। एव धरुणावस्था ही वाष्पावस्था, किंवा विरलावस्था है। जगत् के उपादानभूत भृगु और अंगिरा नामक तत्व इन्हीं तीन अवस्थाओं के कारण क्रमशः आप-वायुः-सोमः एवं अग्निः-यम-आदित्यः इन तीन-तीन अवस्थाभावों में परिणत हो रहे हैं। तीनों भार्गव सौम्य तत्वों में से तथा तीनों आंगिरस आग्नेय तत्वों में से ध्रुवसोम तथा ध्रुवाग्नि के अन्तर्यामसम्बन्धात्मक चितिसम्बन्ध से ही भौतिक पिण्ड की स्वरूपनिष्पत्ति होती है।

वैदिक विज्ञान परम्पराओं की विलुप्ति के दुष्परिणाम स्वरूप संस्कृत पाठशाला-विद्यालयों का सुप्रसिद्ध पाठ्य ग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' आज-'सांसिद्धिक द्रवत्वं जले' रूप से पानी के द्रव धर्म्म को नित्य मानने की भ्रान्ति कर रहा है, जबकि पानी ध्रुवाग्नि के प्रवेश से तुषार (बर्फ) बन जाता है, धर्त्राग्निप्रवेश से द्रुत हो जाता है, एव धरुणाग्निप्रवेश से वाष्परूप में आकर उत्क्रान्त हो जाता है। पदार्थ विज्ञान की परिगणित भौतिक परिभाषाओं का दिग्दर्शन कराने

वाले स्वयं महर्षि कणाद अपने वैशेषिकदर्शन में 'अपा सघातो, विलयनं च तेज- संयोगात्' (वै. सूत्र) इत्यादि रूप से पानी का संघात तथा विलयन तेज- संयोग पर अवलम्बित मान रहे हैं तो तर्कसंग्रहकार ने अपने ही न्यायसिद्धान्त के विपरीत कैसे पानी को नित्य द्रव्य मान लिया ? यह एक अचिन्त्य ही प्रश्न है। इन्हीं कुछ एक कारणों से संस्कृतविद्या आज उपेक्षा की वस्तु बनी हुई है, जबकि संस्कृत भाषा भाषाविज्ञान की दृष्टि से सम्पूर्ण इतर प्राच्य-प्रतीच्य-भाषाओं के समतुलन में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हो रही है।

मान्य राष्ट्रपति महाभाग !

संस्कृत भाषा पर आज सबसे बड़ा अभियोग यह है कि, 'यह रटन्त भाषा है, घोकूविद्या है, साथ ही विज्ञानशून्या, अतएव मृतप्राया भाषा है'। रटना तो अवश्य ही पड़ता है इसे। किन्तु यदि उद्दण्डतापूर्ण यह प्रश्न करने की घृष्टता कर ली जाय तो क्षमा करेंगे आप मुझे कि जिस भाषा के शब्दों के साथ-साथ अक्षर वर्ण भी रटे जाए, वह भाषा कठिन है ? अथवा जिस के केवल शब्द रटे जाय, वह भाषा कठिन है ?। राम-मानवः-मार्जारः-आदि रूप से संस्कृत के शब्द मात्र ही धोके जाते हैं, वर्णाक्षर नहीं। जब कि अन्यत्र-आर-ए-एम्-राम, एम-ए-एन्-मैन, सी-ए-टी-केट रूप से शब्दों के साथ साथ तदवयरूप स्वर-वर्ण भी अनिवार्यरूप से रटने ही पड़ते हैं। रही बात विज्ञान की तो इस सम्बन्ध में हम आज के युग में कुछ भी निवेदन करने का अधिकार इसलिए नहीं रखते कि अपनी मूर्खता से हमने अपनी ज्ञानविज्ञान परिषाओं को शताब्दियों से विस्मृत ही कर दिया है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से संस्कृत भाषा जैसी अर्थगम्भीरा बोधगम्या सरला प्रांजला भाषा विश्व में सम्भवतः ही कोई अन्य भाषा हो। बिना पारिभाषिक शब्दों के बोध के तो हिन्दीभाषा भी कम जटिल नहीं है। इंग्लैण्ड के राजपथ में किसी आपण व्यवसायी से यदि 'लाल मिर्च' माँगी जायेगी तो वह क्या समझेगा इस शब्द से। हम संस्कृत भाषा से बहुत दूर चले गये हैं। अतएव सरलतमा भी परम वैज्ञानिकी यह भाषा आज कठिन प्रमाणित हो रही है।

'तत्संस्कृतं किमपि जंगमधामशुद्धं-

यत्राधिदेव इव वेदपुमान् विभ्राति' ।

इत्यादि रूप से उपस्तुता जिस गीर्वाणवासी सुरभारती के कोड में वेदशास्त्र जैसा ज्ञानविज्ञान कोश सुगुप्त हो, उस भाषा की उपेक्षा कर बैठना अपने स्वरूप को ही विस्मृत कर देना है। जो विश्व की यच्चयावत् भाषाओं की आद्यजननी है, ऋषिप्रज्ञा ने जिसका 'सरस्वती' रूप से यशोवर्णन किया है, अतएव जो वस्तुतः सब ओर से 'रसवती' ही है, रसोपवर्षणरूप वीणावादन जिसके नैदानिक ध्यान से समन्वित है, वह वाग्देवी किस प्रज्ञाशील को आकर्षित न करेगी। सांस्कृतिक अनुबन्धाकर्षण से सम्भवतः हम विषयान्तर का अनुगमन कर बैठे हैं।

प्रकृत में बतला हम यह रहे थे कि, विश्व के भूतभौतिक पिण्डमात्र ऋग्वेद से बनते हैं। पिण्ड में रहने वाला आदान विसर्गात्मक जो गति तत्व है, वह यजुर्वेद से ही समुद्रभूत है। स्वयं पिण्ड वस्तु की कोई स्वरूपपरिभाषा

नहीं है। जब तक पिण्ड क्रियाशील है, तभी तक पिण्ड पिण्ड है। क्रिया के उपशान्त होते ही वस्तुपिण्डस्वरूप उच्छिन्न हो जाता है। 'सर्वा गतिर्याजुपी हैव शश्वत्' इत्यादि मन्त्रभाग से यजुर्वेदानुबन्धनी इस गति का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तीसरा वाक्य है- 'सर्व तेज सामरूप्य ह शश्वत्'। इसके अक्षरार्थ- समन्वय के लिए थोड़ा प्रज्ञाबल अपेक्षित होगा। सामान्य धारणा ऐसी है कि, हम अपने सम्मुख रक्खे हुए वस्तुण्डि को ही अपने चर्म्मचक्षुओं से देखा करते हैं। किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। पिण्ड तो केवल स्पृश्य ही बना करता है, जो कभी दृश्य नहीं बन सकता। जिसका हम स्पर्श करते हैं, उसे देख नहीं रहे, एवं जिसे देख रहे हैं, उसका स्पर्श सम्भव नहीं। मण्डल ही हम देखा करते हैं, पिण्ड को नहीं। महिमारूप पुनः पद को ही हम देख सकते हैं। पिण्डरूप पद कदापि दृष्टि का विषय नहीं बना करता। तात्पर्य-प्रत्येक भौतिक वस्तुपिण्ड से चारों ओर स्वयं इस वस्तुपिण्ड को केन्द्र मानते हुए-बनाते हुए-प्राणात्मक एक स्वतन्त्र रश्मिमण्डल का वितान होता है। इन बहिर्म्मण्डलों के समन्वय से भी एक-दूसरे जड़-चेतन-पदार्थों के गुण-दोष एक-दूसरे में संक्रमण कर जाया करते हैं, फिर पिण्डों के पारस्परिक स्पर्श की तो कथा ही क्या। प्राणात्मक यही रश्मिवितानमण्डल 'साहस्रीमण्डल' कहलाया है। वर्तमान भारतीय दर्शनशास्त्र में चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से प्राप्यकारित्व, एवं अप्राप्यकारित्व प्रश्न को लेकर बहुत बड़ा विवाद प्रक्रान्त है, जो तत्वत बालोपलालन ही कहा जायेगा, अथवा तो प्रौढिवादमात्र ही माना जायेगा साहस्रीविद्या की अपेक्षा से। हमारी आँख विषय पर जाती है, अथवा विषय आँख पर आते हैं ?, इस प्रश्न को उठाकर दर्शन ने अन्त में यह निर्णय किया है कि, जैसे श्रोत्र-वाक्-घ्राण-त्वक्-आदि इतर इन्द्रियाँ स्व स्थान पर स्थित रहकर विषयग्रहण करती हुई अप्रात्यकारित्वमर्यादा से आक्रान्त हैं, वैसे ज्योतिर्म्मय चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी न होकर प्राप्यकारी है। अर्थात् आँख ही विषय पर जाती है। स्पष्ट है कि, वैदिक साहस्री विज्ञान की दृष्टि से दर्शन का यह सिद्धान्त कोई महत्व नहीं रखता। न तो आँख विषय पर जाती, न विषय (स्पृश्य पिण्ड) आँख पर आता। अपितु पुरोऽवस्थित वस्तुपिण्ड का पूर्वोपवर्णित महिमामण्डलरूप रश्मिभाव ही चाक्षुष महिमामण्डल में प्रविष्ट होकर विषयप्रत्यक्ष का कारण बनता है। फलतः वेदान्तदर्शन के तद्विषयक जटिल शास्त्रार्थ का कोई महत्व शेष नहीं रह जाता। क्यों यह दार्शनिक कलह चल पड़ा इस वैज्ञानिक देश में ? कारण स्पष्ट है। स्पृश्यपिण्ड, तथा दृश्यमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले ऋक् और साम की स्वरूपव्याख्या दर्शनयुग में अभिभूत ही हो गयी थी। दर्शनों के लिए वेदशास्त्र तो केवल अर्चनीय प्रतिमा ही बन गया था।

स्पृश्य पिण्ड पृथक् वस्तुतत्व है, एवं दृश्यमण्डल भिन्न वस्तुतत्व है। उदाहरण से समन्वय कीजिए। औषधि-वनस्पत्यादि से आक्रान्त जिस भूपृष्ठ पर हम बैठते हैं, चलते-फिरते हैं, इसका नाम है- 'भूपिण्ड', यही स्पृश्यपिण्ड। पुराणशास्त्र जब भी सृष्टिविद्या का विश्लेषण करेगा, इस स्पृश्य भूपिण्ड को लक्ष्य न बनाकर पृथ्वीमण्डल को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाएगा। भूपिण्ड और पृथ्वीमण्डल, दोनों विज्ञानजगत् में सर्वथा विभिन्न विभक्त वस्तु तत्व हैं। भूपिण्ड उसका नाम हैं, जिस पर आप-हम-सब बैठे हैं। पृथ्वीमण्डल उसका नाम है, जो

भूपिण्ड से चतुर्दिक् बाहिर की ओर निकल कर व्याप्त होने वाला प्राणात्मक साहस्री भाव है, जिसका फैलाव सूर्यपिण्ड से भी कुछ ऊपर तक माना गया है। 'आदित्यो वै देवरथः' इस श्रुति के अनुसार सूर्य 'देवरथ' कहलाया है। पार्थिव प्राणरस क्योंकि इस रथात्मक सूर्य की भी सीमा का तरण-अतिक्रमण-कर जाता है, अतएव पार्थिव मण्डलसीमात्मक अवसानात्मक यह साममण्डल 'रथन्तरसाम' कहलाया है। पुराण कहता है- 'पृथिवी के पुष्कर द्वीप से सूर्य प्रतिष्ठित है'। क्या भूपिण्ड के किसी द्वीप पर सूर्य प्रतिष्ठित है ? नहीं। मानना पड़ेगा कि भूपिण्ड अन्य तत्व है, एवं पृथ्वीमण्डल कोई अन्य ही तत्व है। भूपिण्ड को आधार बनाकर जो भूगर्भस्थ प्राणाग्नि उक्थरूप से केन्द्र में आबद्ध रहता हुआ अर्कात्मक प्राणरश्मिरूप से बहिः आसमन्तात् वितत होता हुआ अपना एक स्वतन्त्र महिमामण्डल बना लेता है, वही इस वितानरूप विस्तार-फैलाव के कारण 'पृथ्वी' कहलाया है, जैसा कि- 'यदप्रथयत्-तस्मात्-पृथ्वी' इत्यादि पृथ्वी शब्द के निर्वचन से ही स्पष्ट है। यह पार्थिव प्राणमण्डल ही साम है, तन्मला विद्या ही 'सामविद्या' है, जिसे अनुबन्ध भेद से पुनःपदविद्या-अर्कविद्या-महिमाविद्या-विभूतिविद्या-ऐश्वर्यविद्या-आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है।

तात्पर्य निवेदन करने का यही है कि, प्रत्येक वस्तुपिण्ड में से निकलने वाला सुतीक्ष्ण-सुसूक्ष्म प्राणरश्मिरूप जो तेजोमण्डल है, वही सामवेद है। किंवा सामवेद ही इस तेजोमय बहिर्म्मण्डलात्मक विभूतिमण्डल का सर्जक बना हुआ है। मण्डल उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, वस्तुपिण्ड के पार्श्वाणुद्वय के उत्तरोत्तर ह्रस्व बनते जाने के कारण मूर्तिभाव उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं, जिस इस सुसूक्ष्म रहस्य का इस सामयिक वक्तव्य से कथमपि स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। साममण्डलान्तर्वर्त्ती मूर्तिभावों के उत्तरोत्तर ह्रसीयान् बनते जाने के कारण वस्तुपिण्ड से हम ज्यों-ज्यों दूर जाते हैं, त्यों-त्यों वस्तुपिण्डानुगत मण्डल-भाव हमें छोटा दिखलायी देने लगता है। समीप से वस्तु क्यों बड़ी, दूर से वस्तु क्यों छोटी दिखलायी देती है ?, इसका एकमात्र कारण पिण्डावच्छिन्न ऋक्, तथा मण्डलावच्छिन्न साम ही बना करते हैं। प्रत्येक वस्तुपिण्ड ऋड्मूर्ति है, एवं वस्तुपिण्ड का प्राणमण्डलात्मक तेजोमण्डल ही साम है, इसी अभिप्राय से ऋषि ने कहा है- 'सर्व तेज सामरूप्य ह शश्वत्'।

दृष्टिपथ का विषय न तो पिण्डात्मक ऋग्वेद ही बनता, न गत्यात्मक यजुर्वेद ही। अपितु विभूतिलक्षण तेजोमय सामवेद ही दृष्टि का आलम्बन बनता है। अतएव ईश्वरीय विभूति-गणना के प्रसंग में भगवान् वासुदेव कृष्ण ने- 'वेदाना सामवेदाऽस्मि' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित किया है। कदापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि, ऋक् और यजुः प्रतिष्ठा में न्यून हैं साम की अपेक्षा से।

किस तत्व के सहयोग से पिण्डात्मक ऋग्वेद, गत्यात्मक यजुर्वेद, तथा मण्डलात्मक सामवेद का स्वरूप विकास हुआ ? अब एकमात्र यही प्रश्न शेष रहा जाता है। इसी शेष प्रश्न का समाधान करते हुए अन्त में ऋषि कहते हैं- 'सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्'। अत्यन्त पारिभाषिक अनुगमभावात्मक यहाँ के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है- 'अथर्ववेद'। पारमेष्ठय अथर्वा तत्व-जो स्वयम्भू ब्रह्मा का ज्येष्ठपुत्र माना गया है, - तत्वसृष्टिपरम्परा में सोमात्मक

तत्व है। पिण्डस्वरूप-सम्पादक ऋग्वेद का सम्बन्ध है अग्नि से, गतिस्वरूप सम्पादक यजुर्वेद का सम्बन्ध है वायु से, एवं मण्डलस्वरूप सम्पादक सामवेद का सम्बन्ध है आदित्य से। साम का आदित्य से सम्बन्ध है, सूर्य से नहीं, यह विशेष रूप से ध्यान में रखिए। सूर्य और आदित्य पर्याप्य नहीं हैं विज्ञानभाषा में। सूर्य जहाँ एकाकी चरति, वहाँ आदित्य प्राण १२ भागों में विभक्त है, जैसाकि निम्नलिखित आप्तवचन से प्रमाणित है-

इन्द्रो-धाता-भगः-पूषा-मित्रोऽथ-वरुणोऽ-र्य्यमा ।

अंशु-र्विवस्वान्-त्वष्टा च, सविता-विष्णुरेव च ।।

इसी वेदस्वरूपप्रसंग में हम एक स्मृतिवचन और उद्धृत कर रहे हैं। राजर्षि मनु कहते हैं-

अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थं ऋग्-यजुः सामलक्षणम् ।।

- मनुः १।२३।

'प्रजापति ने यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए, यज्ञ के स्वरूपनिर्माण के लिए अग्नि-वायु-आदित्य तीन देवताओं से क्रमशः- ऋग्-यजु-साम-इन तीन वेदों को तथा चौथे सनातनरूप ब्रह्म-अर्थात् अथर्व को दोह लिया,' यह है उसके वचन का अक्षरार्थ। अथर्वरूप ब्रह्मवे, जिसे गोपथ ने 'सुब्रह्म' कहा है- त्रयीब्रह्म की अपेक्षा से ही सोमवेद है, जिसकी आहुति से अग्नित्रयी के द्वारा अग्नी-षोमात्मक मौलिक यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। ऋक्, अर्थात् अग्नि। यजुः- अर्थात् वायु। साम-अर्थात् आदित्य। अग्नि-वायु-आदित्य से दोहे हुए रसरूप इन ऋक्-यजु-सामो की समष्टि का नाम है-'त्रयीवेद'। यह त्रयीवेद स्वस्वरूप से विकसित कब तक रहता है, जब तक कि इसके साथ अथर्व नामक सोमब्रह्म की आहुति का सम्बन्ध प्रकान्त रहता है। ध्यान रहे, अब इसी वेदचतुष्टयी के माध्यम से हम शनै शनैः अग्नीषोमविद्या के सन्निकट पहुँच रहे हैं जो आज का मुख्य विषय है। क्या पूर्वप्रतिपादित वेद वेदग्रन्थ हैं। अब भी सन्तोष न हुआ हो तो एक वचन और लीजिए, जो विस्पष्टरूप से त्रयीवेद की तत्व-रूपता का दिग्दर्शन करा रहा है। अग्निरहस्य का प्रतिपादन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं-

यदेतन्मण्डलं तपति-तन्महदुक्थं, ता ऋचः। स ऋचां लोकः।

अथ यदेतदचिर्दीप्यते-तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः।

अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः-सोऽग्निः, तानि यजूँषि, स यजुषां लोकः।

सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद्वैतदप्यविद्वाँस आहुः- 'त्रयी वा एषा विद्या तपति'- इति।।

-शतपथब्राह्मण १०।४। २।१,२।

यह जो बिम्बात्मक सूर्यमण्डल तप रहा है, वही 'महदुक्थ' है, ये ही ऋचाएँ है। यही ऋचाओं का लोक

है। जो यह अर्चि-रश्मि-रूप ज्योतिर्म्मण्डल प्रदीप्त है, प्रकाशमान है, वही महाव्रत है, ये ही साम है, यही सामों का लोक है। जो कि इस पिण्ड-मण्डल में दोनों पुरभावों में प्रतिष्ठित (गतिरूप) पुरुष प्रतिष्ठित है, वही अग्नि है, ये ही यजुः हैं, यही यजुओं का लोक है। इस प्रकार सूर्य क्या तप रहा है, तीनों वेद ही तप रहे हैं। विद्वान् लोग तो इस रहस्य को जानते ही है। किन्तु (उस युग के) तो साधारण अपठित ग्रामीण भी इतना तो जानते ही थे कि 'सूर्य साक्षात् तीनों विद्याओं-वेदों का समूह है'- यह है श्रुति का अक्षरार्थ, जिसके तत्वार्थ के लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अपेक्षित है।

लक्ष्य बनाना चाहिए हमें श्रुति के- 'तद्वैतदप्यविद्वांसः अप्याहुः' वाक्य को, और पश्चाताप करना चाहिए हमें आज की अपनी पतनावस्था पर। उस युग में जहाँ मूर्ख भी व्यापक विद्यासंस्कारों के अनुग्रह से सूर्य को वेदत्रयीमूर्ति जानते थे, वहाँ आज के युग के विद्वान् भी इस तात्विक वेदपरिज्ञान से परांमुख ही बने हुए हैं। 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि लक्षण अकार-ककारादि वर्ण-शब्द-वाक्यादि संग्रहरूपा शब्दराशि का नाम क्या सूर्यवेद है ?, क्या वेन्दग्रन्थ तप रहे हैं पिण्ड-मण्डल-एवं अग्निरूप से ? मुकुलितनयन बनकर स्वयं विद्वानों को अपने अन्तर्जगत् में ही इन प्रश्नों की मीमांसा करनी चाहिए।

पूर्वोक्त तत्वात्मक वेद किसी मानव की रचना नहीं है, अपितु वह तो ईश्वरीय तत्व हैं अतएव अवश्य ही तत्वात्मक इस वेद को नित्यकूटस्थ, अतएव अपौरुषेय ही कहा जायेगा। रही बात शब्दात्मक वेद की, तत्सम्बन्ध में तो भगवान् कणाद का- 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' वचन ही पर्याप्त होगा। इस तत्वात्मक अपौरुषेय वेद की केवल बुद्धिपूर्वा व्याख्या ही नहीं है यह शब्दात्मक वेदशास्त्र, जैसा कि विद्युद्ग्रन्थरूप से पूर्व में हमने संकेत किया था। अपितु वेदशास्त्र वेदतत्व का प्रतिमान शिल्प है। अतएव यह उससे अभिन्न बना हुआ है जिसका इस अभिन्नता का साक्षात्कृतधर्म्मा ऋषियों की निर्भ्रान्ता तत्वदृष्टि से ही सम्बन्ध है। यही अभिन्न सम्बन्ध शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध हैं, जिसके माध्यम से पूर्वमीमांसादर्शन के स्रष्टा भगवान् जैमिनि ने तत्वात्मक वेद से अभिन्न शब्दात्मक वेद को भी अपौरुषेयकोटि में ही ला खड़ा किया है, जैसा कि उनके निम्नलिखित सूत्रसन्दर्भ से स्पष्ट है-

''औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपेदेशोऽव्यति-

रेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्य-अनपेक्षत्वात्'' ।

-पूर्व मी.सू. १।१।५।

भारतीय प्रज्ञा एक ओर 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' कहती हुई भी शब्दात्मक वेदग्रन्थ को कैसे और क्यों अपौरुषेय मान रही है ? किस आधार पर इसका-

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।।

प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।।१।।

आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ।।
ये भावा, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ।।२।।

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।।३।।'

इत्यादि लक्षण अपौरुषेयसम्मत निर्भ्रान्त सिद्धान्त स्थापित हुआ ? इत्यादि प्रश्न चिरन्तना ब्राह्मी प्रज्ञा नाम की 'प्रज्ञापुराणी' से ही अनुप्राणित हैं।

निरूपित तात्विक वेदस्वरूप के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, ऋक्-यजु-साम-अथर्वनाम के चारों तत्ववेद क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-सोमात्मक हैं। इनमें आदि की अग्निविद्या ही ऋग्विद्या है, तत्प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र ही ऋग्वेद है। दूसरी वायुविद्या ही यजुर्विद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही यजुर्वेद है। तीसरी आदित्यविद्या ही सामविद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही सामवेद है। एवं चौथी सोमविद्या ही अथर्वविद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही अथर्ववेद है। घनताप्रवर्तक अग्नि से अनुप्राणित पिण्ड, किंवा मूर्तिस्वरूपसम्पादक वेद ही ऋग्वेद है, यही पार्थिववेद है। तरलताप्रवर्तक वायु से अनुप्राणित गतिस्वरूप सम्पादक वेद ही यजुर्वेद है, यही आन्तरिक्ष्य वेद है। विरलताप्रवर्तक आदित्य से अनुप्राणित मण्डलस्वरूप सम्पादक वेद ही सामवेद है, यही दिव्यवेद है। एवं अग्नित्रयी का स्वरूपसमर्पक यज्ञप्रवर्तक सोमवेद ही अथर्ववेद है, यही पारमेष्ठ्य वेद है। इस प्रकार चारों वेदों के लिए चार लोकों की कल्पना की गयी है। कल्पना की है आपने, और हमने, जो मानस कल्पना में ही अहोरात्र विभोर हैं। ऋषिप्रज्ञा के लिए तो यह सब कुछ त्रिकालाबाधित सत्य सिद्धान्त है। देखिए। ऋषिप्रज्ञा क्या कह रही है इस सम्बन्ध में-

'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः। अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः। प्रजापतिस्तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा प्राणादेव इमं लोकं, अपानादन्तरिक्षलोकं, व्यानादमुं लोकं प्रावृहत्। सोऽग्निमेवा-स्माल्लोकात्-वायुमन्तरिक्षलोकात्-आदित्यं दिवः-असृजत्। सोऽग्नेरेवर्चः, वायोर्यजूपि, आदित्यात् सामानि- असृजत'।

शांखायनब्राह्मण ६।१०।

अन्नात्मक चतुर्थ सोमरूप अथर्व को स्वगर्भ में अन्तर्लीन कर लेने वाले अन्नादात्मक अग्नि-वायु-आदित्यरूप ऋक्-यजु-साम ही प्रधान बने रह जाते है। इसी आधार पर वेद का सुप्रसिद्ध त्रित्वमूलक त्रि सत्यवाद प्रतिष्ठित है- 'त्रि सत्या वै देवा'। प्राणात्मक आग्नेय देवता से अनुप्राणित मानव का भूतात्मा त्रित्व के आधार पर ही सत्य का अनुगामी बनता है। 'सकृदिव वै पितर' के अनुसार जहाँ सोम्य पितर सकृद्रूप एक बार से सगृहीत हैं, वहाँ आग्नेय देव तीन बार के अभिक्रम से ही आत्मसात् बना करते हैं। तीन बार शान्तिपाठ, तीन बार आचमन, तीन बार सन्ध्या, आदि आदि रूपेण इस त्रित्व-वाद के यच्चयावत् विवर्त इस देवतात्रयी पर ही अवलम्बित हैं। यहाँ

तक कि लोक-व्यवहारों में भी न्यायालयों में आव्हानादि तीन बार ही लोकसम्मत बने हुए हैं। ऐसा क्यों ? इसलिए कि-'आत्मा उ एक. सन्नेतत् त्रयम्, त्रय सदेकमयमात्मा'। इसी देवसत्य के आधार पर ही तो राष्ट्रपति महाभाग ने आरम्भ में तीन दिन का कार्यक्रम आदिष्ट करते हुए अपने दैवभाव को ही व्यक्त किया है। स्मरण कीजिए- अन्तर्यामी नामक उस प्रारम्भिक 'हृदय' को, जो सत्यमूर्ति तीन अक्षरों के द्वारा ही विश्व का साक्षी बना हुआ है।

ऋग्वेदात्मक अग्नि पार्थिव, अर्थात् भौम है। भूपिण्ड आपके सम्मुख उपहित-अवस्थित-प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए पार्थिव ऋग्वेदाग्नि के निरूपक ऋग्वेदग्रन्थ का उपक्रम हुआ है- 'अग्निमीले पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्' इस मन्त्र से। 'पुरोहितम्' का अर्थ है- 'पुरतः-सम्मुखे-अवस्थित- पार्थिवाग्नि स्तौमि'। इस 'पुरोहितम्' विशेषण के द्वारा ऋषि यह संकेत कर रहे हैं कि 'हम इस ऋग्वेद में पार्थिव ऋगग्नि के माध्यम से ही सृष्टिविज्ञान का निरूपण कर रहे हैं।' यजुर्वेद का उपक्रम मन्त्र है- 'इमे त्वोर्जे त्त्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे' स्पष्ट ही- 'वायवस्थ' पद आन्तरिक्ष्य गतिलक्षण वायुरूप यजुः तत्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। आदित्य सामवेदात्मक है जो भूलोक से बहुत दूर द्युलोक को अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुए है। तभी तो सामवेद का उपक्रम- 'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये' इत्यादि मन्त्र से हुआ है। जो दूर होता है, उसी का 'आयाहि'-'आइए'-रूप से आव्हान होता है। इसी प्रकार शब्दात्मक इन चारों वेदों के २१-१०१-१०००-६- ये शाखाविभाग भी तत्वात्मक वेद की प्राणमयी शाखासंख्याओं से ही सर्वात्मना संतुलित हैं। अग्नि के ऋण-वन-क्रम से २१ विवर्त हैं, वायुप्रजापति 'प्रजापतिरेकशतविध' के अनुसार १०१ विवर्त्तों में विभक्त है। कौन सा वायु ? प्राणात्मक यजु वायु, जिसका मौलिक रूप यद्यपि 'यज्जू' है तथापि जो परोक्षभाषा में कहलाया है- 'यजुः' ही। लक्ष्य बनाइए निम्नलिखित श्रुतिवचन को -

'अयं वाव यजुः योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः-यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्चान्तरिक्षऽञ्च। यच्च जूश्च। तस्माद्यजुः। तदेतत्-यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः'।

-शतपथब्राह्मण १०।३४।१,२,।

स्पष्ट है कि, शब्दात्मक वेदग्रन्थ के शाखाविभाग भी मानवीय कल्पना नहीं है, जैसा कि आजकल के वेदभक्त विद्वान् मान रहे हैं। अपितु नित्य तत्ववेद के शाख विभागों के अनुपात से ही वेदग्रन्थ में शाखाविभाग व्यवस्थित हुए हैं। आरम्भ से हमने सर्वत्र 'परोक्ष' भाव की ओर संकेत किया है और बतलाया है कि देवता परोक्षभाव से तो प्रेम करते हैं, एवं प्रत्यक्षभाव से शत्रुता रखते है- 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'। क्या तात्पर्य है इस परोक्षता का ? दो शब्दों में इस प्रासंगिक प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए।

नग्नतानुबन्धी प्रत्यक्षभाव, जिसे प्रान्तीय भाषा में 'फुहड़पन' कहते हैं, भारतीय शिष्टाचार के सर्वथा विरुद्ध माना गया है। लौकिक क्षेत्र हो, अथवा तो आध्यात्मिक क्षेत्र, सर्वत्र प्रत्येक क्षेत्र में परोक्षता ही यहाँ का आदर्श रहा

है। क्यों ? इसलिए कि यहाँ केवल प्रत्यक्ष जड़ भूत ही उपात्य नहीं है। अपितु भूत के साथ साथ प्राण ही यहाँ मुख्यरूप से अनुगमनीय रहा है। भूत का आधारभूत प्राण तत्व रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द नामक पाँचों तन्मात्राओं से अतीत, अतएव सुसूक्ष्म, अतएव इन्द्रियातीत, अतएव च केवल सत्तासिद्ध अधामच्छद तत्व है, जिस इत्थंभूत प्राणतत्व का 'प्राणोपनिषत्' नाम की प्रश्नोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है। सर्वाधार, किंवा विश्वावारभूत इसी परोक्ष इन्द्रियातीत प्राणतत्व के संग्रह के लिए ऋषिप्रज्ञा ने परोक्षता को प्रधानता दी है, एवं बाह्य-प्रचार-सर्वत्र डिण्डिमघोष-आदि ऐन्द्रियक विश्वानुबन्धो-लोकानुबन्धो से सम्बन्ध रखने वाले प्राणप्रतिष्ठावंचित प्रचारवाद को, प्रत्यक्षवादात्मक इस वागविजृम्भण को, वर्तमान भाषानुसार 'पब्लिसीटी' को तत्वचिन्तनधारा में कोई विशेष सम्मान नहीं दिया। गुहानिहिता परोक्षप्रज्ञात्मिका अन्तःप्रज्ञा ही यहाँ सदा से मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित होती रही है।

ऋग्-यजुः-साम-अथर्वात्मक जिन अग्नि-वायु-आदित्य-सोम-भावों का पूर्व में उल्लेख हुआ है वे सर्वथा प्राणात्मक ही है। अभी भौतिक अग्नि-सोम का प्रसंग उपस्थित ही नहीं हुआ है। भूताग्नि तो वह अग्नि है, जिस प्रत्यक्षदृष्ट प्रज्वलित भूताग्नि से सूर्यास्त के अनन्तर रश्मियाँ निकलने लगती हैं, एवं जो परिभाषादृष्टया 'वस्वग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रत्यक्षदृष्ट भूताग्नि का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं-

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।

अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनं इषं स्तोतृभ्य।।

-ऋक्संहिता ५।६१।

ऋषि कहते हैं, हम भूताग्निरूप अग्नि उसे मानते हैं, जो वसु है, अर्थात् पार्थिव वसुरूप भूतभाव से समन्वित है, जिससे पार्थिव विवर्त 'वसुन्धरा' कहलाया है, एवं सूर्यास्त के अनन्तर जिससे धेनु, अर्थात् किरणें निकला करती हैं। भौतिकजगत् में जो यह भूताग्नि ज्वालारूप से प्रत्यक्षदृष्ट है, प्राणियों की शरीरस्था में यही तापधर्मा प्रत्यक्षानुभूत भौतिक अग्नि 'वैश्वानराग्नि' कहलाया है, जिसकी भारतीय प्रजा अपने सांस्कृतिक जीवन में प्रतिदिन उपासना किया करती है। सुसंस्कृत, अतएव आस्तिक परिवारों में गृहदेवियाँ वैश्वानराग्नि के प्रतीकभूत अंगाराग्नि में अन्नाहुति समर्पण करने के अनन्तर ही पारिवारिक व्यक्तियों को भोजनाधिकार प्रदान करती हैं, जिस इस कर्म्म को हमारी राजपत्तनभाषा में 'बेसन्दर जिमाणा' कहा गया है। आज तो घर में भोजन करने का प्रश्न ही गौण बन गया है। जहाँ महद्भाग से ऐसी पद्धति प्रक्रान्त है, वहाँ वैश्वानराग्नि का अनुध्यान आज भी यथावत् प्रतिष्ठित है। क्या स्वरूप है इस वैश्वानराग्नि का ? श्रूयताम्-

बतलाया गया है कि पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यौः नामक तीन लोक हैं जो तीन स्वतन्त्र विश्व माने गये हैं वैदिक परिभाषा में। इन तीनों विश्वों में क्रमशः ऋक्-यजुः-सामात्मक अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन प्राणाग्नियाँ प्रतिष्ठित हैं। ये तीन प्राणाग्नियाँ ही इन पृथिव्यादि तीनों विश्वों के नर-नायक-अधिष्ठाता माने गये हैं, जिस अधिष्ठातृपद के लिए वेद में 'अतिष्ठावा' पद आया है इसी पद के लिए एक सांकेतिक नाम है- 'शवसोनपात्'।

'भू' यह पहिला विश्व है जो कि पृथिवी है। 'भुव' यह दूसरा विश्व है जो कि अन्तरिक्ष है। 'स्व' यह तीसरा विश्व है जो कि द्यौ है, तीनों विश्वों के अग्नि-वायु-आदित्य-नामक प्राणाग्निरूप शवसोनपात् नरों का परस्पर यजन हो जाता है, जो यजनप्रक्रिया 'तानूनप्त्रकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। पारस्परिक समन्वयात्मक शपथ ग्रहण के लिए ही वेद में तानूनप्त्र शब्द विहित है, इसी के बल पर देवताओं ने असुरों को परास्त किया है। आज भी लौकिक विधि-विधानों में शपथ ग्रहणात्मक यह तानूनप्त्रकर्म्म प्रचलित है, तीनों विश्वों के इन तीन नरों के संघर्ष से, दूसरे शब्दों में यजन से जो संयौगिक त्रैलोक्यव्यापक तापधर्म्मा अपूर्व अग्निभाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम है, 'विश्वेभ्यः पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेभ्यः नरेभ्यः-अग्निवाय्वादित्यैः जात-उत्पन्न-अग्नि' इस निर्वचन से 'वैश्वा-नर' कहलाया है, जिसका उपनिषदों की 'वैश्वानरविद्या' में षडंगवैश्वानररूप में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। 'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्'- वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' इत्यादि श्रौत वचन भूपिण्ड से द्युपर्य्यन्त इस त्रिधर्म्मा वैश्वानर अग्नि की व्याप्ति बतलाते हैं। त्रैलोक्य में जो एक प्रकार की अस्फुट ध्वनि प्रतिष्ठित है जो नाद की उत्तरावस्था मानी गयी है जो शब्द की जननी बनती है, वह यही वैश्वानर की महिमा है, जिसके आधार पर 'अग्निर्वाग्-भूत्त्वामुन्व प्राविशत्' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। एवं जिसके आधार पर ही भगवान् भाष्यकार का 'तस्माद्ध्वनिः' शब्द उद्घोष हुआ है। आध्यात्मिक शारीरिक संस्था से वस्तिगुहा भू है, उदरगुहा भुव है, उरोगुहा स्व है, एवं शिरोगुहा चौथा परमेष्ठ्य लोक है। आरम्भ के तीनों गुहास्थानों में क्रमशः पार्थिव अपान, आन्तरिक्ष्य व्यान, दिव्य प्राण ये तीन प्राणाग्नियाँ प्रतिष्ठित हैं, जो क्रमशः आध्यात्मिक अग्नि-वायु-आदित्य ही हैं। जिनके लिए महर्षि पिप्पलाद ने कहा है, 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्-शरीरे जाग्रति' (प्रश्नोपनिषत् ४।३।)। अपान-ध्यान-प्राण रूप इन तीनों शारीरिक प्राणाग्नियों के 'उपाश्वन्तर्याम' नामक संघर्ष से जो अपूर्व भौतिक तापधर्मा अग्नि उत्पन्न होता है, वही आध्यात्मिक 'वैश्वानर' कहलाया है, जो उक्तरूप से जठर स्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से सर्वांगशरीर में व्याप्त है, केशलोमो को तथा नखाग्रभागों को छोड़ कर। आलोमभ्य, आनखाग्रेभ्य-व्याप्त वैश्वानराग्नि को कर्णछिद्र पिनद्ध करके, नासाछिद्ध अवरुद्ध करके साक्षात्-रूप से अनुभूत किया जा सकता है। कान-नाक बन्द करने से जो एक धक्-धक्-ध्वनि सुनायी पड़ती है, यही वैश्वानर का श्रवण है। एवं जहाँ-जहाँ स्पर्श करते हैं, तापलक्षणा ऊष्मा का प्रत्यक्ष होता है, यही इसका प्रत्यक्ष है। सैषा दृष्टिः- श्रुतिः। 'अहं वैश्वानरो भूत्त्वा प्राणिनां देहमाश्रित' (गीता) इत्यादि गीतावचन इसी शारीरिक जाठराग्निरूप वैश्वानराग्नि का निरूपण कर रहा है। वैश्वानराग्नि के इसी स्वरूप को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है-

(१) 'स यः स वैश्वानरः इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वं, अग्निर्नरः। अन्तरिक्षं विश्वं, वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वं, आदित्यो नरः (विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातः अग्निरेव यौगिको वैश्वानरः)'। (शतपथब्राह्मण ६।३।१।३)।

स एष आधिदैविको-वैश्वानराग्निः।

(२)- 'अयमग्निवैश्वानरः-योऽयमन्तः पुरुषे (शरीरे प्रतिष्ठितः)। येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते। तस्यैप घोपो

भवति, यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति।

स यदा-उत्क्रमिष्यन् भवति-नैतं घोपं शृणोति'।

-शत.ब्रा. १४।८।१०।१।।

ऋक्-यजु-सामात्मक अग्नि वायु-आदित्य नामक 'प्राणाग्नि', एवं अथर्वात्मक 'सोम' नामक 'प्राणसोम', यह अग्नि-सोम का पहिला मौलिक प्राणरूप युग्म हुआ। एवं इन तीन प्राणाग्नियों से उत्पन्न ताप तथा घोषधर्म्मा वैश्वानराग्निरूप 'अग्नि' तथा चतुर्विध भूतान्नरूप भूतसोम (जिसकी वैश्वान राग्नि में आहुति होती रहती है) यह अग्निसोम का दूसरा यौगिक युग्म हुआ। वेदाग्निसोमयुग्म अग्निसोम का 'प्रथमावतार' कहलाया, एवं वैश्वानराग्निरन्न युग्म अग्नि-सोम का द्वितीयावतार कहलाया। इन दोनों युग्मों के आधार पर सर्वथा स्थूलरूपात्मक महाभूतात्मक जो तीसरा अवतार होने वाला है, वही सम्वत्सरयज्ञमूलक अग्नि-सोम है जो आज के वक्तव्य का मुख्य लक्ष्य बना हुआ है, एवं जिसका दो शब्दों में ही स्पष्टीकरण होने वाला है।

अग्नि-वायु-आदित्यरूप वेदात्मक प्राणग्नियो के संघर्ष से उत्पन्न पूर्वोक्त वैश्वानर अग्नि के आगे जाकर 'विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ' ये तीन अवान्तर विवर्त हो जाते हैं। अग्नि को आधार बनाकर जब इसमें आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य आदित्य, इन दोनों की आहुति होती है, तीनों के समन्वय से उत्पन्न अग्निप्रधान त्रिमूर्ति वही वैश्वानर 'विराट' कहलाने लगता है। वायु को आधार बनाकर इसमें अग्नि-आदित्य की आहुति होने से समुत्पन्न त्रिमूर्ति वही वैश्वानर 'सर्वज्ञ' कहलाने लगता है। विराट वैश्वानर सहस्रपात् है, हिरण्यगर्भ वैश्वानर सहस्राक्ष है, एवं सर्वज्ञ वैश्वानर सहस्रशीर्ष है। 'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोका'- त्रिवृदग्नि' इत्यादि श्रुतियाँ अग्नि-वायु-आदित्य के इसी त्रिवृद्भाव का स्पष्टीकरण कर रही हैं जिसका छान्दोग्योपनिषत् की- 'तासा त्रिवृतां त्रिवृतामेकैकां करवाणि' इत्यादि त्रिवृत्करणप्रक्रिया से स्पष्टीकरण हुआ है। तीनों ही त्रि-त्रिः रूप हैं। अन्तर तीनों में केवल यही है कि विराट् अग्निप्रधान हे, हिरण्यगर्भ वायुप्रधान है एवं सर्वज्ञ आदित्यप्रधान है। तात्पर्य यही है कि त्रिमूर्ति अग्निप्रधान विराट् अर्थशक्ति का प्रवर्तक है, त्रिमूर्ति वायुप्रधान हिरण्यगर्भ क्रियाशक्ति का संचालक है एवं त्रिमूर्ति आदित्यप्रधान सर्वज्ञ ज्ञानशक्ति का उक्थ है। यों अपने तीन रूपों से वेदाग्नि-सोम पर प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य कृतमूर्ति वैश्वानराग्नि ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भावों का प्रवर्तक बनता हुआ अधिदैवत तथा अध्यात्म का संचालन कर रहा है। अर्थशक्तिप्रधान अग्निप्रमुख विराट् का प्रवर्ग्यांश ही अध्यात्म में 'वैश्वानर' कहलाया है। क्रियाशक्तिप्रधान वायुप्रधान हिरण्यगर्भ का प्रवर्ग्यांश ही 'तैजस्' कहलाया है। एवं ज्ञानशक्तिप्रधान आदित्यप्रमुख सर्वज्ञ का प्रवर्ग्यांश ही 'प्राज्ञ' कहलाया है। विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-रूप अग्नित्रयमूर्ति देवसत्य ही जीव या ईश्वर है एवं वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप अग्नित्रयमूर्ति देवसत्य ही ईश्वर का प्रवर्ग्यभूत जीव है, जिसका- 'तेन त्यक्तेन भुंज्जीथाः' से निरूपण हुआ है। 'अग्नित्रयमूर्ति ईश्वरीय देवसत्य साक्षी सुपर्ण कहलाया है, ये ही वैदिक तत्ववाद के पारिभाषिक 'भगवान्' हैं। एवं अग्नित्रयमूर्ति जैव देवसत्य भोक्ता सुपर्ण है, यही पारिभाषिक 'भगवदंश' रूप जीव है, जिसके लिए- 'ममैवाशो

जीवलोके जीवभूतः सनातन' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है एवं जिसका श्रुति ने यों यशोगान किया है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।

-ऋक्संहिता १।१६४।२०

मानव के अपने प्रज्ञाधरातल से ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीन तत्वों के अतिरिक्त सम्भवतः और कुछ भी तत्ववाद शेष नहीं रह जाता, जिनका क्रमशः प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानरानुबन्धी-बुद्धि-सेन्द्रियमन-शरीर-इन तीन तन्त्रों से क्रमिक सम्बन्ध है। अतएव मानव इन तीन शक्तियों पर ही अपने स्वरूप का विश्राम मान बैठता है क्योंकि मानव के सम्पूर्ण लोकानुबन्ध ज्ञान क्रियार्थभावों पर परिसमाप्त है। मानव की इस महती भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही तलवकारोपनिषत् प्रवृत्त हुई है जो 'केनोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ बतलाया गया है कि त्रैलोक्य के अग्नि-वायु-इन्द्र-नामक अर्थ-क्रिया-ज्ञान-शक्तिसम्पन्न इन तीन देवताओं ने 'अत्माकमेवेदभुवनम्' संसार हमारा ही है, संसार में हम ही सब कुछ हैं, इस अतिमान का अनुगमन कर लिया। इनके इस अतिमान के निराकरण के लिए एक महा यक्ष प्रादुर्भूत होते हैं। (जो कि चिदव्यब्रह्म का ग्राहक 'महान्' ही है)। वे एक तृण इनके सम्मुख रख देते हैं जिसे अर्थाभिमानी अग्नि जला नहीं सकते, क्रियाभिमानी वायु उड़ा नहीं सकते। ज्ञानाभिमानी इन्द्र के आते ही तृण अन्तर्लीन हो जाता है। ज्ञानीय तृण समानधर्मा ज्ञानधर्मा इन्द्र को स्वमहिमा में विलीन कर लेता है। यहाँ आकर पारमेष्ठ्य सोममयी चिद्ग्राहिणी हैमवती उमा नाम की महच्छक्ति आविर्भूत होती है और वह इन तीनों का यों उद्बोधन कराती है कि 'ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्'। यह तुम्हारी विजय नहीं है, अपितु ब्रह्म के विजय में ही तुम विश्वविजयी बने हुए हो। तात्पर्य इस तात्विक आख्यान का यही है कि अग्नि-सोम ही सब कुछ नहीं है, उनसे बँधी ज्ञानक्रियार्थशक्तियों पर ही मानव की मानवता विश्रान्त नहीं है। अपितु बुद्धिगत इन्द्र से भी परे अवस्थित लोकातीत आत्मब्रह्म का स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होना ही मानव की मानवता है। इस आत्मब्रह्म को मूलप्रतिष्ठा बनाये बिना त्रिदेवता, उससे अनुप्राणिता ज्ञानक्रियार्थ- शक्तित्रयी, तदाधारेण प्रतिष्ठित प्रत्यक्षदृष्ट भूत-भौतिक प्रपंच-सब कुछ व्यर्थ है।

जिन्हें हम 'जड़जीव' कहते हैं, उनमें केवल अर्थशक्तिप्रधान वैश्वानराग्नि की प्रधानता है। अतएव इन्हें 'एकात्मकजीव' माना गया है। क्या इनमें क्रिया, और ज्ञान नहीं है ? है, और अवश्य है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' के अनुसार ईशब्रह्म की सत्ता से सभी समन्वित हैं। इसी हृत-प्रतिष्ठ आत्मभाव को लक्ष्य बनाकर ही तो ऋषिप्रज्ञा ने एक पत्थर के लिए भी तो 'शृणोतु ग्रावाणः' (हे पाषाणों। आप हमारी प्रार्थना सुने!) यह कह दिया है। स्मरण रखिए, वर्तमान तत्वविशोधकों की भाँति यह कोई आलंकारिक भाषा नहीं है, अपितु विज्ञानसिद्ध तत्वभाषा है। अलंकारों का, तन्मूला काल्पनिक परम्पराओं का, तन्मूलक काल्पनिक कविताव्यासंगो का जन्म तो कल हुआ है, जिसे पुरातत्ववादी 'गुप्तकाल' कहा करते हैं। जानना चाहते हैं आप देवमहर्षि की कविता

का स्वरूप ? सुनना चाहते हैं आप प्रजापति की कविता से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों का उपवर्णन ? तो सुनिए!

विधुं दद्राणं समने बहुनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ।।

-ऋक्संहिता १०।५५।५।

हँसते-खेलते प्राणन-अपानन धर्म्मा एक सुसमृद्ध परिवार में-जिसका कि अब तक विश्व में कोई स्मरण-उल्लेख भी नहीं था, ऐसा एक नवीन मानव प्राणी आविर्भूत हो पड़ता है- अत्यन्त ही कलापूर्ण आकार को लिए हुए। यही बालमानव कालान्तर में विधाता की महान् कलाकृतियों से पुष्पित-पल्लवित होता हुआ वयस्क युवा बन जाता है, हट्टा-कट्टा जवान बन जाता है। यही मानव की दूसरी समृद्धावस्था है। आगे चल कर यही युवा मानव प्रजापति की एक नवीन कविता के विन्यास से उस अवस्था में परिणत हो जाता है, जिसमें इसका सम्पूर्ण सौन्दर्य धूलिपसरित हो जाता है। मुण्ड पलित हो जाता है, तुण्ड दर्शनविहीन बन जाता है, चर्म्म विगलित हो जाता है, शरीरयष्टि वक्र बन जाती है। पुनः यही एक दिन सहसा ऐसा विलीन हो जाता है, मानो यह कभी विश्व प्रांगण में था ही नहीं। और फिर ? फिर वह जन्मान्तर धारण के लिए सज्जीभूत बन जाता है। यह हे प्रजापतिदेव की, पारमेष्ठ्य भार्गव सोमदेव की चिद्विशिष्टा वह जीवनीया सहज काव्यधारा, जो अनाद्यनन्त प्रवाह से चक्रमाण है। निर्माण कर सकेंगे क्या आप ऐसे विविधाकाराकारित आश्चर्यप्रद सहजसिद्ध आलंकारिक महान् काव्य का ? भृगु ही वे महान् कवि हैं, जो अपने महल्लक्षण वीध्र सोम को अग्नि से समन्वित कर यज्ञिय शिल्प के द्वारा सर्गावस्था में इन विचित्र सृष्टिकाव्यों का सर्जन करते रहते हैं, एवं प्रतिसर्गावस्था में स्वमहिमा में इनका संवरण भी करते रहते हैं। परिवर्तनभावात्मक-नवनव कलाकृति समन्वित-जन्म-मृत्यु-प्रवाहात्मक इस महान् काव्य के स्वरूपबोध के आधार पर मृत्यु पर विजय प्राप्त करना ही क्रान्तिदर्शी ऋषियों के महान् काव्य वेदशास्त्र का महान् आलंकारिक सौष्ठव है, जिसके साथ मृत्युभावप्रवर्तक मनःशरीरविनोदानुबन्धी शृंगारादिभावनिबन्धन लौकिक, साहित्य-संगीत-कला-भावात्मक मानवीय काव्यों का कोई समतुलन नहीं किया जा सकता। विश्वरूप प्रजापति के महान् काव्य के स्वरूप-विश्लेषण के माध्यम से मृत्युविजय का उद्घोष करने वाले क्रान्तिदर्शी ऋषियों की तत्वभाषा ही इस देश की सांस्कृतिक कविता है, न कि अपने मानसिक उत्तालतरंगायित भावुकतापूर्ण भावों में विभोर बनते हुए शब्दविन्यास कौशलमात्र प्रदर्शित कर देने का नाम है कविता। मृत्युविजयसन्देश-वाहक क्रान्तिदर्शी सत्ता-वेदद्रष्टा-प्राज्ञ महर्षि ही इस राष्ट्र के 'राष्ट्रकवि' माने जायेंगे। जिनकी कविता के द्वारा सदा चिरन्तन-शाश्वत-सत्य का ही यशोगान होता रहता है। न कि युगधर्म्मानुसार बदलती रहने वाली लोकभावुकताओं का अपनी लोकैषणा की पूर्ति के लिए समर्थन करते रहने वाले गतानुगतिक शब्दाक्षरवर्णभावानुबन्धी कविगण। अथवा तो भगवान् बादरायण के मुखपंकज से निःसृत आत्मबुद्धिमनः शरीरसमन्वयमूला भारतीय मौलिक संस्कृति की गुणगाथा का विश्लेषण करने वाली पुराणगाथा ही इस देश की कविता मानी जायेगी। किंवा महामुनि वाल्मीकि की कविता ही इस देश में 'कविता' रूप

से सम्मानित होगी, जिसके द्वारा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के माध्यम से आर्ष ऋषिकाव्यात्मक भारतीय वैदिक सांस्कृतिक आचारपद्धतियों का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। तभी तो लोकसाहित्यदृष्टि से महामुनि वाल्मीकि आदिकवि माने गये हैं।

क्षमा करेंगे हमें राष्ट्रपति महाभाग इस प्रासंगिक और सम्भवतः मूललक्ष्य से अतिक्रान्त भी इस कविताप्रसंग के लिए। युगधर्माक्रान्ता सभा-समितियों के तात्कालिक अनुरंजन से हमारी वेदाभ्यासजडमति सर्वथैव असंस्पृष्ट है। हम तो ऋषिप्रदिष्ट गुहानिहित-पथ के पथिक बने रहते हुए यथामति स्वाध्यायनिष्ठा की ही उपासना में तल्लीन रहे हैं, जहाँ वर्तमान युग के लोकैषणामूलक व्यासंगों का संस्मरण भी निषिद्ध ही रहा है। आपका ध्यान देश की इस विलुप्तप्राया ज्ञानविज्ञान परिपूर्णा सम्प्रदायवादनिरपेक्षा मानवमात्रोपकारिणी ऋषिसंस्कृति की ओर आकर्षित हो जो कि भारत देश का वास्तविक सांस्कृतिक आयोजन माना गया है, एकमात्र इसी उद्देश्य से हम अप्रासंगिकरूप से भी अपने हृदयोद्गार व्यक्त करने की धृष्टता कर रहे हैं। आज एक ऐसे स्थान में ऋषिप्रज्ञा का सन्देश उपस्थित होने जा रहा है, जहाँ से सम्भवतः ही क्यों, निश्चय ही देश की सर्वस्वभूता इस आर्षसंस्कृति का समुद्धार सम्भव है।

इन प्रासंगिक हृदयोद्गारों के अनन्तर पुनः वैश्वानराग्नि से अनुप्राणित जीवसर्ग की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। 'शृणोतु ग्रावाणः' के सम्बन्ध से एकात्मक अग्निप्रधान जड़जीवों का दिग्दर्शन कराया गया, जिन्हें 'असंगजीव' भी कहा जाता है जिनमें क्रिया, और ज्ञान अन्तःसुप्त हैं। औषधि-वनस्पति-लता-गुल्म आदि जीवन द्वयात्मक जीव कहलाये हैं, जिनमें अर्थप्रधान वैश्वानर अग्नि के साथ-साथ क्रियाप्रधान तैजस वायु का भी विकास है। अतएव इन्हें अन्तः सज्ञ मान लिया गया है।

'तस्माद् रुदन्ति पादपाः, जिघ्रन्ति पादपाः, हसन्ति पादपाः, शृण्वन्ति पादपाः (महाभारत)।

अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख-समन्विताः' (मनुः)।

इत्यादि वचनों के अनुसार वृक्षादि अन्तः सज्ञ जीव स्वप्नदशा की भाँति चेतनवत् सभी ऐन्द्रियक व्यापारों के अनुगामी बने रहते हैं त्वगिन्द्रिय के माध्यम से। इसी चेतन धर्म के कारण हमारी संस्कृति- 'औषधे त्रायस्व' (हे औषधे आप हमारी रक्षा करें) इत्यादि रूप से स्तुति कर रही है इनकी। निष्कारण वृक्षादि का काटना-छाँटना भी इसी आधार पर निषिद्ध है। विशेषतः सायंकालवेला में वृक्षादि का स्पर्श भी निषिद्ध माना है यहाँ की विज्ञानमूला संस्कृति ने। 'शृणोतु ग्रावाणः- औषधे त्रायस्व' कहने वाला एक भारतीय मानव चलता हुआ प्राकृतिक लोष्ठ-पाषाणादि के ठोकर लगाता चलता है, वृक्ष-लता-गुल्मादि का उत्पीड़न करता चलता है तो भूतप्राणविकम्पन की दृष्टि से यह भी उसका हिंसा कर्म ही माना गया है। अवश्य ही इससे परम्परया स्वयं इसके भी प्राण विकम्पित हो जाते हैं, जिस विकल्पन का चर्मचक्षुओं से साक्षात्कार सम्भव नहीं है। जड़-चेतनादि यच्चयावत् पदार्थों को तत्तपदार्थों के स्वरूपानुपात से सुव्यवस्थित बनाये रखने वाला भारतीय मानव ही अहिंसाधर्म का वास्तविक अनुगामी

है, जिसके आधार पर- 'मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्' सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। और यही है यहाँ का प्राणमूलक 'अहिंसा' सिद्धान्त, जिसका- 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' से स्पष्टीकरण हुआ है। केवल भूतदृष्टि पर ही अहिंसा विश्रान्त नहीं है। वृथाचेष्टा-वृथाकर्म-वृथागमन-हसन- शयन-भाषण-आदि आदि सभी निरर्थक-अशास्त्रीयकल्पित-मनोऽनुबन्धी व्यासंग हिंसाकोटि में ही अन्तर्भुक्त हैं, जिनका काल्पनिक मानसिक अशास्त्रीय अहिंसावाद से कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि आज सत्य-अहिंसा-मानवता-आदि शब्दों के व्यामोहनमात्र से राष्ट्रप्रज्ञा व्यामुग्ध बनी हुई है। प्रकृतिविरुद्ध, आश्रमव्यवस्थाविरुद्ध आचरणों से विक्षुब्ध बन जाने वाले प्राकृतिक प्राण निश्चयेन मानव के आध्यात्मिक प्राणों को भी अस्तव्यस्त कर दिया करते हैं। यह प्राणदृष्टि ही ऋषिदृष्टि है, जिसके आधार पर सूर्य-चन्द्र-गगन-पवन- अनल-औषधि-वनस्पति-गौ-नक्षत्र-पृथिवी-आदि आदि का स्तवन हुआ है। सौर ताप से शीत निवृत्त होता है, चन्द्रिका से ताप शान्त होता है, इत्यादि भूतदृष्टियाँ कदापि इस स्तवन के मूल नहीं है, जैसाकि वर्तमान युग के प्रतीच्य-प्राच्य तत्वविशोधकों ने इस सम्बन्ध में अनर्गल कल्पनाएँ कर डाली हैं। प्राण-दृष्टिमूला देवोपासना से अनुप्राणित भारतीय दृष्टिकोण का कुछ भी तो मर्म नहीं समझा है इन भूतविज्ञानवादी अभिनव विचारकों ने। अलमतिपल्लवितेन।

प्रकृतमनुसरामः। अन्तः सज्ञ नामक द्वयात्मक औषधि-वनस्पत्यादि जीवों में अग्निमूलक अर्थ के साथ-साथ वायुमूलक क्रियातत्व भी अभिव्यक्त है। तीसरा जीववर्ग है त्र्यात्मक, जिसे 'ससज्ञजीव' कहा गया है। वैश्वानर अग्नि, तैजस, वायु इनके साथ-साथ जिन जीवों में प्राज्ञ आदित्य भी विकसित रहता है, वे ही 'ससज्ञ' कहलाये हैं, जिनके क्रमशः 'कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य' ये पाँच श्रेणिविभाग प्रसिद्ध हैं। असज्ञ-अचेतन-जड़-लोप-पाषाणादि एकात्मक जीव, अन्तः सज्ञ-अर्द्धचेतन-उभयात्मक-औषधिवनस्पत्यादि द्वयात्मक जीव, एवं ससज्ञ-चेतन कृमिकीटादि त्र्यात्मक जीव, क्या इन तीन प्रधान वर्गों में ही जीवसर्ग परिसमाप्त है। प्रश्न का जहाँ 'अग्नि' की दृष्टि से 'हाँ' समाधान होगा, वहाँ सोम की दृष्टि से इस सम्बन्ध में 'ना' ही कहा जायेगा। तीनों जीवसर्ग तो अग्नि-वायु-आदित्य के त्र्यात्मकरूप वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ से अनुप्राणित रहते हुए अग्नित्रयी पर ही परिसमाप्त हैं। अभी तो चान्द्रसोम और शेष हैं। इससे सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र-सौम्य-जीवसर्ग ही चौथा सर्ग है, जिसके क्रमशः अवान्तर यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-ऐन्द्र-प्राजापत्य पैत्र-ब्राह्म, ये आठ विवर्त्त माने गये हैं। ससज्ञ पार्थिव जीवों में जहाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, १ मन, यों ११ इन्द्रियाँ हैं, वहाँ आठ सिद्धि, नव तुष्टि रूप से चान्द्र जीवों में २८ इन्द्रियभाव हैं। असज्ञ, एवं अन्तः सज्ञ, दोनों पार्थिव जीवों का एकविध वर्ग मान लिया गया है क्योंकि दोनों में तमोगुण का ही प्राधान्य है। यही 'तमोविशाल' एकविध पार्थिव भूतसर्ग है, जिसका पारिभाषिक नाम है- 'स्तम्बसर्ग'। ससज्ञ नामक कृमिकीटादि पंचविध पार्थिवसर्ग आन्तरिक्ष्य सर्ग मान लिया गया है, जो 'रजोविशाल' सर्ग है। एवं ससज्ञ ही यक्ष-राक्षसादि आठ चान्द्र जीव दिव्य जीव मान लिए गये हैं, जिन्हें 'सत्वविशाल' कहा गया है। यों एकविध तमोविशाल, पंचविध रजोविशाला, एवं अष्टविध सत्वविशाल भेद से पार्थिव-चान्द्र सम्बन्धी भूतसर्ग, किंवा जीवसर्ग

चौदह श्रेणियों में विभक्त हो रहा है, जैसाकि सांख्यशास्त्र के- 'चतुर्दशविधो भूतसर्गः' इस वचन से स्पष्ट है। इन १४ भूतसर्गों में स्तम्ब नामक तमोविशाल एकविध सर्ग (जिसके अवान्तर असज्ञ तथा अन्तःसज्ञ नामक दो विवर्त है), एवं क्रमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य-यह पंचविध सर्ग, कुल ६ सर्ग तो 'अग्निप्रधान जीवसर्ग है', एवं यक्षादि ब्राह्मान्त अष्टविध चान्द्रसर्ग 'सोमप्रधान जीवसर्ग है'। यों अग्नि-वायु-आदित्य-रूप अग्नि, तथा अन्नात्मक सोम रूप द्वितीय अग्नीषोमावतार से इनके महिमामण्डल के गर्भ में १४ प्रकार के अग्नीषोमात्मक जीवसर्ग प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

क्या जीवसर्ग यहाँ परिसमाप्त है ? अवश्य। जिसे 'प्राणिसर्ग' कहा जाता है, जो प्राणवान् है, अतएव जो 'भूतसर्ग' नाम से प्रसिद्ध है, वह तो तथोपवर्णित वैश्वानराग्निनत्रयी एवं चान्द्रसोमात्मक चतुर्दशविध भूतसर्ग पर ही परिसमाप्त है।

अब आगे जो सर्ग है, वह भूतसर्ग नहीं, प्राणसर्ग है, जिसका सौर अग्नि, तथा पारमेष्ठ्य साम नामक युग्म से सम्बद्ध है, जिसे हमने वैश्वानररूप पार्थिव लोकाग्नि, तथा चान्द्र अन्न सोम की प्रतिष्ठा बतलाया है। 'त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवा' के अनुसार सौर प्राणाग्नि अवान्तर तैंतीस कोटि (विभागों) में विभक्त सौर देवप्राण हैं। सूर्य्य से ऊपर अवस्थित परमेष्ठी में आप्य प्राण-वायव्य प्राण-सौम्य प्राण-ये तीन प्राण हैं। आत्मप्राण असुर हैं, जिनके अवान्तर ९९ विभाग हैं, अर्थात् देवप्राणों से तिगुने। वायव्य-प्राण गन्धर्व हैं, जिनके अवान्तर अंघारि-बम्मारि आदि अनेक विवर्त हैं। सौम्यप्राण पितर हैं, जिनके आज्यपा-सोमपा-आदि अवान्तर सात विवर्त हें। और यहाँ आकर ऋक्सामयजुरथर्वरूप प्रथमावतारूप अग्नीषोमयुग्म से सम्बन्ध रखने वाला प्राणसर्ग समाप्त है।

क्या परमेष्ठी पर प्राणसर्ग समाप्त हो गया ? नहीं, अभी एक प्राणसर्ग और शेष है, जिसे स्वायम्भुव सर्ग कहा गया है, जिस मौलिक प्राणाग्नि से अग्नीषोमरूप वेदात्मक प्रथमावतार हुआ है। 'वामपलित' नामक यह स्वायम्भुव मौलिक प्राण ही मूलसर्ग है, जिसे ऋषिसर्ग कहा गया है। वसिष्ठ-विश्वामित्र-भरद्वाज-अत्रि- अंगिरा-आदि आदि जो मानव ऋषि नाम लोक में प्रसिद्ध हैं, वे नाम तत्वतः प्राणात्मक ऋषितत्वों के ही हैं। क्या स्वरूप है इस ऋषितत्व का ? इस दुरधिगम्य प्रश्न का समाधान करते हुए मानव महर्षि कहते हैं-

विरूपास इद्ऋषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।
तेऽगिंरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ।।

-ऋक्संहिता १०।६२।५।

विरूपासः विविधरूपासः असंख्य विभेद हैं ऋषिप्राणों के, जिनके सम्बन्ध में यह प्रश्नोत्तरविमर्श सुप्रसिद्ध है कि 'जब कुछ न था, तो क्या था ? अर्थात् विश्वोत्पत्ति से पहिले क्या तत्व था? श्रुति ने उत्तर दिया, विश्व से पहिले 'असत्' ही था। 'असत्' का अर्थ तो लोक में 'अभाव' होता है। क्या यह तात्पर्य है कि विश्व से पूर्व कुछ भी न था ? नहीं। वह असत् अभावार्थक नहीं है। अपितु भावार्थक है, तत्वात्मक है। तो पुनः जिज्ञासा हुई

कि, 'क्या स्वरूप था उस असत् का ?' श्रुति ने उत्तर दिया, 'ऋषि' ही वह असत् तत्व था। लीजिए, यह तो इन्द्र की टीका बिड़ौजा हो पड़ी। अतएव प्रश्न स्वाभाविक था कि उस ऋषि का क्या स्वरूप था। ? उत्तर मिला, 'प्राणतत्व का ही नाम ऋषि था।' यहाँ आकर 'असत्' का कुछ अर्थ उपलब्ध हुआ। प्राणवान् वस्तु 'सत्' कहलायी है। प्राण में क्योंकि प्राण नहीं रहता इसी दृष्टि से 'प्राण' को 'असत्' कह दिया जाता है जिसका अर्थ है 'विशुद्ध सत्' भाव। इसीलिए अन्यत्र 'सदेवेदमग्ने' सोम्य असदासीत, कथमसत सज्जायेत' इत्यादि रूप से- 'हे सोम्य! वह असत् सत् ही था, यह कहा गया है।' अब केवल एक प्रश्न शेष रह गया। इस सद्रूप असत्प्राण को 'ऋषि' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ? इसका समाधान करती हुई श्रुति अन्त में कहती है कि 'यह प्राणतत्व ही क्योंकि सृष्टिकामना से प्रेरित होकर गतिशील बना, अतएव 'रिषति-गच्छति-गतिशीलो भवति' निर्वचन से इस प्राण का तात्विक नाम हो गया, 'ऋषि'। इसी सर्वादिकारणरूप मूल ऋषिप्राण के इस चिरन्तन इतिहास का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है-

'असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति ? ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषयः ?। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरा-अस्मात् सर्वस्मात्-इदमिच्छन्तः श्रमेण-तपसा-अरिषन्-तस्मात्-ऋषयः'।

-शत.ब्रा. ६।१।१।१।

यह मौलिक ऋषिप्राण एकर्षि-द्वधर्षि-त्र्यर्षि-सप्तर्षि-दशर्षि आदि आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त है। ये ऋषिप्राण अधिदैवत-अध्यात्म-अधि-भूत भेद से यत्र-तत्र विभिन्न भावों से मूलाधार बने हुए हैं। उदाहरण के लिए 'साकंज' नामक आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण को ही लक्ष्य बनाइये। हमारे शिरोमण्डल में दो कान, दो आँख, दो नासाछिद्र, एक मुखविवर ये सात विवर प्रत्यक्ष द्रष्ट हैं। इनमें कर्ण-चक्षु-नासाछिद्र सयुक् हैं, अर्थात् जोड़ले हैं, साथ रहने वाले हैं, जबकि सातवाँ मुखविवर एकाकी ही है। इनमें रहने वाले इन्द्रियप्राणों के आधारभूत मौलिक प्राण ही सप्तर्षि प्राण हैं, जैसाकि निम्न लिखित वेदमन्त्र से स्पष्ट है-

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ।।

-ऋक्संहिता १।१६४।१५।

शिरःकपाल क्या है? मानो एक वैसा कटोरा है, जिसका बुध्न-अर्थात् पैंदा तो ऊपर की ओर है, जो आठ कपालों से जुड़ा हुआ महाकपाल है, जिसे लोक-भाषा में 'खोपड़ी' कहा गया है। बिल इस कटोरे का आधा है। औंधा है यह कटोरा, जिसमें मानव की अध्यात्मसंस्था का सम्पूर्ण श्रीरूप सारभाग भरा हुआ है जिसे यज्ञभाषा में अष्टाकपालावच्छिन्न- 'पुरोडाश' नामक हविद्रव्य कहा गया है, एवं जिसे ग्रन्थिबन्धन से विमुक्त करने के लिए ही

ओरस पुत्र के द्वारा प्राणोत्क्रमणानन्तर 'कपालक्रिया' नामकी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रचलित है शवदाहकर्म में। यही पुरोडाश योगभाषा से सहस्रदलकमल, चिकित्सा की भाषा में मस्तिष्क एवं लोकभाषा में 'भेजा' कहलाया है। इसी रस से सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ रसग्रहण करती हैं। ऐसे इस अर्वाग्बिल तथा ऊर्ध्वबुध्न 'चमस' नामक शिर-कपालरूप कटोर के प्रान्त भागात्मक तीर भागों पर ही पूर्वोपवर्णित सातों आध्यात्मिक ऋषिप्राण यथास्थान प्रतिष्ठित हैं, जिस इस रहस्य का निम्नलिखित मन्त्र ने स्पष्टीकरण हुआ है-

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा सविदाना ।।

-शत.ब्रा. १४।५।२।५।

एक आनुषंगिक विश्लेषण और। ज्ञानेन्द्रियों के आधारभूत कपालस्थित रसात्मक मस्तिष्क को ही 'श्रीः' कहा गया है जिसका परोक्षरूप है, 'शिर'। अतएव निगममूलक आगमशास्त्र में पशुमस्तक को 'श्रीः' कहा गया है। यह यशोरूप श्रीरस अष्टाकपालरूप दृढ़तम शिर कपाल के वेष्टन से प्रजापति के द्वारा सुगुप्त-परोक्ष बना हुआ है। अतएव भारतीय संस्कृति में शिरोवेष्टनभाव ही मांगलिक माना गया है, जैसा कि- 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादि वेदवचन से प्रमाणित है। सर्वांगशरीर-गुप्तेन्द्रियों को छोड़ कर भले ही नग्न रहे, किन्तु मस्तक उष्णीषादि से अवश्य ही वेष्टित रहना चाहिए, यही इस देश की 'श्री' मूला मांगलिक स्वस्त्ययनपरम्परा है। नग्न शिर, उघाडा माथा यहाँ अमंगलसूचक माना गया है। मांगलिक तिलक-विधान भी उघाड़े मस्तक पर अमांगलिक बन जाया करता है। महान है हमारे देश का यह मांगलिक स्वस्त्यन कर्म्म, जिसकी सर्वप्रथम उपेक्षा की बंगाल ने, जिसके आधार पर 'भूखा बंगाली' आभाणक प्रसिद्ध हो पड़ा। और तदनुपात से आज तो इस सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन करना वर्तमान सभ्यता से अनुप्राणित नग्न मस्तकों को रुष्ट ही करना होगा। पठन-पाठन के आरम्भ में 'श्रीः' पत्रादि लेखनारम्भ में श्री सर्वत्र 'श्री' भाव का, यशोरसात्मक ऐश्वर्य्यभाव का उपक्रम ही इस श्रीसम्पन्न देश का मांगलिक प्रतीक रहा है, जो दुर्भाग्यवश कल्पित साम्प्रदायिकता के व्यामोहनाकर्षण से आज राष्ट्रीय प्रजा से परांगमुख ही बनता जा रहा है, अथवा तो बलपूर्वक बना दिया गया है।

प्रसंग प्राण का चल रहा है। सचमुच 'अनन्ता हि मे प्राणाः'। प्राणोदान-व्यानसमानापान-नामक पाँच प्राणों में से मध्यस्थ व्यानप्राण के ही अनन्त विभूतिभेद हो जाते हैं। ७२ सहस्र नाडियों में विभक्त व्यान का आगे जाकर अनन्त विस्तार हो जाता है। देखिए-

'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वगंन्या उत्क्रमणे भवन्ति' ।।

-छान्दोग्य उपनिषत् ८।६।५६।

'हिता नाम नाड्यः-द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते। ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते'।।

-वृहदा. उप. २।१।१६।

'हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां, तासां शतं शतमेकैकस्याम् ।

द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशखानाडीसहस्राणि भविन्त। आसु व्यानश्चरति'।

-प्रश्नोपनिषत् ३।६।

इत्थंभूत स्वायम्भुव तत्वात्मक गत्यात्मक मौलिक प्राणों का ही नाम है- 'ऋषि'। जिस मानव श्रेष्ठ ने तपोबल-अध्यवसाय से सर्वप्रथम जिस प्राण का परीक्षण के द्वारा साक्षात्कार किया, वह मानव 'यशोनाम' दृष्टया उसी ऋषिप्राण के नाम से प्रसिद्ध हो गया। सचमुच अनन्त है ये ऋषिप्राण, जिनकी यह अनन्तता-अविज्ञेयता भी सुनिश्चित ही बनी हुई है। ऐसा कोई भी सृष्टितत्व नहीं है, जिसे ऋषिप्रज्ञा ने अग्नीषोमात्मिका यज्ञविद्या के माध्यम से न पहिचान लिया हो। जो जानने का था, वह जाना जा चुका है। एवं जो विश्वातीत नहीं ही जानने का है, वह कदापि नहीं ही जाना जायेगा। इसी आधार पर तो यहाँ के ऋषि के लिए 'विदितवेदितव्याः अधिगतयथातथ्या' इत्यादि उपाधियाँ निश्चित हुई हैं। ध्यान रहे, यह प्राणी की भाषा नहीं है, अपितु प्राण की भाषा है। अनन्त की अनन्तभावगभीरा अनन्तभाषा है। परांगमुख बन गये हैं आज हम इस प्राणमाया से। अतएव हमें आज तो इसके उच्चारणमात्र का भी अधिकार नहीं है। अतएव लज्जित हैं वैदिक विज्ञान के सम्बन्ध में आज हम यत्किंचित भी निवेदन करते हुए। इसीलिए तो प्रचारात्मिका प्रवृत्ति के लिए हमने अपने आपको अयोग्य ही अनुभूत किया है सदा से ही। आज यहाँ तो उपस्थित हो पड़ने के आकर्षण का एकमात्र इस अनुबन्ध से हम संवरण न कर सके कि सम्भव है राष्ट्रपति महाभाग की संस्कृतिनिष्ठा-प्रेरणा से इस विलुप्तप्रायः उस संस्कृति का प्रचार सफल बन सके, जो एतद्देशीया आर्षसंस्कृति न केवल एतद्देशीय मानव के लिए ही, अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड के मानवमात्र के उद्बोधन का कारण मानी गयी है। संस्कृतिशिक्षक एतद्देशीय द्विजाति मानव के माध्यम से। निश्चय ही वैदिक ज्ञानविज्ञानमूला आर्षसंस्कृतिरूपा हिन्दूसंस्कृति का किसी भी सीमित सम्प्रदायवादात्मक मतवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। शिरः कपालानुगत सप्तर्षिप्राण की सत्ता कौन नहीं मानेगा ? तन्मूला अग्नीषोमविद्या के सम्मुख कौन अवनतशिरस्क न बन जाएगा ?, नाक्षत्रिक आख्यानों से कौन शिक्षा ग्रहण न करना चाहेगा ? तभी तो मानवधर्मप्रवर्तक राजर्षि मनु ने मुक्तहृदय से यहाँ के मुक्तहृदय द्विजाति के लिए यह कहने में यत्किंचिंत भी तो संकोच नहीं किया कि -

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

-मनु

'स्वल्पारम्भाः क्षेमकरा' यह यहाँ की चिरन्तन पद्धति है। अतः दो शब्दों में अग्नीषोमविद्या का दिग्दर्शन कराते हुए आज का वक्तव्य उपरत हो रहा है। स्वायम्भुव मौलिक प्राणात्मक अनन्तविध ऋषिप्राणसर्ग, तदाधारेण प्रवृत पारमेष्ठ्य आप्यप्राणात्मक नवतीर्नवविध (९९) असुरप्राणसर्ग, वायव्यप्राणात्मक सप्तविंशतिविध (२७) गन्धर्वप्राणसर्ग, सौम्यप्राणात्मक सप्तविध (७) पितृप्राणसर्ग, त्रयस्त्रिं-शद्विध (३३) सौर देवप्राणसर्ग, इन ऋषि-असुर-गन्धर्व-पितर-देव-रूप प्राणसर्गों की समष्टिरूप ऋक्-यजु-सामरूप-प्राण-अग्नि एव अथर्वरूप प्राणसोम, इस मौलिक वेदात्मक प्रथम अग्नीषोमयुग्म के आधार पर अन्तर्यामात्मक चयनयज्ञ से अग्नि-वायु-आदित्यरूप पार्थिव अग्नित्रयी तथा चान्द्रसोम, इस द्वितीय अग्नी-षोमयुग्म का प्रादुर्भाव हुआ। इसके गर्भ में इसके ही वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप-अग्नि-वायु-आदित्य-भागों के समवन्यतारतम्य से पार्थिव अग्निसोममय 'प्राणी-सर्ग' का उदय हुआ, जिसके अवान्तर १४ विवर्तों का पूर्व में दिग्दर्शन किया जा चुका है। वैश्वानराग्नि के आधिदेविकरूप ही विराट्-हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ कहलाये हैं। इनकी समष्टि ही सम्वत्सर है। इस सम्वत्सर से सम्बन्ध रखने वाले भूतात्मक, अतएव प्रत्यक्ष दृष्ट भूतानि तथा भूतसोम का ही अब हमें दो शब्दों में दिग्दर्शन करा देना है।

जिस सम्वत्सर के आधार पर अग्नीषोमविद्या प्रतिष्ठित है, वह सौर-चन्द्र-पार्थिव-रूप से तीन भागों में विभक्त माना गया है। यहाँ हम तीनों को एक मानते हुए पार्थिव-सम्वत्सर के माध्यम से ही भूताग्नि तथा भूतसोम का समन्वय करेंगे। शब्द है वास्तव में 'सर्वत्सर', जो परोक्षभाषा में 'सम्वत्सर' कहलाया है। भूपिण्ड सूर्य को केन्द्र मानकर क्रान्तिवृत्त पर घूम रहा है। त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त वर्त्तुल (गोल) न रहकर अण्डाकार बन जाया करता है जो कि पुराण परिभाषा में 'ब्रह्माण्ड' तथा ज्योतिष-परिभाषा में 'दीर्घवृत्त' कहलाया है। क्रान्तिवृत्त त्रिकेन्द्रात्मक बनता हुआ दीर्घवृत्तात्मक अण्डभाव में ही परिणत हो रहा है। सूर्य अपनी केन्द्र शक्ति से भूपिण्ड को निरन्तर जहाँ अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं, वहाँ भूपिण्ड अपनी केन्द्र शक्ति से सूर्याकर्षण में प्रवृत्त है। इसी पारस्परिक आकर्षण को 'प्रयुता संयोग' कहा है वेद ने। इस समानाकर्षण से न तो सूर्यपिण्ड भूपिण्ड को आत्मसात् करने पाता एवं न भूपिण्ड सूर्यपिण्ड को। सौर सावित्राग्नि यदि प्राणदपानत्-धर्मा है, तो तत्प्रवर्ग्य-तत्-उपग्रहभूत भोम गायत्राग्नि भी प्राणन-अपानन से युक्त है, जैसा कि 'एति च प्रेति च अन्वाह' रूप से पूर्व के सोमापहरणाख्यान में स्पष्ट किया जा चुका है। दोनों ग्रहों के प्राणदपानल्लक्षण इस समान आघात-प्रत्याघात से भूपिण्ड छंदगति से एक नियत मार्ग पर आरूढ़ होता हुआ परिभ्रमणशील बन रहा है। क्या तात्पर्य है इस छंदगति का ? इसी प्रश्न का रहस्यपूर्ण समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं-

'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। तान्तसर्द्धमानान् गायत्री अन्तरा तस्थौ। या वै सा गायत्री आसीत्, इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ। अग्निर्वैदेवानां दूत आस। सा देवानुपावर्त्तत'।

-शतपथ ब्रा. १।४।१।३४।

उक्त वचन पार्थिव परिभ्रमण से सम्बन्ध रखने वाले क्रान्तिवृत्त की कुटिलगति का ही विश्लेषण कर रहा

है। वृत्त का स्वरूप-निर्माण ही तब होता है, जबकि वृत्त की प्रतिबिन्दु कुटिलभाव से अग्रगामिनी बनती है। भूपिण्ड स्वप्राण से सीधा जाना चाहता है। सूर्य अपने आकर्षण से इसे अपनी ओर किसी एक बिन्दु के द्वारा खींचता है। यहाँ से पुनः भूपिण्ड सीधा जाना चाहता है। पुनः सूर्य इसे वक्रित करता है। इस धारावाहिक चक्रमण से गतिमार्ग की प्रतिबिन्दु कुटिल बन जाती है। यही सर्वत व्याप्ता त्सरता, अर्थात् कुटिलता, किंवा छद्मगतित्व है, जिससे क्रान्तिवृत्त का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। 'सर्वतत्सरन् गच्छति भूपिण्डः स्वपरिभ्रमणमार्गे' इस निर्वचन से ही परिभ्रमणात्मक क्रान्तिवृत्त 'सर्वत्सर' कहलाया है जो कि परोक्षभाषा में 'सम्वत्सर' कहलाया है। देखिए।

'स प्रजापतिः सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतत् यत् सम्वत्सरः।' (शत.ब्रा. ११।५।६।१२।)

ज्योतिश्चक्रात्मक खगोलीय वृत्त के ३६० अंशों में से उत्तर-दक्षिण ध्रुव-प्रदेशात्मक अर्द्धखगोल का परिमाण षड्भान्तर माना गया है, अर्थात् १८० अंशात्मक। इसके मध्य में जो पूर्वापरवृत्त है, वह है बृहतीछन्द, जो ज्यौतिष में विष्वद्वृत्त कहलाया है। इससे ठीक ९० अंश पर उत्तर में उत्तर ध्रुव है, दक्षिण में ९० अंश पर दक्षिण ध्रुव है। इसी आधार पर जैसे क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र 'कदम्ब' कहलाया है, वैसे विष्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र ध्रुव माना गया है, मध्यस्थ विष्णद्वृत्त से २४ अंश उत्तर, २४ अंश दक्षिण, यह ४८ अंश का परिसरात्मक जो मण्डल है, उसीका नाम है 'सम्वत्सर', जिसके वयोनाध तथा वयरूप दो स्वरूप माने गए हैं। छन्दोरूप सम्वत्सर वयोनाध सम्वत्सर है, यही भातिसिद्ध कालात्मक सम्वत्सर है एवं इस छन्द से छन्दित सीमित वस्तुस्वरूपात्मक सम्वत्सर वय है, यही सत्तासिद्ध अग्न्यात्मक सम्वत्सर है। अड़तालीसवें अंश की परिधि से समन्वित वृत्त ही वह क्रान्तिवृत्त है, जिस पर भूपिण्ड घूम रहा है। यह है सम्वत्सर की संक्षिप्त स्वरूपदिशा। इसी के आधार पर हमें अग्न्यात्मक सत्तासिद्ध सम्वत्सर का समन्वय करना है एवं तद्द्वारा सम्वत्सरमूलक अग्नि-सोम भावों का।

सत्याग्नि तथा सत्य सोम से सृष्टि नहीं होती क्योंकि वह तो स्रष्टा का ब्रह्मौदन बना रहता है। सूर्य-भूपिण्ड आदि सत्याग्निपिण्ड हैं, चन्द्रमा, शुक्र आदि सत्यसोमपिण्ड हैं। इनसे प्रवर्ग्यरूप से पृथक होने वाले अग्नि सोम ही ऋत कहलाये हैं। एवं 'उच्छिष्टाज्जाज्ञिरे सर्वम्' इस अथर्वसिद्धान्त के अनुसार ऋताग्निसोम से ही प्रजोत्पत्ति होती है। कालात्मक खगोलीय सम्वत्सरमण्डल के उत्तर भाग में ऋतसोम प्रतिष्ठित है, जो निरन्तर दक्षिण की ओर जा रहा है। एवमेव दक्षिण भाग में ऋताग्नि प्रतिष्ठित है, जो निरन्तर उत्तर की ओर आ रहा है। इस गमनागमन-प्रक्रिया के द्वारा ऋताग्नि में ऋतसोम की निरन्तर आहुति होती रहती है। इसी आहुतिकर्म का नाम है यज्ञ, जो कि- 'सम्वत्सरयज्ञ' कहलाया है। यही पार्थिव प्रजासर्ग का उपादान बनता है। अतएव सम्वत्सरयज्ञ को 'प्रजापति' कह दिया जाता है। ऋताग्नि का आगमन दक्षिण से होता है। अतएव कृषि-अन्न का परिपाक दक्षिण से ही आरम्भ है। अतएव भारतीय कृषक परिपक्व अन्न को दक्षिण से ही काटना आरम्भ करता है।

ऋत अग्नि में ऋत सोम की आहुति होने से जो एक अग्निषोमात्मक सांयौगिक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, उसे ही 'ऋतु' कहा गया है। लोकानुबन्ध से जहाँ सम्वत्सर में ६ ऋतुएँ मानी जाती हैं, वहाँ वैज्ञानिक यज्ञानुबन्ध

से पाँच ही ऋतुएँ हैं। अतएव सम्वत्सरयज्ञ 'पाँच' अर्थात् पंचावयव कहलाया है। पंचप्राण-पंचभूत-पंचज्ञानेन्द्रियाँ-पंचकर्मेन्द्रियाँ-पंचांगुलि आदि आदि समस्त पंचभाव सम्वत्सरयज्ञ की पंचावयवा ऋतु से ही अनुप्राणित हैं। 'हेमन्तशिशिरयो समासेन' रूप से हेमन्त और शिशिर-दोनों को एक शीतऋतु मानकर पाँच ऋतुएँ मान ली गयी हैं। प्रत्येक ऋतु ७२-७२ दिनों में विभक्त है। लोक में भी राजस्थान की प्रान्तीय भाषा के 'पून्यूँ पड़वा टाले, तो दिन वहत्तर गाले' इस आभाणक से वैदिक पंचर्तुस्वरूप सुपरिचित बना हुआ है। १६-४०-१६-इस विभाजन से ७२ दिन की प्रत्येक ऋतु प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-सायंसवन-रूपा तीन यज्ञप्रक्रियाओं से क्रमशः बालावस्था-युवावस्था-वृद्धावस्था- इन तीन अवस्थाओं में अपना भोग करती है। मध्य की ४० दिन की युवावस्था ही हमारे यहाँ 'चिल्ला' कहलाया है। क्या अर्थ है सम्वत्सरयज्ञस्वरूप सम्पादिका वसन्तादि ऋतुओं का, इस प्रश्न का समन्वय भी आरम्भ की शब्दार्थरहस्यमर्यादा के द्वारा ही कर लीजिए।

मान लीजिए-अभी अत्यन्त शीत का प्रकोप है। सम्वत्सर अग्नि से विहीन बन रहा है। सोमात्मक शीततत्व के चरम विकास के अनन्तर अग्नि का जन्म हो पड़ता हैं। सद्यः प्रसूत अग्निकण शीतभावापन्न सोमपटल पर बसने लगते हैं। यही पहिली 'वसन्त' ऋतु है, जिसका निर्वचन है- 'यस्मिन् काले अग्निकणाः पदार्थेषु वसन्तो-निवसन्तो भवन्ति, स कालः वसन्तः'। आगे चलकर अग्नि ने अधिक बल से पदार्थों को ग्रहण किया। 'यस्मिन् काले अग्निकण पदार्थान् गृह्णन्ति, स कालः ग्रीष्म' निर्वचन से वही काल 'ग्रीष्म' कहलाया। अग्नि और प्रवृद्ध हुआ, निःसीम बना, मानो जलाने ही लग पड़ा पदार्थों को। यही 'नितरां दहत्यग्निः पदार्थान्'- निर्वचन से 'निदाघ' भी कहलाने लग पड़ा। निदाघ की चरमोवस्था ने अग्निविकास को परावर्तित कर दिया, संकोचावस्था आरम्भ हो पड़ी। यही संकोचावस्था 'वर्षा' कहलायी। 'अतिशयेन उरु-अग्निः-यस्मिन् काले-निर्वचन से अग्नि का 'उरु' भाव ही वर्षा कहलाया। पाणिनीय व्याकरण ने उरु को 'वर्ष' आदेश कर दिया। और यों 'उरु' शब्द 'वर्ष' रूप में परिणत हो गया। यों अग्नि ही अपने क्रमिक उद्ग्राम-चढ़ाव-से वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-इन तीन ऋतुओं में परिणत हो गया, जिनमें वसन्त बना अग्नि का उपक्रमकाल, ग्रीष्म बना मध्यकाल, वर्षा बना उपसंहारकाल। उपक्रम ही आधानकाल था शान्त अग्नि का, मध्य ही प्रचण्ड काल तथा उग्र अग्नि का, अवसान ही गुप्तकाल था अन्तर्मुख अग्नि का। इसी आधार पर शान्त-उग्र-अन्तर्मुख ब्राह्मण- क्षत्रिय-वैश्य के लिए वैधयज्ञ में वसन्त-ग्रीष्म-एवं वर्षानुगत शरत् अग्न्याधान-काल माने गये, जैसाकि-'वसन्ते ब्राह्मण-ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः अग्नीनादधीत' इत्यादि से स्पष्ट है।

अग्नि की तीसरी वर्षा ऋतु को सम्वत्सरवाचक 'वर्ष' शब्द से क्यों व्यवहृत किया गया, यह प्रश्नोत्थान कर श्रुति ने उत्तर दिया, जब पुरवाई हवा चलती है तो वर्षाकाल वसन्त की छटा से, उष्मा के वेग से यही ग्रीष्म की छटा से, पानी बरसने के अनन्तर यही शरत् की छटा से, एवं अत्यन्त पानी बरसने के अनन्तर शीत की छटा से यह वर्षाऋतु युक्त हो जाती है। स्वयं वर्षा तो यह है ही। इस प्रकार-'वर्षात्वेव सर्वऋतव' रूप से क्योंकि वर्षाऋतु में सब ऋतुओं का भोग हो रहा है, अतएव सम्वत्सर वाचक वर्ष नाम से यह ऋतु प्रसिद्ध हो पड़ी है। अपि च

वर्षाऋतु में यदि वर्षा न हो, तो सम्पूर्ण वर्ष ही निस्तत्व बन जाय कृषि-अन्न के अभाव में। वर्ष का वर्षत्व क्योंकि वर्षा पर ही अवलम्बित है इसलिए भी इस ऋतु को 'वर्ष' नाम से व्यवहृत करना प्रकृतिसिद्ध है। क्योंकि वर्षाऋतु में सम्पूर्ण ऋतुओं का भोग है। अतएव भारतीय शास्त्रीय संगीताचार्यों ने वर्षाऋतु में सम्पूर्ण ऋतुओं के रागों का गान विहित मान लिया है।

अग्निचर्चा समाप्त हुई। अब सोम को लक्ष्य बनाइए। जिस अनुपात से वसन्त से अग्निकण उपक्रान्त बने थे, उसी अनुपात से अब अग्निकण शीर्ण होने लगे। 'यस्मिन् काले-अग्निकणाः शीर्णा भवन्ति-स कालः' ही 'शरत्' कहलाया। अग्निकण और हीन बने और सर्दी बढ़ी। अतएव 'यस्मिन् काले अग्निकणा हीनतां गता भवन्ति, स कालः' ही 'हेमन्त' कहलाया। अन्ततो-गत्वा अग्निकण सर्वथा शीर्ण हो गये, शीतप्रवर्तक सोम का ही प्राधान्य रह गया। यही 'पुन पुनरतिशयेन शीर्णा-अग्निकणा-स कालः' ही 'शिशिर' कहलाया। और यहाँ आकर अग्नि का निग्राम-उतार-समाप्त हुआ। वसन्त से अग्नि का जन्म, शरत् से सोम का जन्म। वर्षा पर अग्नि की समाप्ति, शिशिर पर सोम की समाप्ति। अग्नि की चरम विकासावस्था की ही सोम में परिणति, सोम की चरम संकोचावस्था की ही अग्नि में परिणति। अग्निसोम के इस परिवर्तन से ही ऋतुओं का जन्म। ऋतुओं से ही सम्वत्सरयज्ञ की स्वरूपस्थिति एवं यही 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' का संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् का संचालन हो रहा है।

अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर की इस व्याप्ति का दाम्पत्यरूप से साक्षात्कार भी कर लीजिए। आप सूर्य की ओर मुख करके खड़े हो जाइए। आपका दक्षिणभाग दक्षिण दिशा से तथा वामभाग उत्तर दिशा से अनुगत रहेगा। दक्षिण भाग दक्षिण से उत्तर की ओर आने वाले ऋताग्नि से अग्निप्रधान बना रहेगा, वामभाग उत्तर से दक्षिण की ओर आने वाले ऋतसोम से सोमप्रधान बना रहेगा। यों केवल आपके एक ही शरीर में अग्नि और सोम, दोनों का भोग अनुप्राणित रहेगा। अग्नि ही पुरुषभाव है, सोम ही स्त्रीभाव है। अतएव आपका अग्निप्रधान दक्षिणांग पुरुषभावप्रधान माना जाएगा। सोमप्रधान वामांग स्त्रीभावप्रधान माना जाएगा, जिसके आधार पर वैज्ञानिक तत्वज्ञ भारतवर्ष की शिवशक्तिसमन्विता अर्द्धनारीश्वरोपासना प्रतिष्ठित है।

अब दाम्पत्यरूप से अग्नि-सोम का समन्वय कीजिए। मानव अग्निप्राण-प्रधान है, अतएव पुरुष 'आग्नेय' माना गया है। मानवी सोमप्राणप्रधाना है, अतएव स्त्री 'सौम्या' मानी गयी है। दोनों अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर मण्डलरूप खगोल के ही मानो अर्द्धवृगलात्मक दो ब्रह्माण्ड कटाह हैं, जिन दोनों के दाम्पत्य से ही आध्यात्मिक सम्वत्सर का स्वरूप निष्पन्न होता है। जिस इस दाम्पत्यरूप से ही पुरुष के सौम्य शुक्र रूप सोम के, स्त्री के शोणितरूप अग्नि के यजन से, इस शुक्रशोणितात्मक सोमाग्नियज्ञ से ही प्रजोत्पत्ति का सप्तपुरुष-पर्यन्त वितान होता है। यही तो इस दाम्पत्य का सम्वत्सर-प्रतिमानत्व है। अतएव ऋषि ने पुरुष को सम्वत्सर की ही प्रतिमा माना है।

सम्वत्सर के मध्य में जो विष्वद्वृत्त है, वही इस दाम्पत्य आध्यात्मिक सम्वत्सर में मेरुदण्ड है, जिसे लोक

में 'रीढ की हड्डी' कहा गया है। उस अधिदैवत सम्वत्सर के विष्वद्वृत्तरूप मेरुदण्ड से दक्षिणोत्तर व्याप्त ४८ अंशात्मक परिसर तत्वतः २४ अंश पर ही परिसमाप्त हैं। ये २४ अंश ही मानव और मानवी के २४-२४ पर्शु हो जाते हैं। दाम्पत्य के समन्वय से पूरे ४८ पर्शु हो जाते हैं। मानवशरीर में भी २४ ही पंसलियाँ हैं, एवं मानवी के शरीर में भी २४ ही पंसलियाँ है। सम्वत्सरयज्ञ में सूर्यस्तम्भ रूप है तो इस आध्यात्मिक सम्वत्सरयज्ञ में मस्तकभाग रूप है, जिसमें मानव-मानवी के अधोभागरूप पशव्य चितिलक्षण भूत-पशु-भाग आबद्ध हैं। निष्कर्षतः जैसा जो कुछ उस आधिदैविक सम्वत्सर में है, ठीक वैसा ही इस दाम्पत्यरूप आध्यात्मिक सम्वत्सर में प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर 'पुरुषो वै यज्ञ'- 'यज्ञो वै पुरुषः' इत्यादि सिद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं।

सम्वत्सरमूलक अग्नि और सोम, दोनों सयुक्सखा हैं, साथ रहने वाले अभिन्न मित्र हैं। तात्पर्य, विकासशील अग्नि विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर सोमरूप में परिणत हो जाती है, संकोचशील सोम संकोच की चरम सीमा पर पहुँच कर अग्निरूप में परिणत हो जाते हैं। अग्नि अन्नाद है, भोक्ता है। सोम अन्न है, भोग्य है। अग्नि कभी अन्नाद बन कर भोक्ता है, तो यही सोमरूप में परिणत होकर कभी भोग्य भी बन जाता है। एवमेव भोग्य सोम अग्निरूप में परिणत होकर भोक्ता भी बन जाता है। इस प्रकार अग्नि-सोम के अवस्था-परिवर्तन तारतम्य से अग्नीषोमात्मक इस विश्व में सभी अन्न हैं, सभी अन्नाद हैं। सभी भोक्ता हैं, सभी भोग्य हैं। इसी आधार पर 'सर्वमिदमन्नाद, सर्वमिदमन्नम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। वेदमहर्षि ने इस मन्त्र के द्वारा अग्नीषोमात्मक इसी अन्नान्नादभाव का रहस्यपूर्ण भाषा में स्पष्टीकरण किया है-

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम ।

यो मा ददाति स इ देव भावदहमन्नमन्नमदन्तमस्मि ।।

यह सर्वथा सर्वात्मना अवधेय है कि पूर्वोपवर्णित 'अग्नीषोम' युग्म का स्वरूप उस सम्वत्सर में ही प्रतिष्ठित है जो तत्वतः 'सर्वत्सर' है। कुटिलगति-भावापन्न क्रान्तिवृत्त ही सम्वत्सरचक्र है, जिस इत्थंभूत वृत्त के गर्भ में ही अग्नि और सोम की प्रतिष्ठा सुरक्षित है। ऋजुभाव तो आत्मा का धर्म है, विश्वधर्म नहीं। जगत् तो अग्नीषोमात्मक बहिर्जगत् का स्वरूपसंरक्षण छद्मगतिलक्षण सर्वत्सररूप सम्वत्सर पर ही अवलम्बित है।

अव्दैत का विस्तार और संसार

ध्रुव शुक्ल

कभी विकल होकर कहने का मन होता है कि अव्दैत की धारणा कुछ विरले ज्ञानियों की ज़िद है और संसार को देखकर लगता है कि वह व्दैत में ही जीने की जिद बांधे हुए है।

कोई उत्प्रेरक जरूर है जिसके कारण इतना बड़ा जीवन व्यापार चल रहा है पर विरले ज्ञानियों की नजर में इस उत्प्रेरक पर संसार की छाया तक नहीं पड़ती। संसार तो ऐसी देह भर है जो इस उत्प्रेरक से विच्छिन्न होकर पृथ्वी पर आ गिरी है। अब जो भी इस देह का कार्य है उसका कारण भी यही देह है, वह अपनी जिम्मेदारी किसी अजन्में स्रष्टा पर नहीं डाल सकती। अपने जरा-मरण के लिए वह खुद ही जिम्मेदार है।

अश्वघोष-कृत -- बुध्दचरित का पाठ करता हूँ और सामना करता हूँ कि सचमुच में वह क्या है जिसका होना जरा-मरण का कारण है और बुध्द उत्तर देते हैं कि जन्म से जरा-मरण की उत्पत्ति होती है और जन्म कर्मभव से होता है क्योंकि प्रवृत्ति कर्म से ही होती है, किसी स्रष्टा से नहीं। कर्मभव का कारण उस काम नामक उपादान में है जो तृष्णा के कारण सक्रिय हो उठता है और तृष्णा का कारण वेदना है। वेदना का कारण स्पर्श है -- वस्तु, इंद्रिय और मन का संयोग - जिससे वेदना पैदा होती है। फिर बुद्ध स्पर्श का कारण खोजते हुए अनुभव करते हैं कि देह-मन-नेत्र-नासिका और जीभ ही स्पर्श का कारण हैं और बुध्द इन्हें आयतन कहते हैं। अब आयतनों का भी कोई कारण जरूर होगा और वे पाते हैं कि नाम-रूप ही आयतनों का कारण हैं। तब फिर नाम-रूप का भी तो कोई कारण होगा और वे अपनी संज्ञा और चेतना में ही उसे पा लेते है और अनुभव करते हैं कि संज्ञा और चेतना नाम-रूप का सहारा पाकर ही पैदा होती है, दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

अब इसे ऐसे समझा जाये कि संज्ञा और चेतना से नाम-रूप का उदय होता है, नाम-रूप से आयतन पैदा होते हैं, आयतनों से स्पर्श का उदय होता है, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से काम नामक उपादान और इस उपादान से कर्मभव उत्पन्न होता है फिर कर्मभव से ही जन्म होता है और जन्म ही जरा-मरण का कारण है।

बुध्द ने गहराई से जाना कि धारणा से संसार उत्पन्न होता है और उनने निश्चय किया कि जन्म-विनाश से जरा-मरण का निरोध होता है, भव-विनाश से जन्म नष्ट होता है और उपादान के निरोध से भव बन्द हो

जाता है। तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध होता है और स्पर्श का नाश होने से वेदना पैदा ही नहीं होती- छह आयतनों का अस्तित्व न होने से स्पर्श का नाश होता है। उसी तरह नाम-रूप का सम्यक् निरोध होने पर छह आयतन भी नष्ट हो जाते हैं और फिर संज्ञा-चेतना के निरोध से नाम-रूप का निरोध होता है। बुध्द ने जाना कि अविद्या के अभाव से ही देह पर पड़ती जरा-मरण की छाया खो जाती है- अविद्या याने जो भ्रम से उत्पन्न हो।

आदि शंकराचार्य-कृत -- विवेक चूड़ामणि को शिरोधार्य करते हुए पाता हूँ कि वे ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या अनुभव करते हुए देह की ही गहराई से पड़ताल करते हुए यही नतीजा निकालते हैं कि त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियों का समूह हमारी देह, एक भोगायतन से ज्यादा कुछ नहीं। यह स्थूल देह जन्म-जरा और मरण की सीमा में बंधी हुई है और इस सीमा के बाहर कोई पग नहीं बढ़ा सकती। इसको मिली पाँच ज्ञानेंद्रियाँ-- आँख, नाक, कान, त्वचा-जीभ और पाँच कर्मेंद्रियाँ-- हाथ, पाँव, वाक् आदि अनेक कर्मों की ओर ही आकर्षित हुआ करती हैं। अपनी वृत्तियों से मन, बुध्दि, अहंकार और चित्त इस देह में अन्तःकरण कहे जाते हैं, जहाँ संकल्प-विकल्प, पदार्थ का निश्चय, अहम्-भाव की प्रतीति और चिन्ता का कारोबार चलता रहता है। यह कारोबार प्राणों के आरोह-अवरोह पर आधारित है। यह देह जन्म लेते ही पाँच विषयों- रूप-रस-गंध-स्पर्श और शब्द से आकर्षित होती है और उन्हीं से बंध जाती है। शंकराचार्य इसे स्वाभाविक अनात्म-बंधन कहते हैं। इस बंधन के कारण ही यह देह जन्म-मरण-व्याधि और जरा से पैदा होने वाले दुखों का भार उठाती रहती है। गुरूवर अपनी ब्रह्म-जिज्ञासा की भूमि पर श्रमण प्रतीति को परखते जान पड़ते हैं।

जिससे यह देह जन्म लेती है, शंकराचार्य की दृष्टि में वह अजन्मा है और उसे यह देह अपने आत्मभाव में उठकर पहचान सकती है पर बुध्द जन्म को ही इस देह का कारण मानते हैं। वे भले ही आत्म-सत्ता से दूर खड़े दिखायी देते हों पर अपने ज्ञान स्वरूप साक्षी आत्मभाव से ही इस प्रतीति तक पहुँचे होंगे कि जन्म ही कारण है। स्वयं शंकराचार्य भी अजन्मे जगत-कारण को अपने आत्मभाव से ही पहचान पाते हैं और उस गहराई की थाह ले पाते हैं, जहाँ निरवयव, निष्क्रिय, शान्त, निर्मल और निरंजन में बन्धन और मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती-- वे अनुभव करते हैं कि परमार्थतः न तो कोई निरोध या विनाश है, न उत्पत्ति है और न बंधन है। न कोई साधक है, न कोई मुक्ति की इच्छा करने वाला है और न मुक्त है - होना न होना देह का गुण है, सर्वात्म का नहीं।

गुरू आदिनाथ ने परमार्थ तत्व की यही परिभाषा की -

न शून्य रूपं न विशून्य रूपं / न शुध्द रूपं न विशुध्द रूपं
रूपं विरूपं न भवामि किंचिद् / स्वरूप रूपं परमार्थ तत्वम् ।

श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों में रमता हूँ और खयाल आता है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच रचा गया यह सम्वाद युध्दभूमि में सम्भव नहीं । अर्जुन अपने भाइयों के त्रासद वनवास, द्रौपदी का अपमान और लाक्षागृह की आग की स्मृतियों में डूबकर ही तो युध्दक्षेत्र तक पहुँचा । ऐसी दशा में उसका क्षत्रिय स्वभाव उसे युध्द से पलायन की ओर कैसे मोड़ सकता है । मुझे तो यही लगता है कि यह सम्वाद बुध्द को सम्बोधित होकर मानव जाति के प्रति कहा गया है । अगर मान लें कि गीता बुध्द से पहले कही गयी तो क्या बुध्द कर्म का प्रतिवाद कर रहे हैं । मुझे तो वे उसी के आसपास बैठे मालूम पड़ते हैं ।

जीवन और मृत्यु के बीच की जगह में मनुष्य के पुरुषार्थ और पराक्रम की कथा दो क्षत्रिय चरित नायकों को केन्द्र में रखकर रची जाती रही है,जहाँ राम मानव होकर ब्रह्म-स्वरूप हैं और श्रीकृष्ण ब्रह्म-स्वरूप होकर मानव हैं - इसीलिए राम मर्यादा पुरुषोत्तम और कृष्ण लीला पुरुषोत्तम की तरह पहचाने जाते हैं । मर्यादा में सांसारिक लगाव के साथ और लीला में संसार से उदासीनता के साथ पुरुषार्थ और पराक्रम को साधने की कला है । पर बुध्द ऐसे क्षत्रिय हैं जो पुरुषार्थ और पराक्रम के बीच मानव प्रतीति में ठहर जाते हैं । वे तप और भोग की अतियों का निषेध करके मध्यमार्ग ही खोजते रहे हैं ।

वे किसी को चुनौती नहीं देते, आपने आपको ही अपने लिए चुनौती मानते हें इस चुनौती का सामना करने के लिए बुध्द आठ मार्ग बतलाते हैं - पहला है सम्यक् दृष्टि-जगत दुख से भरा है अतः देह, वाणी और मन से आपसी प्रेम के साथ तृष्णा का क्षय किया जा सके । दूसरा है सम्यक् मैत्री - केवल अपनी सत्ता फैलाने के बजाय दूसरों के सुख-संतोष में वृध्दि की जा सके । तीसरा है - सम्यक् वाचा - जीवन की नैसर्गिक अभिव्यक्ति को भंग करने वाली असत् वाणी से बचा जा सके । चौथा है सम्यक् कर्मान्त - प्राणघात, चोरी और व्यभिचार आदि कर्मों से काया को बचाया जा सके। पाँचवाँ है - सम्यक् आजीव - अपनी आजीविका प्राणीमात्र का हित-साधन करते हुए चलायी जा सके । छठवाँ है - सम्यक् व्यायाम - विचारों को कुमति के मानसिक धरातल से सुमति की भूमि पर सुगठित किया जा सके । सातवाँ है -सम्यक् स्मृति - देह की वेदना और चित्त का निरन्तर अवलोकन करते हुए स्थिर बुध्दि प्राप्त की जा सके । आठवाँ है - सम्यक् समाधि -- देह, अन्तःकरण और बाह्य पदार्थों के बीच पैदा होने वाली मनोवृत्तियों की एकाग्र चित्त से पहचान की जा सके ।

बुध्द कर्म-विनाश से जन्म को ही नष्ट कर देना चाहते हैं - वे अपने होने को ही नहीं,अपने न होने को भी महाशून्य में विलीन कर देना चाहते हैं । पर गीता कर्म और अकर्म की दो अतियों के बीच निष्काम कर्म को साधने की कला को प्रतिष्ठित करती है । गीता के भाष्यकार शंकराचार्य भी ज्ञानवान सन्यासी को कर्म से दूरी बनाये रखने की सलाह देते हैं, तभी तो वे प्रच्छन्न बौध्द ठहरा दिए गये हैं पर गीता सन्यासी को कर्म से विच्छिन्न नहीं मानती । कृष्ण कहते हैं कि भली प्रकार ज्ञान में अवस्थित सन्यासी किसी को कर्म से विचलित न करे क्योंकि जिसकी जैसी भावना है वह अपनी प्रकृति के त्रिगुणात्क न्याय - सत्व-रज-तमो गुणों - से बँधकर

ही कर्म करता हुआ देखा जाता है ।

श्रीकृष्ण इस संसार में चार प्रकार के भक्तों की कोटियाँ बनाते हुए कहते हैं कि - एक वे हैं जो सांसारिक पदार्थों की कामना से भजते हैं, दूसरे वे हैं जो मात्र संकट निवारण के लिए भजते हैं,तीसरे वे हैं जो यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भजते हैं और चौथे वे हैं जो ज्ञान में स्थिर होकर जीवन मुक्त हो जाने की चेष्टा करते हैं । वे यह तो कहते हैं कि ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ हैं पर उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे इन अर्थार्थी, आर्तृत और जिज्ञासुओं को ज्ञान की दुहाई देकर कर्म से विचलित करें । अनुभव में आता है कि श्रीकृष्ण हमसे कह रहे हैं कि संसार का तत्वतः ज्ञान होने पर भी कर्म की गति को नहीं रोका जा सकता क्योंकि यह देह जन्मजात और स्वभावतः कर्म से बँधी हुई है ।

रह-रहकर यह प्रश्न उठता है कि अगर कर्म की गति को नहीं रोका जा सकता तो जन्म की गति भी नहीं रुकेगी । आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासुओं की तरह ज्ञानी भी संसार में बार-बार जन्म लेते देखे जाते हैं - बुध्द और बुध्दू जहाँ एक साथ पैदा हों उसी को संसार कहते हैं । हर जन्म में बुध्द संसार में आकर अपने आपको संसार से ऊपर उठाने की चेष्टा करते रहते हैं, स्वार्थ को पृथ्वी पर झराकर परमार्थ में अपनी देह त्यागते हैं और संसार उनकी प्रतिमा स्थापित करके अपनी देह को संभालता रहता है - प्रतिमा संसार से कुछ नहीं कहती, संसार ही प्रतिमा से कुछ कहता रहता है । प्रतिमा कुछ नहीं करती, संसार ही कुछ करता रहता है ।

कहते हैं कि जब बुध्द को मृत्यु उठाने आयी तो वे उसके आने से पहले ही जा चुके थे और मृत्यु उनकी देहरी से खाली हाथ लौट गयी । जीते-जी सांसारिक मृत्यु को अकेला करके समष्टि में उठ जाने की कला ही अव्दैत है और मृत्यु को गले लगाकर जीते रहने से ही जीवन और मृत्यु का व्दैत उपजता होगा। कबीर भी चेताते हैं कि सौ-सौ बार मरने से तो अच्छा है कि संसार में रहते हुए एक बार मरने की प्रतीति से गुजर जाइये तो संसार जीते-जी छूट जायेगा ।

संसार को समझने के लिए गीता में उर्ध्वमूल और अधोशाखा वाले संसार रूप वृक्ष की कल्पना की गयी है जो सत्व-रज और तमोगुण रूप जल के सींचा जा रहा है और जिसकी योनि रूप शाखाओं से रूप-रस-गंध-स्पर्श और शब्द रूप कोंपलें फूट रही हैं। पीपल जैसे उस वृक्ष से अहंता, ममता और वासना रूप जड़ें निकलकर सब लोकों में फैली हुई हैं । इस दृढ़ मूल वाले वृक्ष को वैराग्य की कुल्हाड़ी से काट डालना चाहिए । शंकराचार्य कहते हैं संसार रूपी वृक्ष का बीज अज्ञान है,देहात्म बुध्दि उसका अंकुर है, राग पत्ते हैं, कर्म जल है, शरीर तना है, प्राण शाखाएँ हैं, इंद्रियाँ उपशाखाएँ हैं, विषय पुष्प हैं और कई प्रकार के कर्मों से पैदा हुआ दुख ही फल है, जीवरूपी पक्षी ही इसका भोक्ता है ।

भक्तिकाल के कृष्ण भक्तों और कवियों ने संसार वृक्ष को उलटकर अधोमूल-उर्ध्वशाखा के रूप में पृथ्वी पर रोप दिया और वह कदम्ब वृक्ष, जिसकी कलियाँ बादलों की गरज से खिल उठती हैं और उसके फूलों से

सुगंध लेकर हवा बहती है । लीला पुरुषोत्तम कदम्ब की शाखाओं पर झूला झूलते हैं और उसकी छाया में बाँसुरी के स्वर छेड़कर पूरे देहगाँव को रिझाते हैं । इस कदम्ब के तने से प्रेम लताएँ लिपटी रहती हैं। भक्तों और कवियों ने उल्टे लटके उर्ध्वमूल वृक्ष की जड़ें पृथ्वी पर जमा दीं, जिसे विराग की कुल्हाड़ी से काटने की मनाही है, उसे तो राग के जल से सींचने का प्रस्ताव किया गया है । उसे निर्ममता की आँच से बचाकर ममता की ठंडी हवा दुलारती है । किरण-धेनुएँ गगनमण्डल से उतरकर कदम्ब की छाया में बिलम जाती हैं।

कोई पन्द्रह बरस पहले लोक-आख्यान पर विचार करते हुए मेरी यह अनुभूति गहरी होती गयी कि लोक अनंत भी है और आँगन भी हे । वह अनन्त को आँगन में उतार लेता है और अपने घर की रुचिर अँगनाई से ही अनंत की यात्रा करता है । लोक में ही यह शक्ति है कि वह आवाहन न जानते हुए भी सब देवताओं को एक छोटा-सा चौक पूरकर उसमें प्रतिष्ठित कर सकता है । ऊपर से देखने पर लगता है कि लोक मोहग्रस्त है,हमेशा अपने दुखड़े रोता रहता है पर वह निष्ठुर भी है । वह समय की नदी में अपने देवताओं और उनसे जुड़े दुखों को रोज बहाया करता है । अगर बहाता नहीं तो लोक कबका मर चुका होता।

लोक श्रीकृष्ण की आवाज सुनता है, वे कह रहे हैं कि सारे जीवन को एक व्यापक ऋतुकाल घेरे हुए है । वृष्टि-चक्र के रूप में यह ऋतुकाल बार-बार पृथ्वी पर लौट आता है । देवता और कोई नहीं, यह वृष्टि-चक्र ही है । इस वृष्टि-चक्र की उन्नति करो और इससे पोषण प्राप्त करो - यही यज्ञ है जिसके व्दारा पृथ्वी की योनि में बीज-वपन होता है और धरती सबके उपकार के योग्य बनी रहती है ।

ज्ञान के अनेक मार्ग हैं पर लोक कभी सीधे उन पर नहीं चलता । वह तो सब मार्गों को मिलाकर अपनी पगडण्डी रच लेता है और ज्ञानियों की अवमानना किये बिना किसी एक तत्व की प्रधानता में भरोसा करते हुए अपनी जीवन प्रणाली गढ़ लेता है । लोक को भी दुख और तृष्णा से निवृत्ति चाहिए, उसे भी तो सुख-दुख से परे परमसुख की चाह बनी रहती है । पर वह कर्म से नहीं घबराता । लोक की कर्म से जन्मजात पहचान है,वह उसे छोड़ ही नहीं सकता । वह भली प्रकार जानता है कि जीवन कर्म की खेती है, जो बोया जायेगा वही काटा जायेगा । लोक भी ज्ञानियों की तरह खूब जानता है कि संसार गुण-अवगुण से सना हुआ है इसीलिए लोक ने गोबर से गुड़ बनाने की कला भी विकसित कर ली - जो त्याज्य है उसकी खाद बनाकर और उसी में कर्म के बीज बोकर प्रकाश में उठते रहने की विधि को ही लोककला कहना चाहिए। ज्ञान के बचे रहने का एक ही उपाय है कि उसकी लोककला जीवित रहे ।

महाकवि तुलसीदास सारे शास्त्रों, ग्रंथों और अनेक मतों को मथकर कहते हैं कि सबका भवसागर गुण-अवगुण से सना हुआ है, सब उसी में हिलुरते व्दैत से पैदा होते रहते हैं - माया-ब्रह्म, स्वर्ग-नरक, अनुराग-वैराग्य, साधु-असाधु, दानव-देवता, सुसंग-कुसंग, सुधा-सुरा, जलज-जौंक, अमृत-विष, सुखदुख, दिन-रात, काशी-मगध, जीवन-मृत्यु सब इसी सृष्टि में हैं । यह सृष्टि गुण-दोषों से सनी हुई एक सम्पूर्ण इकाई

है और यह पूरी की पूरी सबकी देह में समायी हुई है । इसका कोई उत्प्रेरक जरूर है, एक केटेलिटिक एजेण्ट, जिसके बिना यह चल नहीं सकती - वह नहीं दीखता पर यह सृष्टि दीखती है । अनादि जड़-चेतन प्रकृति से उपजती रहती सृष्टि अनित्य होते हुए भी नित्य दिखायी पड़ती है, इसके होने से इंकार करना कठिन जान पड़ता है और इस सृष्टि के आगे किसी का हठ भी तो काम नहीं करता । यह किसी के मिटाने और मेंटने से नहीं मिटती । बस, विवेकपूर्वक इसका परिहार करके ही इसमें जिया जा सकता है । लोक में ही यह परिहार करने की शक्ति है । लोक जानता है कि वह जड़-चेतन की लोकव्यापी पार्टनरशिप का हिस्सा है और उसे अपना वास्तविक ऋण देवों, ज्ञानियों और अपने पितरों का ही चुकाना है, लोक किसी और उधारी को नहीं जानता । लोक अपनी स्मृति को ताजा बनाये रखने के लिए अपने गीतों में अपने इस ज्ञान को रोज गा लेता है ।

कभी मन-ही-मन सत्य को परिभाषित करने की चेष्टा करता हूँ और अनुभव करता हूँ कि अस्तित्व की योग्यता ही सत्य है और इसमें मिथ्या कुछ नहीं । यह देह ही सत्य की प्रयोगशाला है । जिज्ञासा होती है कि आखिर त्यागपूर्वक भोगने का मतलब क्या है तो कपिल मुनि की याद आती है और अनुभव होता है कि जीवन-उद्योग में अपरा और परा प्रकृति की कोई अनादि पार्टनरशिप है - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुध्दि और अहंकार तो अपरा प्रकृति कहलाते हैं जिनसे यह देह निर्मित होती है और जीवरूप परा प्रकृति से चलायी जाती है । जिन पाँच तत्वों - क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर से यह देह रची जाती है उन्हीं से कामनाओं को बढ़ाने वाले विषय पैदा होते हैं - पृथ्वी से गंध, जल से रस, अग्नि से रूप, वायु से स्पर्श और आकाश से शब्द उत्पन्न होकर देह को कामना के प्रति उत्सुक करते हैं । मन के संकल्प-विकल्प, बुध्दि के निश्चय-अनिश्चय से घिरी देह जीव रूप से अपने भोक्ता होने का अनुभव करती है और अपने भोक्तापन से ही लगाव हो जाने के कारण यह देह अक्सर भूल जाती है कि वह खुद अपनी सम्मति से सिर्फ अपना ही नहीं, सबका धारण-पोषण करने वाली है । वह अपने साक्षीभाव से अपनी ही नहीं, सबकी गवाही दे सकती है और भरोसा दिला सकती है कि सब उसी जैसे हैं - अपने इस आत्मभाव से विभोर देह ही संसार को त्यागपूर्वक भोगने में समर्थ होती है और अपनी जरूरत का पोषण लेकर बाकी सबके लिए छोड़ देती है । वह संचय-विमुख होकर निर्भय हो जाती है और इसे ही त्यागपूर्वक भोगना कहा जा सकता है ।

अनादि प्रकृति कितने सारे जीवनरूपों की रचना करती है और अनुभव होता है कि कोई अनादि चौतन्य सब रूपों में बसा हुआ है । संसार के सभी प्राणी अपनी-अपनी संततियों को उनकी प्रकृति के अनुरूप पालने-पोलने में लगे रहते हैं । वे अपनी संतानों को संसार का सामना करने योग्य बनाया करते हैं । जीवन एक रणक्षेत्र है, युध्द का चक्रव्यूह भीतर ही भीतर प्रतिपल बदलता रहता है । पता नहीं कब किससे और अपने आपसे ही सामना हो जाये । यह रणक्षेत्र देह ही है जिसके परिणाम बाहर प्रतिफलित होते रहते हैं । अनुभव में आता है कि हमारी प्रकृति किसी बोधमय नित्यता में डूबी हुई है । हमें उसी की गहराई में डूबा साधकर अपने

आपको देखने की कला भी सिखायी गयी है - कर्म की कुशलता ही वह कला है और जिसे योग कहा जाता है । यह योग ही परम चैतन्य और संसार की दूरी को पाटने में समर्थ है।

लगता है कि मनुष्य के काम्य कर्मों का बोझ सहते-सहते पृथ्वी थक रही है, वह बार-बार करवटें बदल रही है, जल आपे से बाहर है, आसमान में छिद्र बढ़ते जा रहे हैं और हवा कभी बड़ी देर तक चुप होकर डरा देती है जैसे संसार की बची-खुची साँसों के बारे में सोच रही हो । मन पर ठहरी सभ्यता ने जो विश्व बाजार रचा है उसमें अकेली छोड़ दी गयी ललचायी-सी यह देह अपने आत्मभाव से विच्छिन्न होकर अपनी प्रकृति में ही लिथड़ी दिखायी देती है । कामनाओं का बाजार गर्म है । कामी, क्रोधी और लालची धर्म के डेरे सजा रहे हैं । ऐसा कोई सूरमा अब ढूँढे नहीं मिलता जो जाति-वर्ण और कुल को खोकर संसार का सच्चा सौदा करे सकें।

गांधी जी सच्चे स्वराज्य को प्रतिफलित करने के लिए पूरे संसार से अपने आत्मबल को ऊँचा उठाये रखने की माँग करते रहे जिस पर कोई हमला नहीं किया जा सकता । इस देह में वह ऐसा अवध्य साक्षी है जिसे किसी भी कीमत पर गुलाम नहीं बनाया जा सकता । आज राज्य और बाजार इस देह के अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषों को वध्य पाकर लोकतन्त्र और व्यापक जीवन को लोभ और लालच से भरते जा रहे हैं - यह देह अन्न से ही उत्पन्न होती है, उसी से जीती है और उसके बिना उसे नष्ट होने की चिंता तो लगी ही रहती है । इसके प्राण अन्नमय कोष से तृप्त होकर ही सभी काम्य कर्मों में भटकते रहते हैं और रूप-रस-गंध-स्पर्श और शब्द की विषय-वासना से प्रज्ज्वलित मन उन पर छाया किए रहता है और इसी मन में यह सम्भावना भी छिपी हुई है कि वह वासनाओं को जलाकर खाक कर दे और आत्मभाव को प्राप्त हो जाये । पर वासना-लिप्त मन पर ठहरी यूरोपीय सभ्यता का पृथ्वी पर फैलता बाजार मन को आत्मभाव में कभी उठने नहीं देगा । इस बाजार ने धर्म और राजनीति को भी अपने चंगुल में फाँस लिया है ।

सबसे बड़ा खतरा यही है कि आत्मवान देहों के अभाव में संसार दिनों-दिन साधनहीन होता चला जायेगा । अब आँत चिन्तक ही हमारे समय के चरित नायक होंगे और आत्म चिन्तक ढूँढे नहीं मिलेंगे । हमारे दो इतिहासों - रामायण और महाभारत में धर्म और राजनीति से यह उम्मीद की गयी कि वे तात्विक रूप से अव्दैत और व्यवहारिक रूप से संसार के व्दैत के बीच कोई सेतु बाँध सकें और उसे बाँधने के अनेक प्रबल प्रयत्न भी बीती सदियों में होते रहे हैं पर इक्कीसवीं सदी के देश-काल में इस सम्भावना को भी नष्ट किया जा रहा । इस सम्भावना को नष्ट करने में खुद धर्म और राजनीति ही बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रहे हैं और जो पुल बन रहा है वह संसार को सिर्फ बाजार की तरफ लिए चला जा रहा है, ब्रह्म जिज्ञासा की तरफ नहीं ।

अब महर्षि पतंजलि ब्राण्ड हो गये हैं, उनके नाम पर हेण्ड-वाश बिकता है और चित्त-वाश की चिन्ता किसी को नहीं । अब सद्गुरु वे कहलाते हैं जो ध्यान-धारणा-समाधि की कोचिंग क्लास चलाकर धन कमाते हैं, योग के विस्तार को हेल्थ केयर में रिड्यूस करके बाजार में बेचते हैं, आर्ट आफ लिविंग का धन्धा करते हैं ।

अब बाजार के मेनेजमेंट गुरु श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के टीकाकार हो गये हैं जन्म-निरोध के भौतिक उपाय खोजकर उन्हें अय्याशी का साधन बना लिया गया है । राजनेता विष्णु के अवतार कहे जाने लगे हैं और उनके व्दारा किराये पर उठा लिए गये लोग हनुमान कहलाते हैं । रामराज्य की हकीकत से दूर राज्यकर्त्ता इस समझ से कोसों दूर दिखायी दे रहे हैं कि जहाँ दैहिक, दैविक और भौतिक ताप नहीं व्यापते, जहाँ जीवन में हर्ष और प्रेम प्रकट होता है, शोक का अभाव रहता है, कोई किसी से बैर नहीं करता, कोई दीन नहीं होता और विषमता चली जाती है उसे ही तो रामराज्य कहा जाता है । जीतो - यह शब्द केवल मन के जीतने के लिए ही सुनायी पड़ता है और राज्य में अनीति की बात पर भय भुलाकर बेखटके टोकने की छूट होती है ।

रामायण मनुष्य देह को ही अयोध्या मानती है और आत्मबल ही उसका गौरव और शक्ति है - अयोध्या माने जिस पर कोई आक्रमण न किया जा सके । पर आश्चर्य कि राज्य ही मानवी देह के मन को फुसलाकर उस पर आक्रमण के नये-नये बहाने खोज रहा है और इतना ही नहीं, वह बहुराष्ट्रीय बाजारू शक्तियों को देश की समूची देह पर आक्रमण करने के लिए न्यौता भी दे रहा है । भय होता है कि कहीं हम जाने-अनजाने एक बार फिर गुलामी की पुनर्रचना तो नहीं कर रहे ।

अव्दैत के शान्त विस्तार में अपने आत्मभाव से निरन्तर विच्छिन्न होता जाता अशान्त संसार अकाल मृत्यु की ओर जाता दिखायी दे रहा है । पर निराश होने से तो कुछ न होगा, विपत्ति बढ़ती ही जायेगी । अमंगल और अशुभ के समाचारों से प्रतिदिन भरते जाते संसार में पूर्वजों के सुझाये रास्ते अब भी मौजूद हैं क्योंकि वे हमारी देह से ही निकलते हैं और उनके अवरोधों को हम ही हटा सकते हैं । जो दुनिया हमें मिली है वह मनवांछित फल देने वाली कामधेनु जैसी है । हम उसे अपनी सात्विक श्रृध्दा से ही पाल-पोस सकते हैं । महाकवि तुलसीदास ज्ञान-भक्ति निरूपण करते हुए हमें समझाते हैं कि हमें अपनी देह के संयम और आचरण से, संग्रह और त्याग के विवेक से ही सृष्टि के जीवन उद्योग के बीच इस कामधेनु को अपने निर्मल मन से अपने ही विश्वास के बरतन में दुहना होगा । उसके दूध को अपनी निष्काम आग पर ओंटकर अपने संतोष की हवा से ठण्डा करना होगा और अपने धीरज के जामन से जमाना होगा । फिर उसे अपनी ही प्रसन्नता की कमोरी में सृष्टि के तत्वविचार की मथानी से मथना होगा । इसी नवनीत से देह में जगमगा उठने वाली उस लौ की सम्भावना छिपी हुई है जिसके प्रकाश में अजन्मे स्रष्टा और जन्म के बीच की दूरी के कम होते जाने का अहसास होता है ।

समूची सृष्टि के त्रिगुणात्मक स्वभाव को जो जड अपरा और चेतन परा प्रकृति गढ़ती है उसके पोषण तत्व को विष्णु कहा जाता है - इस विष्णु में अग्नि और सोम बसे हुए हैं । यह विष्णु प्रकाश, पौरुष, तप, ज्ञान से ओतप्रोत होकर अग्नि रुप और सुषमा, सरसता, सौंदर्य, प्रेम में डूबकर सोम रूप कहलाने लगता है । ये अग्नि और सोम मिलकर ही सृष्टि में विष्णु को सगुण-साकार करते हैं । स्थूल रूप से अग्नि नर है और सोम नारी है और ये दोनों एक-दूसरे में रचे-बसे हैं । महाभारत अग्नि रूप और भागवत सोम रूप विष्णु की ही कथा

है। ये कथाएँ हमसे हमारे ही काल-कर्म-गुण-ज्ञान और स्वभाव की गहरी पहचान करवाती हैं।

ये दोनों कथाएँ हमारी देह में बसे किसी अन्तर्यामी की पहचान को ही परमज्ञान मानती हैं - सृष्टि में कोई सर्वभूत एकता जरूर है जो देहों में बसे वैविध्य और विषमता को अस्वीकार किये बिना अपने आप में सबको समेटे हुए है । सृष्टि का प्राकृत स्वभाव तो विषमता ही है । कर्म, गुण और स्वभाव के भेद ही जैसे यथार्थ हों, इन्हें जड़-मूल से मिटाया नहीं जा सकता पर इनमें सामंजस्य जरूर बैठाया जा सकता है।

प्रत्येक मनुष्य में गुण, आकृति और कर्मभेद होने से विभूतिभेद प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है । इसी कारण संसार की अनेक राजनीतिक विचारधाराएँ कभी सफल नहीं हो पायीं क्योंकि मानवमात्र एक समान नहीं हैं और वे एक व्दैतमूलक-अभावग्रस्त-असहाय-पराधीन समता में कभी पाले-पोसे नहीं जा सकते । अव्दैत ऐसी सामंजस्यपूर्ण आत्म-समृध्दि की तरह प्रतीति में आता है जो हरेक मनुष्य को उसके आत्मबल के सहारे उसकी स्वाधीनता में कुछ इस तरह ऊँचा उठाती होगी जहाँ वह स्वयं अपनी प्रतीतियों से अपने पुरुषार्थ और पराक्रम की सही पहचान करके उन्हें सौंदर्य और प्रेम से भर सकता होगा । फिर उसे किसी ईश्वर और किसी के भी राज्य की जरूरत महसूस न होती होगी । वह खुद प्रकृति के बहुरंगी व्दैत में अपने आत्म का घर ढूँढ लेता होगा।

संसार में व्दैत एक पगडण्डी है जो अव्दैत की ओर चलना सिखा सकती है -- इस पगडण्डी के दोनों ओर खड़े बहुरूपी-बहुरंगी वृक्षों को देखकर लगता है कि इस संसार में उनसे बड़ा अव्दैत वेदान्ती कोई दूसरा नहीं । वृक्ष अपने आपको छोड़कर कहीं नहीं जाते । वे अपने छोटे-छोटे बीजों में अपनी जलवायु की पहचान छिपाये रहते हैं । वे उसे पहचाने बिना अंकुरित ही नहीं होते और हमेशा अपने आपको धूप की दिशा में ऊँचा उठाये रखते हैं । जिस स्थान पर उगते हैं वहीं उनके पत्तों की छाया फैली रहती है । फूल आते हैं,फल आते हैं पर वे हमेशा उन्हें अपनी छाया में झराते हैं । कोई टहनी अपने सूख जाने के दुख से बेपरवाह अपने आपको त्याग देती है ।

वृक्षों को देखकर लगता है कि उनसे बड़ा निष्काम कर्मयोगी दूसरा नहीं । जन्मजात नश्वरता के बोध से भरे अपेक्षाहीन वृक्षों से उनके कर्म अपने आप झरते रहते हैं और हर बार नयी कोंपलें फूट आती हैं क्योंकि वे प्रकाश में ऊँचा उठना नहीं भूलते । वृक्षों में अपने आपसे अजनबी होने की कोई विकलता प्रकट ही नहीं होती । उन्हें देखकर हमेशा लगता है कि वे तो अपने आपसे ही अनन्य हैं, उनके लिए कोई दूसरा नहीं है । ज्ञानियों के अनुभव में हमारी यह देह बिलकुल एक खेत जैसी है जिसकी निंदाई-गुड़ाई की जिम्मेदारी किसी और पर नहीं डाली जा सकती । इस देहरूपी खेत की मेंड़ को बाँधे रखने से ही अव्दैत के विस्तार में यह संसार चलने योग्य बना रह सकता है ।

शायद हम भी अनुभव कर रहे हों कि पृथ्वी पर फैलते जाते बाजारों की विषय-बयार हमारी देह को न जाने किस अंधेरे के क्षेत्र में हाँके लिए जा रही है और हम अपने से ही नहीं, एक-दूसरे से भी दूर होते जा

रहे हैं। अपने आप पर संदेह होता है और कहने का मन होता है कि ईश्वर तो हमारा स्वार्थरहित सखा अब भी है पर हम उसके स्वार्थरहित सखा होने में असमर्थ दिखायी दे रहे हैं, शायद इसी कारण हमारे जीवन की लौ डगमगा रही है। जो लोग प्रकृति में ईश्वर का घर खोज पाते हैं उन पर ईश्वर का घर संभाले रखने की जिम्मेदारी आ जाती है पर जो लोग ऐसा नहीं कर पाते उन्हें ईश्वर उनकी प्रकृति के अनुरूप पालता-पोसता रहता है। उनके लिए बिना किसी मुआफी के इतनी कृपा काफी है...

अव्दैत के विस्तार को अनुभव करने वाले ज्ञानवानों ने संसार के होने से कभी इंकार नहीं किया है, उन्होंने तो बस अपनी प्रतीतियों को शब्द प्रदान करके सांसारिकता से कमलपत्रवत् ऊपर उठने की सलाह ही दी है- कमल के पत्ते पर जिस तरह जल की बूँद अपने अस्तित्व को खोये बिना रही आती है। ठीक वैसे ही संसार में रहा जा सकता है। गुण-अवगुण से सने हुए सांसारिक पंक में डूबी हुई अपनी अष्टधा अपरा प्रकृति को एक अष्टदल कमल पुष्प की तरह कुछ तो ऊपर उठाया ही जा सकता है।

इस अनंत सृष्टि के जन्म में ही मृत्यु बसी हुई है और हमारा जन्म हमारी मृत्यु का कारण तो बनता ही है, वह किसी और की मृत्यु का कारण भी बन सकता है। ये लुटती-पिटती पृथ्वी और इतनी मारकाट आखिर किसके कारण है। जन्म की जमीन में ममता के बीज गहराई तक दबे रहते हैं जिनके अंकुरण से मोह की शाखाएँ फूटने लगती हैं, लोभ के फल आने लगते हैं, स्वार्थ की छाया घनी होने लगती है। हम चाहें तो अपने इस देह-वृक्ष को परमार्थ की निर्ममता में निष्कामभाव से कुछ ऊँचा उठाये रखने का प्रयत्न तो कर ही सकते हैं। ऐसा करते हुए हम मृत्यु से फिर भी नहीं बचेंगे पर वह जब भी हमें उठायेगी तो हमारा कोई बोझ उस पर नहीं होगा, ठीक वैसे जैसे डाल से सहज ही टूटे हुए पत्ते को पवन उड़ा ले जाती है। इस तरह हम सृष्टि के इस जीवन उद्योग की खाद बनते रहेंगे और अव्दैत के विस्तार में हमारा संसार सबका काम चलाने के योग्य बना रहेगा।

नोटबुक्स

जे. कृष्णमूर्ति

अनुवाद : रमेशचन्द्र शाह

१५ नवम्बर

उषःकाल। पहाड़ियाँ मेघाच्छन्न, और हर पक्षी गाता-पुकारता-चीखता ...। एक रँभा रही गाय। एक कुत्ता भौंकता कहीं। खासी मज़ेदार सुबह...। कहीं से पहले बाँसुरी, और फिर ढोल...। हर ध्वनि भीतर भिदती हुई... कुछ का प्रतिरोध... और कुछ का स्वागत... है ना? मगर, इस दुहरी प्रक्रिया में आप की ही क्षति है। कव्वे की पुकार ढोल के साथ, और ढोल की बाँसुरी के नाजुक-कमनीय स्वर के साथ... यह समूचा स्वर-समारोह सारे प्रतिरोध और सारी मुग्धता के परे एकदम परे भिद जाने को आतुर है इसी में महान् सौन्दर्य की अवतारणा का सम्भव हैं। वह सौन्दर्य ही क्या, जिसका एक औसत विचार और औसत संवेदन आदी हो चुका हो? विस्फोट सर्व-संहारक होता है और संहार ही धरती और उसका जीवन है। जैसे कि प्यार भी। प्यार कोई सेंसेशन नहीं है। सम्पूर्ण श्रवण - बिना किसी बाधा के - यही विस्फोट का चमत्कार है, जो 'ज्ञात' के चिथड़े उड़ा देता है। और उस विस्फोट को सुनना ही उस प्रदेश में प्रविष्ट होना है, जो विचार और काल-चेतना दोनों के परे है।

अपने सबसे सँकरे बिन्दु पर यह घाटी कोई एक मील चौड़ी है, जहाँ पहाड़ियाँ एक-दूसरे के क़रीब आ जाती है और फिर पूरब और पश्चिम की ओर फैलती जाती हैं। ये पहाड़ियाँ ऊँची चढ़ती हुई ... क्षितिज में धुँधला जाती हैं। ज्यों ही घर से निकले साथी से बतियाते हुए - वह 'अन्य' वह 'अजनबी ममेतर' अपनी प्रतीक्षा करता मिला। कितना अप्रत्याशित था उसका वहाँ आर्विर्भाव! इस कदर त्वरा के साथ। हमारी बातचीत जहाँ की तहाँ स्तम्भित हो गयी - सहज ही। साथी इस परिवर्तन को कैसे लक्ष्य करता? वह अपनी रौ में बोलता रहा। वह पूरे एक मील का फासला हमने निःशब्द तय किया - उस चमत्कार की सुरंग में भीतर ... और भीतर धँसते हुए। वह पूर्णतः 'अज्ञात' सत्ता है, हालांकि सहज ही आता और सहज ही चला जाता है। पहचान सारी स्तम्भित हो जाती है क्योंकि पहचानना भी तो अन्ततः 'ज्ञात' की ही गति-विधि है। हर बार वह सौन्दर्य पिछली बार की तुलना में विशदतर, तीव्रतर और अमेद्य शक्ति से पूरित होता है। यही प्रेम का भी स्वभाव है।

१६ नवम्बर

यह एक नीरव सांझ थी। बादल विदा हो रहे थे - अस्ताचलगामी सूर्य के इर्द-गिर्द जमा हो गये थे। दिन भर हवा के साथ डोलते रहने के बाद अब वृक्ष भी रात्रि-विश्राम की तैयारी में थे : वे भी स्थिर-निष्कम्प हो गये थे। पक्षी भी अपने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। घने वृक्षों के झुरमुट में। दो छोटे से उलूक काफ़ी ऊँचे तारों पर जमे हुए थे - अपलक निहारते-घूरते हुए अपने आस-पास को। सदा की तरह पहाड़ियाँ भी हर तरह के विध्न से परे एक निश्चल मौन में डूब रही थीं। दिन भर तो उन्हें इस घाटी के कोलाहल को झेलना पड़ता है, पर, अब साँझ की इस बेला वे स्वयं को चारों ओर से समेट कर मौन में मग्न हो रही थीं। अँधेरा उन पर छाता जा रहा था - हालांकि चाँदनी का हल्का झुटपुटा भी था। तार पर बैठे वे उलूक अब खासे मुखर हो आये थे - उनकी दुबली-सी छोटी काया के अनुपात में उनका यह कण्ठस्वर काफ़ी तीखा था। नीचे उधर उस टेढ़े खम्भे के ऊपर उनका एक खासा बड़ा बिरादर विराजमान था। वह अचानक पंख फड़फड़ाता हुआ इतनी तेज़ी से उड़ा कि अचरज में डाल दिया उसने, कि कितने ताकतवर हो सकते हैं उसके पंख। निश्चय ही यह उस उलूक-दम्पत्ति में से एक है - जिसका तीखा स्वर रात में यहाँ अक्सर सुनायी पड़ता है - अपनी अर्द्धांगिनी को टेरता हुआ।

इन दिनों मनुष्य की प्रश्नाकुलता महज एक विद्रोह में सिमट गयी है। जो है, उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया। ये प्रतिक्रियाएँ ज़्यादातर अनर्गल और अर्थक्षीण होती हैं। कम्युनिस्ट कैपिटलिस्टों के खिलाफ, बेटा बाप के खिलाफ। यह प्रतिक्रिया समाज के प्रचलित मानदण्डों को स्वीकारने के विरूद्ध होती हैं। कदाचित् ये विद्रोह आवश्यक हैं, तथापि वे गहरे नहीं पैठ पाते। होता क्या है कि पुराने की जगह एक नया विन्यास, नयी व्यवस्था ले पाती है और इस तरह यह नया जोड़-तोड़ मानवीय मन का घिराव करके उसे फिर से एक नये बन्धन में फँसाकर उसकी स्वाधीनता को कुण्ठित कर देता है। कारागार के बन्दियों का यह अन्तहीन व्रिदोह-दरअसल क्या है? वह तात्कालिक व्यवस्था के विरूद्ध एक उतनी ही तात्कालिक प्रश्नाकुल प्रतिक्रिया ही तो है - जो उस कारागार की दीवारों को ढहाकर फिर से उनकी चिनाई में जुट जाती है। जेल की दीवारों का यह पुनर्निर्माण इस कदर आत्मतुष्टि उपजा देता है कि हम कभी भी उस घिराव को वास्तव में भेद और ध्वस्त नहीं कर पाते। हाँ, अपनी खुशफहमी में ध्वंस और पुनर्निर्माण का भ्रम ज़रूर खड़ा कर लेते हैं। वह प्रश्नाकुल असन्तोष तुम्हारा दीवारों के भीतर ही पनपता-पुष्ट होता है जो तुम्हें बहुत दूर नहीं ले जा सकता। वह तुम्हें चन्द्रमा तक, न्यूट्रॉन बम तक ज़रूर पहुँचा देगा। परन्तु यह सारा पुरूषार्थ तुम्हारा फिर भी दुःख की पुकार और पहुँच के भीतर ही कार्यरत रहेगा। दुःख की संरचना और संगठन को ही प्रश्नांक्ति करना और उसे आर-पार भेदते हुए उसके परे पहुँचना प्रतिक्रिया नहीं है, न पलायन। प्रतिक्रिया में पलायन अन्तर्निहित है, अनिवार्यतः। वास्तविक प्रश्नाकुलता चन्द्रमा या चर्च तक पहुँचने की अपेक्षा बहुत कठिन और बहुत तीक्ष्ण चुनौती है। यह मर्मभेदी प्रश्नाकुलता ही सचमुच पूरी तरह ढहा

सकती है मानवी दुःख-त्रास की विभीषिका की संरचना के दुर्ग को। यह प्रश्नाकुलता ही विचार की यान्त्रिकता को नष्ट-नेस्तनाबूद कर सकती है : न कि एक विचार को दूसरे विचार से, एक यन्त्र को दूसरे यन्त्र से विस्थापित करने वाली तर्क चातुरी। पलायन-चेष्टा से विरहित दुःख की मूल संरचना को प्रश्नांकित करने वाली व्याकुलता ही मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित नैतिकता को - स्व-केन्द्रित पुण्यात्मापन को - अन्तहीन सुधारवादी नैतिकता को जड़-मूल से उखाड़ सकती है, उन्मूलित कर सकती है।

परन्तु हम उस 'ज्ञात' के पूर्ण विध्वंस से भयभीत हैं - जो हमारे सीमित-संकुचित 'स्व' का - 'मैं' और 'मेरा' वाली मानसिकता का मूलोच्छेदन है। इस 'ज्ञात' से मुक्ति उस सबको निरर्थक और नष्ट कर देती है जिसे हम प्रेम, रिश्ता-नाता, सुख इत्यादि कहते हैं। जबकि 'ज्ञात' से स्वतन्त्र होना- विस्फोटक प्रश्नाकुलता के द्वारा (न कि प्रतिक्रियामूलक प्रश्नों के द्वारा) - ही दुःख का मूलतः निवारण है। और, इसलिए प्रेम वह वस्तु, वह सत्ता है, जिसे विचार और भाव-यन्त्र नहीं माप सकते।

हमारा जीवन उथला और अर्थहीन है - तुच्छ और निस्सार, विचारों तथा कर्म-कोलाहल से पटा हुआ, - द्वन्द्व और यन्त्रणाओं से बुना हुआ, और सदा-सर्वदा एक अभ्यस्ति, एक 'ज्ञात' से दूसरी अभ्यस्ति, दूसरे 'ज्ञात' की ओर का सफ़र तय करता हुआ - मनौवैज्ञानिक सुरक्षा की तृष्णा और लालसा से ही प्रेरित। किन्त 'ज्ञात' में कभी कोई सुरक्षा नहीं है - चाहे हम उसकी खातिर कितनी ही जद्दोजहद क्यों न करते रहें। सुरक्षा का अर्थ ही समय है, और मनोवैज्ञानिक समय जैसी कोई चीज़ नहीं है। यह एक छूँछा मिथक और भ्रम भर है - भय ही भय उपजाते रहने वाला। कुछ भी स्थायी नहीं है यहाँ - आज और कल, यानी आगामी भविष्य में। केवल सही-वास्तविक प्रश्नों से प्रेरित धर्मजिज्ञासा और सही-वास्तविक 'सुनना' ही विचारों और भावनाओं की अन्तहीन यान्त्रिकता से - जाने भोगे हुए 'ज्ञात' के दुश्चक्र को ध्वस्त कर सकता है। आत्म-ज्ञान, यानी, विचार और भाव-यन्त्र का निर्मानमोह पारदर्शन, और हर दिमागी हलचल को तत्काल-तत्क्षण सुनना-पकड़ लेना ही इस अन्तहीन पुनरावृत्ति से हमें छुटकारा दिला सकता है। 'ज्ञात' ही दुःख की जन्मभूमि है; और प्रेम ही उससे मुक्ति।

१७ नवम्बर

धरती आकाश के ही रंग में रंगी हुई...। पहाड़ियाँ, हरियाली, पकते हुए धान-खेत, वृक्ष-पंक्ति ... और सूखी बालुकामयी नदी-शय्या... सब आकाश रंगी। पहाड़ियों की हर शिला, बड़ी-बड़ी चट्टानें सब बादल। स्वर्ग धराधाम था, और धरा ही स्वर्ग; अस्त होते हुए सूर्य ने सब कुछ को रूपान्तरित कर दिया था, आकाश की धधकती अग्नि-ज्वाला मानो हर बादल, हर पत्थर, हर घास-पत्ती में से फूटी पड़ रही थी। उसकी विशालता और तीव्रता

समूचे अन्तरिक्ष को आर-पार भेदती हुई पृथ्वी में प्रविष्ट हो गयी थी। पृथ्वी आकाश हो गयी थी और आकाश पृथ्वी। सब कुछ जीवित रंगों का विस्फोट!!! रंग ही ईश्वर था - मनुष्य का ईश्वर नहीं। पहाड़ियाँ पारदर्शी हो गयी थीं - प्रत्येक शिला और बड़ी-बड़ी चट्टानें एकदम भारहीन होकर रंगों के समुद्र में तैर रही थीं... और सुदूर पहाड़ियाँ नीली थीं। वह नीलिमा सारे समुद्रों की नीलिमा थी, और हर ऋतु का आकाश। पकते हुए धान तेज़ गुलाबी और हरे ... बरबस ध्यान आकर्षित कर लेने वाले। और, वह सड़क जो घाटी को पार कर रही थी... बैंगनी और श्वेत थी - इस कदर जीवन्त, कि वह उन किरणों में से ही एक किरण हो गयी थी - जो धरती में नहीं, आकाश के आर-पार दौड़ रही थी। तुम स्वयं भी उसी रोशनी के - उस ज्वलन्त - विस्फोटक, छायाहीन प्रकाश के - ही बने थे। बिना किसी जड़-मूल और शब्द के। जैसे-जैसे सूरज ढलता गया, वैसे-वैसे हर रंग अधिकाधिक उग्र और ज्वलन्त होता गया, और तुम पूरी तरह खो गये उसमें - वापसी से परे। यह एक ऐसी शाम थी, जिसकी कोई स्मृति नहीं होती।

हर विचार और भाव का कुसुमन अनिवार्य है - उसका अपना सम्पूर्ण जीवन जीने के लिए, और जी लेने के उपरान्त मरने के लिए। कुसुमन हर उस चीज़ का, जो तुम्हारे भीतर है - महत्वाकांक्षा, लोभ-लालसा, घृणा, भावावेग ... सब। उनके कुसुमित होने में ही उनकी मृत्यु और मुक्ति निहित है। स्वातन्त्र्य में ही चीज़ें पूर्णतः प्रस्फुटित होकर खिलती हैं; न कि दमन था नियन्त्रण और अनुशासन में। वे केवल विकृति उपजाते हैं। प्रस्फुटन, कुसुमन और स्वातन्त्र्य ही शिव है और सारी गुणवत्ता भी। ईर्ष्या को भी फूलने-फलने देना आसान नहीं है। उसकी या तो भर्त्सना की जाती है या गुपचुप सम्वर्धना। पर उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जाती कभी भी। परन्तु स्वतन्त्रता में ही ईर्ष्या अपना असली रंग-रूप और गहरायी प्रकट करती है। दमित अवस्था में वह अपने को पूरी तरह खुलकर अभिव्यक्त नहीं करेगी। जब वह स्वयं को पूर्णतः व्यक्त कर देती है, तभी उसका अन्त होता है - एक दूसरे तथ्य के उद्घाटन में। वह तथ्य है रिक्ति, अकेलेपन और भय का। और ... जैसे जैसे हर तथ्य को फूलने-फलने के लिए खुला छोड़ दिया जाता है, वैसे-वैसे, दर्शक और दृश्य का अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष भी थमने लगता है। अब दमनकर्ता नहीं रहता; केवल मात्र निरीक्षण, केवल देखना भर रह जाता है। स्वतन्त्रता केवल पूर्णता में ही होती है ; पुनरावृत्ति या दमन, या विचार की किसी धारा या विन्यास में नहीं। पूर्णता सिर्फ़ कुसुमन और विलोपन में अर्थात् मृत्यु में होती है। मृत्यु नहीं है, तो कुसुमन भी नहीं है। जो जारी रहता है, वह समयाधीन विचार है। विचार का कुसुमन विचार का अन्त है। क्योंकि मृत्यु में ही वह होता है, जो वास्तव में नया है। नया कुछ हो ही नहीं सकता यदि 'ज्ञात' से मुक्ति न हो। विचार, जो बासी-पुराना है, नये का सृजन नहीं कर सकता। उसे मरना ही होगा ताकि नया जन्म ले सके। जो कुसुमित होता है, उसका अन्त अवश्यम्भावी है।

२० नवम्बर

घना अँधेरा। निरभ्र आकाश में तारे दमक रहे थे और बयार शीतल-ताज़गी भरी। हर वृक्ष मौन, रहस्यमय, स्वप्निल और दुर्भेद्य। एक कार की आवाज़ को छोड़, समूचा देहात सोया पड़ा था। थोड़े से लोग सड़क पर दृष्टिगोचर हुए, उन्होंने स्वयं को कपड़े में इस तरह लपेट रखा था कि, बस चेहरा भर दिखायी दे। वे थके-माँदे अपने घरों को लौट रहे थे। ऐसे लग रहे थे मानो रात भर चलते रहे हों। सड़क एक के बाद दूसरा मोड़ पार करती हुई पसरी थी। पक्षी भी निद्रितावस्था में थे - इक्के दुक्के को छोड़कर। और जैसे-जैसे सूर्योदय बेला पास आती गयी, वैसे-वैसे वे जगने लगे - कव्वे, गीध, कबूतर और असंख्य छोटे-छोटे पक्षी। हम चढ़ाई चढ़ रहे थे और एक छोटे-से जंगल से गुजर रहे थे। सड़क पर कुछ बन्दर दिखायी दिये। इमली के नीचे एक बहुत बड़ा बन्दर बैठा था। एक बहुत छोटा-सा बन्दर भी - अपनी माँ के पेट से चिपका हुआ। ऊषा सूर्योदय में परिणत हो रही थी। लोग भी अब नींद से जगने लगे थे। वे अपने घरों को बुहारते और सारा कूड़ा-कचरा सड़क के बीचोबीच फेंकते नजर आये। कुत्ते-पता नहीं क्यों- सड़क के बीचोबीच ही सोना पसन्द करते हैं। बसें, कारें और लोग उन्हें बचाते हुए चल रहे थे। स्त्रियाँ कुँओं से पानी लेकर घर की ओर जाती दिखायी दीं। अब हम उस भीड़ भरे गन्दे बड़े शहर के निकट पहुँच गये थे और हमारी परिचित पहाड़ियाँ पीछे छूट चुकी थीं।

हमारी कार खासी रफ़्तार से चल रही थी और ध्यान के लिए वह अच्छी जगह थी। ध्यान मात्र एक साधन नहीं है किसी साध्य तक पहुँचने का। यहाँ कोई अन्त या गन्तव्य नहीं होता। हर प्रणाली या विधि विचार को समयबद्ध करती है : किन्तु ध्यान हर विचार और भाव की निर्विकल्प चेतना है; हर विचार और भाव के पीछे की नीयत और यान्त्रिकता के प्रति जागरूक होना। उन सबको प्रस्फुटित होने देना ही ध्यान का आरम्भ है। जब विचार और भावनाएँ पूरी तरह खिलकर मुरझा जाते हैं, तब ध्यान समय के परे संचरित होता है। इसी संचरण में परमानन्द की अनुभूति होती है। सम्पूर्ण रिक्ति में प्रेम प्रकट होता है और प्रेम के इस प्राकट्य के साथ ही विनाश और सृजन भी।

२१ नवम्बर

अस्तित्व मात्र विकल्प है, वरण है। केवल आत्मसाक्षात्कारी अकेलेपन (अलोननेस) में ही निर्विकल्प शान्ति है। विकल्प में संघर्ष-अन्तर्द्वन्द्व निहित है। उसमें आन्तर और बाह्य का अशाम्य द्वन्द्व, उलझाव और यातना है। तब फिर उस यातना से बचने के लिए आस्था-विश्वास, राष्ट्रवाद आदि नाना प्रकार की प्रतिबद्धताएँ अनिवार्य हो उठती हैं। जहाँ उनमें शरण ली कि, बस फिर वे ही सबसे महत्वपूर्ण हो जाती है। पलायन की यही परिणति

है : आत्म-छलना। भय और दुश्चिन्ता मन में सदा के लिए डेरा डाल देते हैं। विकल्प से निराशा और दुःख ही उपज सकते हैं और इस दुःख का कोई शमन या अन्त सम्भव नहीं। विकल्प में कोई आज़ादी नहीं है। तुम अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार चुनाव करते हो - अपनी सामाजिक, आर्थिक और मज़हबी प्रतिबद्धताओं के अनुसार। तथाकथित विकल्प या वरण इस बन्धन को अनिवार्यतः और अधिक मज़बूत बनाता है। इस बन्धन से छूटना सम्भव नहीं। न पलायन, जो और दुःख बढ़ाता है।

दुःख को ही पोसने-बढ़ाने वाले इस विकल्प को ही ध्यानपूर्वक देखो - कि कैसे वह दुबका रहता है हमारे भीतर - हमेशा कुछ माँगता हुआ। और इससे पहले, कि तुम कुछ समझ पाओ, इससे पहले ही तुम कर्तव्यों-जिम्मेदारियों-निराशाओं के जंजाल में फँस जाते हो। देखो इसे सचमुच यथातथ्य देखो- तुम इस तथ्य के प्रति पूरी तरह सचेत हो जाओगे। तुम तथ्य को बदल नहीं सकते - उसे छिपा-ढाँप सकते हो - उससे दूर भाग सकते हो - परन्तु उसे बदल नहीं सकते। वह सदैव वहाँ रहेगा -यथावत्। यदि तुम बिना अपनी धारणाओं और दुराशाओं को बीच में लाये उसे अपनी जगह पड़ा रहने दो, तो वह खिलकर अपने आप झर जायेगा। खिलकर वह तुम्हें अपनी सारी जटिलताओं, दबी-छुपी नीयतों और कल्पनाओं को तुम्हारे सामने जाहिर कर देगा। बस, तुम्हें बिना फँसे, बिना अपना विकल्प छाँटने के चक्कर में पड़े, उसकी सारी हरकतों के प्रति जागरूक रहना है। तब तुम देखोगे कि विकल्प पूरी तरह खिल चुकने के बाद अपने आप मुरझा और झर जाता है और वही स्वतन्त्रता का उन्मेष होता है। यह नहीं, कि तुम स्वतन्त्र हो जाओगे; बल्कि यह, कि तुम देखोगे कि स्वतन्त्रता है। तुम विकल्प निर्माता हो, और तुमने विकल्प-निर्माण करना छोड़ दिया है। देख लिया है कि विकल्प दरअसल है नहीं। तब इस विकल्प रहित अवस्था के भीतर से 'अलोननेस' का, वास्तविक अकेलेपन का कुसुमन होगा। इस असली, स्वरूपावस्थानी अकेलेपन का अर्थ है - ज्ञात के प्रति, ज्ञात के लिए मर जाना। सारा विकल्प, सारा चुनाव 'ज्ञात' के क्षेत्र में ही होता है; और इस क्षेत्र में किया गया हर कर्म दुःखोत्पादक ही होता है। दुःख का निरसन केवल इस वास्तविक स्वरूपावस्थानी अकेलेपन को सिद्ध करने से ही हो सकता है।

२२ नवम्बर

(इस दिन कृष्णमूर्ति ने मद्रास में अपने आठ व्याख्यानों में पहला व्याख्यान दिया था। ये व्याख्यान १७ दिसंबर तक जारी रहे थे।)

ढेर सारी पत्तियों के बीच एक तीन पंखुड़ियों वाला गुलाबी फूल खिला। हरियाली के बीच विन्यस्त था यह और वह स्वयं अपने सौन्दर्य से चमत्कृत हुआ होगा। वह एक ऊँची झाड़ी पर उगा - उस सारी हरियाली

के बीच जीवित रहने के लिए संघर्षरत है। उसके ठीक ऊपर एक विशालकाय वृक्ष तना खड़ा है और कई सारी दूसरी झाड़ियाँ भी - सभी अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए युद्धरत। यों इस झाड़ी में और भी कई सारे फूल थे, किन्तु पत्तियों के झुरमुट में खिलने वाला अकेला वही था। इसीलिए विस्मय उपजाता-ध्यानाकर्षक ढंग से। पत्तों के बीच हल्की-सी हवा थी। पर हवा का झोंका उस फूल तक पहुँच नहीं पा रहा था। फूल निश्चल था अपने एकाकी स्वरूप में। और चूंकि यह सचमुच अकेला था पूरी तरह, इसी कारण उसमें विलक्षण सौन्दर्य था - सूने आकाश में जगमगाते नक्षत्र की तरह।

सूर्यास्त हो चुका था और कुछ भटकते मेघ गुलाबी आभा धारण कर रहे थे। इस देशान्तर पर गोधूलि नहीं होती। आरे निरभ्र आकाश में लगभग पूरा चन्द्रमा अपनी छटा बिखेर रहा था। उस सड़क पर चलना-पानी में चाँद का प्रतिबिम्ब निहारते हुए और मेढ़कों की टर्राहट सुनते हुए आशीर्वाद सा उतर आया। चलते हुए तुम - जो कुछ तुम्हारे आस-पास घट रहा था - उस सबके प्रति सचेत जागरूक थे। चन्द्रमा को रह-रह कर अपने पीछे ओझल करते बादल-दल, पीछे से टुनटुनाती साइकिल की घण्टी-चेतावनी-सी देती। पर इस सचेतता के बावजूद, तुम इस सबसे बहुत दूर थे। तुम नहीं, बल्कि वह विशाल और महान् गहरायी। वह गहरायी देश-काल से परे अपने भीतर ही भीतर डूबती जा रही थी। वह सम्पूर्ण स्वाधीनता थी - मुक्ति बिना जड़-मूल की, और दिशा-निरपेक्ष। और, ... उसी गहरायी में विचार से सर्वथा विच्छिन्न और सुदूर परमानन्द का स्फुरण हो रहा था।

नियन्त्रण का सार है - दमन। विशुद्ध देखना हर प्रकार की दमन-चेष्टा को समाप्त कर देता है। 'देखना' नियन्त्रण की तुलना में अगणित गुना सूक्ष्म वस्तु है। नियन्त्रण आसान है, उसमें बहुत समझ नहीं लगती। सिर्फ़ दूसरों के द्वारा लादे गये अनुशासन का पालन भर करना होता है। किसी मान्य अथॉरिटी का आदेश-पालन। कहीं कोई चूक न हो जाए, इसका डर, सफल होने की जद्दोजहद - यही वे बातें हैं जो यथार्थ का, तथ्य का दमन अथवा उन्नयन करती है। तथ्य को यथावत् देखने की विशुद्ध क्रिया अपनी समझ अपने साथ लाती है और, उसीमें से वास्तविक रूपान्तरण- 'म्युटेशन' - सम्भव होता है।

२५ नवम्बर

ध्यान का खिलना ही शिवत्व है। यह कोई ऐसी चीज़ नहीं, जिसे धीरे-धीरे बटोरा जा सके; यह कोई बँधी-बँधाई नैतिकता नहीं, जो समाज में सम्मानयोग्य मानी जाती है; न ही, वह किसी सत्तासीन की मोहताज है। यह ध्यान का आन्तरिक सौन्दर्य है जो उसके कुसुमन को सुवासित करता है। ध्यान में आनन्द की सृष्टि कैसे होगी यदि वह लालसा और वेदना के उकसावे से उपजता हो? ध्यान खिलेगा ही कैसे, यदि आप उसे नियन्त्रण,

दमन और त्याग के माध्यम से खोजेंगे? यह सब आपको पीछे छूट जाने देना होगा - बिना किसी पछतावे के, सहज रूप में। ध्यान किसी पद्धति के सुदीर्घ अभ्यास का मोहताज नहीं होता। सारी पद्धतियाँ, सारे तन्त्र विचार किसी एक साँचे में ढालने पर निर्भर होते हैं और ऐसी प्रणाली का बन्धन ध्यान के कुसुमन को ही मर्माहत कर देता है। वह केवल पूर्ण स्वातन्त्र्य में ही विकसित होता है। बगैर स्वातन्त्र्य के आत्म-ज्ञान नहीं होता। और बिना आत्मज्ञान के ध्यान सम्भव नहीं है। विचार सदैव तुच्छ और उथला होता है - चाहे वह ज्ञान की तलाश में आकाश-पाताल एक कर डाले। ज्ञान का विस्तार कदापि ध्यान नहीं है। वह केवल ज्ञात से पूर्ण स्वातन्त्र्य उपलब्ध करने पर ही खिलता है। और ज्ञात की सीमाओं में बँधते ही सूख और झर जाता है।

२६ नवम्बर

धान के खेतों के बीच ताड़ का वृक्ष अकेला खड़ा है। वह अब युवा नहीं रहा खूब ऊँचा और सीधा तना हुआ है। उसकी खूबी उसके दर्पीले वजूद की है। संभ्रान्तता के आडम्बर से भरी हुई। वह अपने अकेले रौब-दाब के साथ मौजूद है वहाँ। उसने इसके सिवा और कुछ जाना ही नहीं और वह ऐसे ही अकड़ के साथ खड़ा रहा आयेगा-मृत्यु पर्यन्त। उससे तुम्हारी भेंट-अचानक ही हो गयी सड़क के मोड़ पर और तुम अचम्भित हो गये उसे वहाँ धान-खेतों और बहते पानी के बची अकेले खड़े देखकर। पानी और हरे-भरे खेत आपस में गुनगुना रहे थे जो वे प्राचीन काल से ही करते आ रहे हैं। परन्तु उनका विनम्र गुंजार कभी भी ताड़ तक नहीं पहुँच पाया। वह तो ऊँचे आसमान और चमकदार बादलों के साथ अपने अकेले ऐश्वर्य में तना रहा आया। तुम्हें रास्ते में कुछ हिरन भी चरते दिखायी पड़े थे - लम्बे और भारी सींगों वाले। उनमें से कुछ लाल सड़क को पार कर रहे थे और कुछ झाड़ियों में दुबके हुए थे। छोटी-सी कार कहीं रूकी नहीं थी। निर्मल साँझ उतर आयी थी और आसमान में तारे झलक आये थे। स्वच्छ और चमकीले। पेड़ रात्रि-विश्राम की तैयारी में थे और पक्षियों का अधीर कलरव भी थम चुका था।

साँझ के उस आलोक में उस तंग सड़क पर चलते हुए आनन्द की तीव्रता बढ़ती ही गयी-अकारण ही। आरम्भ उसका एक छोटे से उछलते-कूदते मकड़े से हुआ था, जो आश्चर्यजनक फुरती से मक्खियों पर झपटा था और उन्हें कसके दबोचे था। हाँ, वह आरम्भ एक छोटी-सी अकेली पत्ती की फड़फड़ाहट से हुआ था, जबकि बाकी पत्ते स्थिर-निष्कम्प थे; वह आरम्भ हुआ था एक धारीदार छोटी-सी गिलहरी को देखने से - जो अपनी लम्बी पूँछ हिलाती और जाने किस-किस को फटकारती फिर रही थी वहाँ। उस उल्लास का कोई एक हेतु नहीं था। वह उल्लास ओछा होता है जो किसी कारण से उपजता या उपजाया जाता है और नितान्त अस्थिर, बदलता रहता है। किन्तु यह विचित्र और अप्रत्याशित हर्षोत्तेज़ना अपने-आप तीव्रतर होती गयी और जो उल्लास ऐसा

तीव्र-सघन होता है, वह कभी पाशविक नहीं हो सकता। वह नितान्त विनम्र और समर्पणशील होते हुए भी अपनी तीव्रता को बरकरार रखता है। तुम चाह कर उसे नहीं उपजा सकते। वह सबल और दुर्बल की कोटियों से बाहर है। वह सर्वथा निष्कवच और वेध्य होता है, जैसे कि प्यार होता है। सब कुछ-सारी की सारी हलचलें उस एक तीव्रता के भीतर ही सिमट आयीं थीं। एक स्थिर-निष्कम्प लौ का रूपाकार होता है; किन्तु भीतर केन्द्र में उसके सिर्फ़ दाहक ऊष्मा भर होती है - बिना किसी रूपाकार के।

२७ नवम्बर

तेज़ हवा से हाँके गये बादलों के झुण्ड के झुण्ड पश्चिमी क्षितिज पर जमा हो गये थे। वे गज़ब के लहरीले श्वेत-श्याम, पानी भरे बादल थे - और, देखते ही देखते समूचे आकाश पर छा गये। वयोवृद्ध वृक्ष उनसे और तेज़ हवा से नाराज़ थे। वे चाहते थे उन्हे ंनिर्विघ्न और अकेले रहने दिया जाये, हालाँकि वर्षा की ज़रूरत तो उन्हें भी थी ही। वर्षा उन्हें स्नान कराके उनकी सारी धूल छुड़ाके उन्हें स्वच्छ निर्मल कर देगी - उन्हें पता है। परन्तु वे विघ्न भी नहीं चाहते - बड़े-बूढ़ों की तरह ही। बाग में तरह-तरह के फूल खिले थे रंग-बिरंगे - और हर फूल नृत्य करना चाहता था, हर पत्ती थिरक रही थी - लॉन के घास की पत्तियाँ भी। दो वृद्धा स्त्रियाँ, जो समय से पूर्व ही वृद्ध हो गयी थीं - घास पर पालथी मारे बैठी थीं - फालतू घास उखाड़तीं और साथ-साथ बतियाती भी जातीं। तुम उनके साथ एकात्म हो गये थे। वे 'तुम' थे और घास और बादल भी। तुम 'वे', और वे 'तुम' - यह अद्वैत किसी सहानुभूति या विचार से नहीं उपजा था। तुम सोच तो बिलकुल भी नहीं रहे थे। न भावनाओं के वशीभूत हो रहे थे। वे तुम थे और तुम वे ही थे ... और समय एकदम रुक गया था, स्तम्भित हो गया था। एक कार रुकी और उसका शोफर भी उस दुनिया में शामिल हो गया। उसकी लजीली-सी मुस्कान और अभिवादन तुम्हारे ही थे और तुम अचरज में थे कि वह किसे देखकर मुस्कुरा रहा है, किसे सलाम कर रहा है? वे स्त्रियाँ और वे शोफर तुम ही थे। उनके और तुम्हारे बीच की बाड़ें ... तत्काल ध्वस्त हो गयी थीं और फिर सब कुछ एक निरन्तर फैलते जाते वृत्त में बदल गया, जिसमें वह गन्दी सड़क, वह भव्य आकाश, सड़क पर चलते राहगीर सबके सब सिमट आये। इस घटना का किसी सोच-विचार से कुछ भी लेना-देना नहीं था। विचार यूँ भी एक घटिया चीज़ है, ... और, भावनाएँ तो उस दृश्य में कहीं थीं ही नहीं। वह एक 'लौ' थी, जिसने सबको अपनी लपेट में लेके सबको मिटा दिया था। एक भी चिन्ह - राख तक नहीं छूटने दी थी वहाँ। वह कोई तथाकथित अनुभव नहीं था, जिसमें यादें होती हैं, जिन्हें दोहराया जा सके। वे सब तुम ही थे। और तुम ही उनमें से प्रत्येक थे।

कितनी विचित्र है अपने को कुछ दर्शाने की लालसा या कुछ बन जाने की! ईर्ष्या घृणा है, और दिखावा भ्रष्ट करने वाला। असम्भव की हद तक कठिन लगता है सरल होना- यानी वही होना, जो तुम वस्तुतः हो; और

हर दिखावे से दूर रहना। तुम मुखौटा धारण कर सकते हो; परन्तु वह होना, जो तुम वस्तुतः हो, बेहद जटिल है। क्योंकि तुम तो हर क्षण बदलते रहते हो - तुम कभी भी एक से नहीं रहते - हर क्षण तुम्हारा एक नया पहलू, एक नयी गहरायी, एक नयी सतह उभर आती है। तो फिर तुम किसी भी क्षण 'यह सब' कैसे हो सकते हो? नहीं हो सकते। इसलिए, अगर तुममें जरा भी अक्लमन्दी है, तो तुम कुछ भी बनने और दिखने का आग्रह तज दो। तुम सोचते हो, तुम बहुत संवेदनशील हो - जबकि मात्र एक घटना, मात्र एक दिमागी लहर ही साफ-दो टूक दर्शा देती है कि तुम नहीं हो संवेदनशील। तुम सोचते हो तुम बड़े चतुर सयाने, कला-कुशल और नैतिक संवेदना से लैस हो। मगर एक मोड़ पार किया नहीं, कि अगले ही मोड़ पर तुम इनमें से कुछ भी नहीं रह जाते। उल्टे, पाते हो, कि तुम भीतर ही भीतर बेहद महत्वाकांक्षी, ईर्ष्यालु, अपर्याप्त, हिंस्र और चिन्तातुर हो। तुम बारी-बारी से ये सारे व्यक्तित्व हो, और, फिर भी, चाहते हो कि तुम वही बने रहो लगातार, जो तुम चाहते हो और जो फायदेमन्द और मज़ेदार-सुखदायी और रौबदार भी हो। तो, तुम उसी छवि के पीछे भागते हो जबकि बाकी सारे प्रतिरूप तुमसे अपना पावना वसूल करने कभी भी, कहीं भी आ धमकते हैं।

गरज यह, कि जो तुम हो, वही होना एक बहुत ही जटिल और कठिन पुरूषार्थ है। यदि तुम सचमुच चैतन्य हो, तो तुम सब जानते हो और उस 'जानने' के साथ जाने वाले तमाम दुःख और त्रास को भी। इसलिए, तुम स्वयं को सब तरफ से खींचकर-छुड़ाकर अपने काम में झोंक देते हो, अपनी आस्था या विचारधारा में, अपने आदर्शों और ध्येयों में। तब तक तुम वृद्ध हो चुके होते हो और कब्र में दफ़न होने के लिए प्रस्तुत भी - यदि तुम भीतर ही भीतर पहले ही मृत नहीं हो चुके हो तो। इन सारी चीज़ों को उनके समस्त अन्तर्विरोधों और दिन-ब-दिन बढ़ते दुख-त्रास के साथ परे फेंक देना, और अपनी अकिंचनता को अंगीकार कर लेना ही सर्वाधिक सहज और विवेकपूर्ण कर्तव्य है तुम्हारा। किन्तु इसके पूर्व, कि तुम ऐसी निपट अकिंचनता को अपना सको, यह अनिवार्य है कि पहले स्वयं तुम्हारे द्वारा उक्त सारी तुम्हारे भीतर छुपी हुई चीज़ें उघाड़ के उजागर कर दी जायें और इस तरह पूरी तरह आत्मसात् करके समझ-बूझ ली जाएँ। उन प्रच्छन्न प्रेरणाओं और बन्धनों-बाध्यताओं को आरपार देख-समझ पाने के लिए तुम्हें उनके प्रति- बिना किसी विकल्प के सर्वथा सचेत जागरूक होना होगा - जैसे कि मृत्यु के सामने। तभी उस पारदर्शन के विशुद्ध कर्म में वे सारी चीज़ें झर जाएँगी, और तुम सचमुच और वस्तुतः अकिंचन होकर दुःखमुक्त हो सकोगे। अकिंचन होना कोई निषेधात्मक या नकारात्मक काम नहीं है। वह सब, जो तुम भोग चुके हो, हो चुके हो, उस सबको नकारना ही सबसे सकारात्मक कर्म है। यह सकारात्मकता किसी भी हालत में 'प्रतिक्रिया' नहीं है। प्रतिक्रिया तो वास्तव में कर्महीनता है - तुम्हारे सारे दुःख का मूल कारण। यह सकारात्मक नकार ही तुम्हें सचमुच ऊर्जा प्रदान करेगा। मात्र सोचना-विचारना, सोच विचार में ही गर्क रहना अपनी ऊर्जा को छितराना हैं, उसे नष्ट करना है। विचार कालाधीन होता है, और कालाधीन जीवन ही विघटन ह्रास और अन्तहीन दुःख-त्रास है।

२८ नवम्बर

ध्यान कल्पना-क्रीड़ा नहीं है। ध्यान के खिलने के लिए बिम्ब, शब्द प्रतीक के सारे रूपों का अन्त हो जाना अनिवार्य है। मन को शब्दों और उनसे उपजती प्रतिक्रियाओं की गुलामी से खुद को मुक्त करना होगा। विचार समय है और प्रतीक, चाहे वह कितना ही पुरातन और अर्थसमृद्ध क्यों न हो, विचार पर उसकी पकड़ बनी नहीं रह सकती। विचार में तब कोई निरन्तरता नहीं होती। वह सिर्फ़ एक पल से दूसरे पल तक संचरित हो सकता है और, इसलिए अपनी यान्त्रिक आग्रहशीलता भी गँवा देता है। विचार तब मन को आकार नहीं दे सकता, न ही उसे एक साँचे में ढालकर उस संस्कृति और समाज के लिए इस्तेमाल कर सकता है, जिसमें वह जीता है। स्वातन्त्र्य चाहिए - समाज से नहीं, बल्कि, धारणाओं से। तभी सम्बन्ध और समाज मन को बन्दी नहीं बना सकेंगे। सारी चेतना अहर्निश अस्थिर, परिवर्तनशील है और मूलगामी परिवर्तन अर्थात 'म्युटेशन' तभी मुमकिन है जब समय और विचार का अन्त हो जाय। यह अन्त कोई निष्कर्ष नहीं है। वह आत्मज्ञान द्वारा ग्राह्य होता है। तथाकथित ज्ञान सचमुच सीखना नहीं है; वैसा ज्ञान तो सिर्फ़ स्वीकृति और संग्रह भर है : जानकारियों का ढेर - जो असली 'सीखने' की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर देता है। सीखना पल-प्रतिपल होता है, क्योंकि यह 'मैं' हर क्षण बदलता रहता है। वह कभी स्थिर नहीं रहता। संग्रह और परिग्रह सीखने को विकृत कर देता है। ज्ञान का संग्रह ज्ञान की सीमाओं को चाहे जितना विस्तृत कर दे - वह दरअसल है यान्त्रिक चर्या ही। और, यान्त्रिक मन कभी भी स्वतन्त्र मन नहीं हो सकता। आत्मज्ञान मन को 'ज्ञात' के बन्धनों से मुक्त करता है। ध्यान कोई व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं है; न ही यथार्थ या सत्य की व्यक्तिगत खोज।

२९ नवम्बर

बगैर संवेदनशीलता के स्नेह सम्भव नहीं। व्यक्तिगत प्रतिक्रिया संवेदनशीलता नहीं साबित करती। आप अपने कुटुम्ब के प्रति, अपनी पद-प्रतिष्ठा और क्षमता के प्रति संवेदनशील हो सकते हैं; परन्तु इस प्रकार की संवेदनशीलता केवल एक प्रतिक्रिया है - सीमित, संकुचित और ह्रासोन्मुख। संवेदनशीलता सुरूचि भी नहीं है; क्योंकि सुरूचि व्यक्तिगत होती है; और व्यक्तिगत प्रतिक्रिया से मुक्ति ही सौन्दर्य चेतना है। इस सौन्दर्य-चेतना के अभाव में प्रेम नहीं पनप सकता। प्रेम प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता है : नदी, आकाश, लोग, गन्दी सड़क सबकी सतत-चेतना अनुभूति है। इस स्नेह का सार ही संवेदनशीलता है। किन्तु अधिकांश लोग इसी संवेदनशीलता से डरते हैं। उनके लिए संवेदनशील होना चोट खाना है। इसलिए वे अपने को कड़ा करके अपने दुःख का संरक्षण करते हैं। या फिर मनबहलाव के तरह-तरह के रूपों की ओर पलायन करते हैं - जैसे चर्च, गपशप, सिनेमा या समाज-सुधार में। किन्तु संवेदनशील होना कोई व्यक्तिगत मामला नहीं है। जब भी वह ऐसा होता है, दुर्गति

की ओर ही ले जाता है। इस व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के चंगुल से छूटना ही प्रेम है। और, प्रेम किसी एक या अनेक से बँधा नहीं होता। संवेदनशील होने के लिए सारी ज्ञानेन्द्रियों का खूब चुस्त-चौकस होना ज़रूरी है। और इसमें इन्द्रियों का गुलाम बन जाने का डर उपजना या उपजाना मात्र एक प्राकृतिक तथ्य से कतराना है। तथ्य के प्रति सचेतन होना दासता कबूल करना कतई नहीं है। उल्टे, तथ्य से डरके भागना ही बन्दीपन को बुलावा देना है।

वर्षा में नहायी सुबह थी और आकाश मेघाच्छन था। छोटे लॉन में नाना प्रकार के पक्षियों का कलरव गूँज रहा था। जब तक हल्की फुहारें पड़ती रहीं, वे बेपरवाह रहे। मगर जब बौछार तेज़ हो गयी तब वे सब उड़ गये - ज़ोरों से शिकायत करते हुए। मगर वृक्ष-लता-गुल्म सब मिलके आनन्दोत्सव मना रहे थे। हर बूँद वर्षा थी, नदी थी और समुद्र थी। धरती वर्षा को सहेज रही थी अपने भीतर; कई -कई महीनों की झुलसाने वाली गरमी के लिहाज से। ... सड़क समुद्र तक चली गयी है। वह समुद्र हल्का हरा था - विशाल पर्वताकार लहरें एक के बाद एक उठकर तट पर बिछ जातीं थी। समुद्र उग्रतापूर्वक शान्त दिखायी देता था और लहरें ऊँची और ऊँची उठती हुई उसके खतरे को दर्शा रही थीं।

तथाकथित धार्मिक लोगों के लिए संवेदनशील होना ही पाप में लिप्त होना है। ऐसा पाप, जो सांसारिक जनों के लिए ही सुरक्षित है। उनके लिए सौन्दर्य सिर्फ़ प्रलोभन है, जिसका प्रतिरोध और निरोध परमावश्यक है। मठवासी या सन्यासी के लिए इन्द्रियाँ केवल दुःख और पाप उपजाने वाली हैं। रहा विचार, तो उसे उनकी समझ और धारणा के ईश्वर को ही पूर्णतः समर्पित होना चाहिये। परन्तु विचार इन्द्रियों से जुड़ा होता है। विचार ही समय को व्यवस्थित करता है और यह विचार ही है, जो संवेदनशीलता को पापमय बताता और बनाता है। वास्तव में विचार का अतिक्रमण करना ही सर्वोच्च पुरूषार्थ है। और यह पुरूषार्थ वह सघन और तीव्र संवेदनशीलता ही है, जिसका नाम प्रेम है। प्रेम करो - उसमे कोई पाप नहीं है। प्रेम करो और भरपूर करो। ... और, तब दुःख-त्रास भी नहीं होगा।

३० नवम्बर

बिना नदी के कोई भी देश उजाड़ हो जाता है। यह एक छोटी-सी नदी है, यदि इसे नदी कहा जा सके; परन्तु इस पर खासा बड़ा ईंट-पत्थर का पुल एलफिंस्टन ब्रिज, जो-अड्यार नदी पर बना हुआ है। (जिस घर में कृष्णमूर्ति उन दिनों ठहरे थे, वह इस पुल के उत्तर-पश्चिम में है।) यह नदी पूर्व दिशा में बहती हुई समुद्र में जा मिलती है - बड़े उत्साह-उमंग के साथ। पुल से आसमान इस कदर विस्तृत, समीप और अविकृत लग रहा था - एयरपोर्ट से काफ़ी दूर था यह पुल। परन्तु उस शाम वह अकेली .... और तीन ताड़ वृक्ष समूची धरती, समूचा अतीत और वर्तमान तथा समूचा अनबीता जीवन बन गये थे। ध्यान बिना जड़ों का प्रस्फुटन था और,

इसीलिए मरना भी। नकार एक चमत्कारिक हलचल है जीवन की; और तथाकथित सकार मात्र एक प्रतिक्रिया जीवन के प्रति, मात्र एक प्रतिरोध। जहाँ प्रतिरोध है वहाँ मृत्यु भी नहीं, केवल मात्र भय ही भय होता है। भय में से भय ही उपजता है और एक अन्तहीन विकृति का सिलसिला भी। मृत्यु नये का कुसुमन है; ध्यान समस्त 'ज्ञात' संसार की मृत्यु।

कितनी विचित्र लगती है यह बात, कि आदमी कभी यह नहीं कहता कि - 'मैं नहीं जानता'! ऐसा कहने और सचमुच अनुभव करने के लिए विनम्रता चाहिए। मगर कोई भी, कभी भी इस तथ्य को - वास्तविकता को कभी न जान पाने के तथ्य को - स्वीकार नहीं करता। यह प्रदर्शनप्रियता ही है, जो मन को 'ज्ञान' की खुराक पहुँचाती है। किन्तु 'मैं नही जानता' - यह सच्चा स्वीकार इस 'जानने' की यन्त्रचर्या को ठप्प कर देता है, आत्म-प्रदर्शन की लालसा एक विचित्र व्याधि है - सदैव आशा की मृगतृष्णा में फँसी हुई, और अवसादग्रस्त। 'मैं नहीं जानता' कहने के भी कई सारे ढंग है। पाखण्ड, दूसरों को प्रभावित करने की लालसा, लोगों के बीच महत्व पाने की आकांक्षा इत्यादि..। एक 'मैं नहीं जानता' कहना वह है, जो सचमुच ही सत्य को जानने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने को तैयार है; और, दूसरा वह है, जिसमें किसी खोज की अभीप्सा नहीं है। पहले वाली मानसिकता कभी कुछ नहीं सीखती सिर्फ़ जानकारियाँ बटोरती रहती है। और, दूसरी हमेशा सीखने की अवस्था में रहती है - बगैर संग्रह की लालसा के। सीखने की आज़ादी में मन हमेशा ताज़ा, युवा और निर्दोष बना रहता है, जबकि जोड़ने-बटोरने की, परिग्रह की लालसा मन को विकारग्रस्त और जर्जर कर देती है। निर्दोष सिखनौड़ापन अनुभवहीनता नहीं है; वह सिर्फ़ अनुभव और अभ्यास की दासता से मुक्ति है। यह मुक्ति, यह स्वतन्त्रता अनुभव की जकड़बन्दी से मुक्ति का, मृत्यु का ऐलान है - उसे दिमाग की उपजाऊ मिट्टी में जड़ पकड़ने देने से इंकार।

किन्तु शब्दाभिव्यक्ति का आदी हो जाना, शब्द में निहित भावनात्मक सामग्री की आसक्ति में पड़ जाना शब्दों से आज़ाद होने की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर देना है। बगैर इस आज़ादी के तुम शब्दों की गुलामी के अभ्यस्त हो जाते हो। निष्कर्षों और अवधारणाओं के भी। ऐसी दासता उपजाने वाले शब्द को नष्ट कर देना हमारे भीतर गहरे में जमी हुई सुरक्षा ग्रन्थि की संरचना को ध्वस्त कर देना है, जिसमें कि किसी भी रूप में यथार्थ का वास नहीं होता।

१ दिसम्बर, १९६१

भीड़ से पटा, कीचभरा रास्ता। शहर से बाहर, किन्तु उपनगर बनने की तैयारी में। फिलहाल तो .. .. गढ्ढों से पटी हुई, अविश्वसनीय रूप से गन्दी बस्ती है। सड़क के दोनों ओर ताड़वृक्ष और धान-खेत ... और पानी से भरे गढ्ढे ही गढ्ढे। इतने में ठसाठस भरी बस आयी - सबके सब रास्ते से हट गये - मगर

एक कद्दावर भैंस ने बस को जहाँ का तहाँ रोक दिया। सड़क के बीचों बीच खड़ी थी वह - बस के लगातार बजते भोंपू की ज़रा भी परवाह न करती हुई। भोंपू भी थककर चुप हो गया। लगता है, भीतर से हर आदमी एक राजनीतिज्ञ है - बस केवल तात्कालिकता से ही मतलब रखता हुआ - और समस्त जीवन को उसी तात्कालिकता में ठूँसने की ज़िद ठाने हुए। बाद में तो इसका फल भुगतना पड़ेगा। पर क्या इससे बचा नहीं जा सकता? बखूबी बचा जा सकता था : मगर इसकी परवाह करने की फुरसत किसे है? नींद की गोलियाँ हैं, शराब है, मन्दिर है और तात्कालिकताओं का एक समूचा परिवार है। आप चाहें तो इस सारी अराजकता को खत्म कर दे सकते हैं आसानी से। बशर्ते आप प्रतिबद्ध हों किसी विचार से। मगर आप ये सारे रास्ते आजमा चुके हैं और आपका दिमाग भी उतना ही बंजर है, जितना आपका हृदय। और, आपने रास्ता पार कर लिया और तात्कालिकता में गर्क हो गये। सड़क पार होती रही - खजूर के पेड़ों, धान के खेतों, झोपड़ों इत्यादि से गुज़रती रही ... और, अकस्मात् हमेशा की तरह अप्रत्याशित ढंग से वह 'अन्यता' वहाँ ऐसी पावनता और शक्ति के साथ प्रकट हो गयी, जिसे किसी भी विचारधारा का पागलपन कभी भी सूत्रबद्ध नहीं कर सकता। और ... वह वहाँ प्रकट थी - वह सर्वथा नयी 'अन्यता'; और, तुम्हारा अन्तःकरण आनन्दातिरेक से विस्फोटित होता लगा - शून्य आकाशों में। दिमाग पूर्णतया चुप - निःस्तब्ध था, किन्तु, ... संवेदनशील और बाकायदा साक्षी उस सब कुछ का, जो घट रहा था वहाँ। वह सीधे शून्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता था क्योंकि आखिर वह था तो दिमाग ही - काल का बन्दी। किन्तु काल तो खुद ही ठहर गया था। इसलिए, दिमाग भी निश्चल हो गया था - बिलकुल चुप्पा - बिना किसी आग्रह और अभीप्सा के। और यह सम्पूर्णता प्रेम की हर वस्तु में दाखिल हो गयी। बाकी सारी चीज़ों का अपना अवकाश है, अपनी जगह है। मगर इसकी नहीं । इसलिए इसे पाया नहीं जा सकता। तुम कुछ भी कर लो, इसके लिए जगह नहीं पा सकते। यह न तो बाज़ार में सुलभ हो सकती है, न किसी मन्दिर में। सब कुछ ध्वस्त कर देना होगा, ... तभी अज्ञात सत्ता इधर से गुज़र सकेगी। बहरहाल, वह वहाँ थी। और, सौन्दर्य भी।

बदलाव लाने का सारा सायास सरंजाम यथास्थिति का ही पुनर्वास है। बदलाव के ऐसे हर उपक्रम के पीछे कोई उद्देश्य और एक निर्धारित दिशा होती है; और इसीलिए वह मात्र निरन्तरता ही साबित होती है : थोड़ी-सी काट-छाँट के साथ, ... उसी स्थिति की निरन्तरता, जो पहले थी। यह परिवर्तन निरर्थक है : यह तो वैसा ही कि आपने एक खिलौने को पहनाए वस्त्र बदल दिये। पर, ... खिलौना तो वही का वही रहा आता है। वैसा ही यान्त्रिक, जीवन रहित और भंगुर, जो कभी भी तोड़कर कचरे में फेंका जा सकता है। मृत्यु हर बदलाव का अपरिहार्य अन्त है! और, आर्थिक सामाजिक परिवर्तन भी मृत्यु ही है - परिवर्तन के भेष और विन्यास में। यह क्रान्ति कदापि नहीं है। वह, जो होता रहा है, हुआ है, उसीका किंचित् संशोधित रूप है। 'म्युटेशन' - अर्थात् सम्पूर्ण क्रान्ति तभी होती है जब हर बदलाव, समय का हर विन्यास झूठ ही है - यह साफ-साफ देख लिया जाता है। तभी, उस झूठ के सम्पूर्ण परित्याग से 'म्युटेशन' घटित होता है। असली, टिकाऊ, सम्पूर्ण रूपान्तरण।

२ दिसम्बर

समुद्र बहुत उद्वेलित था। पर्वताकार लहरें दूर से उमड़ती आ रही थीं। निकट ही एक बड़े चौड़े और गहरे सरोवर के चतुर्दिक बसा हुआ गाँव था, एक भग्नावशेष-सा मन्दिर। चारों ओर से सीढ़ियाँ उतरती थीं सरोवर में। घर भी जर्जर अवस्था में; किन्तु वह गाँव अद्‌भुत मैत्री-भाव उपजाता था।

अँधेरे झुटपुटे में उस सड़क पर चलते हुए वह अजस्र शक्ति इतनी त्वरा और स्पष्टता के साथ प्रगट हुई कि ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे ही रह जाए। वह शक्ति ही सारा जीवन थी। वह इच्छा-शक्ति नहीं थी, न किसी संकल्प से, या आत्मरक्षा या प्रतिरोध से प्रेरित। न ही वह साहस या ईर्ष्या, या मृत्यु की प्रेरणा से उपजी थी। वह निर्गुण-निराकार शक्ति थी- वर्णनातीत। और, फिर भी, वह वहाँ उतनी ही मूर्तिमन्त यथार्थ थी, जितनी, कि दूर झलकतीं पहाड़ियाँ, और सड़क किनारे खड़े वृक्षों की पाँत। वह नितान्त अहेतुक शक्ति थी और, इसीलिए उसमें कुछ जोड़ा या घटाया नहीं जा सकता था। वह अज्ञेय है, अगम्य भी। ... शब्दों का अवमूल्यन हो चुका है; दिल-दिमाग और मन, ... सब इसके द्वारा निगल लिये गये हैं। कुछ भी नहीं बचा स्वयं उसी के सिवा। अकेले विचरण करते हुए, या, औरों के साथ, यह जारी रहा, और ... पूरी रात जारी रहा - जब तक, कि ताड़वृक्षों के बीच सुबह नहीं उग आयी। पर वह अभी भी वहाँ है - पत्तों के झुरमुट में ... एक फुसफुसाहट की तरह।

क्या ही असाधारण वस्तु है यह ध्यान! अगर किसी तरह की कोई बाध्यता हो इसके पीछे - कोई आयास विचार को इसका अनुसरण कराने का - तो, यह एक थकाने वाला बोझ बन जाता है। वह मौन, जो अपेक्षित है, वह अपनी दीप्ति में स्थिर नहीं रह पाता। यदि वह चमत्कारिक दृश्यों और अनुभवों की लालसा से प्रेरित होने लग जाये, तो वह तरह-तरह की भ्रान्तियों और आत्म-सम्मोहन की ओर ले जाने लगता है। ध्यान की सार्थकता इसी में निहित है कि विचार का पूर्ण कुसुमन-प्रस्फुटन हो और उसी के बूते विचार का अन्त भी। विचार केवल स्वातन्त्र्य में ही खिल सकता है, न कि ज्ञान के निरन्तर विस्मृत होते जाते विन्यासों में। ऐसा ज्ञान सेंसेशन और अधिकाधिक रोमांच पैदा करने वाले नये-नये अनुभव प्रदान कर सकता है। परन्तु वह मानस, जो किसी भी तरह के रोमांचकारी अनुभवों का अनुसरण करता है, अपरिपक्व मानस है। परिपक्वता तमाम अनुभवों के जाल से छूट निकलने में - उनसे पूर्ण मुक्ति पा लेने में निहित होती है। ध्यान की परिपक्वता मन को 'ज्ञान' से मुक्त करने का नाम है, क्योंकि यह ज्ञान सारे अनुभवों को आकार देता और नियन्त्रित करता है। जो मन स्वयंप्रकाश है, उसे अनुभव की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अनुभव की - अर्थात् अधिकाधिक विस्तृत और विविध अनुभवों की निरन्तर बढ़ती जाती लालसा ही अपरिपक्वता है। ध्यान इस ज्ञान और 'ज्ञात' के संसार के आर-पार विचरण करने में, तथा उसकी सीमाओं को लाँघ जाने में, अतिक्रमण कर जाने में निहित है। तभी वह 'अज्ञात' में प्रवेश पा सकता है।

३ दिसम्बर

उस खुशनुमा सड़क पर, एक छोटी-सी झोपड़ी में - जिसमें एक छोटी-सी तेल की बाती जल रही है, वे आपस में लड़ रहे हैं। स्त्री तार स्वर में चीख रही थी - रूपये-पैसे को लेकर; चावल खरीदने के लिए भी पैसे नहीं बचे हैं, इस बारे में ... ; दूसरी ओर एक धीमा-सहमा पुरुष का स्वर-कुछ बड़बड़ाता हुआ। इतनी दूर से भी स्त्री का क्रुद्ध कण्ठस्वर साफ सुनायी दे रहा था। फिर वह भीड़भरी बस के शोर में डूब गया। ताड़ वृक्ष चुप्पी साधे थे। चन्द्रमा कहीं दिखायी नहीं दे रहा था आसमान में और ... खासा अँधेरा छाया हुआ था। सूर्य कुछ समय पूर्व घिरते बादलों की ओट में डूब गया था। समुद्र-तट के प्राचीन मन्दिर से लोगों की भीड़ लौट रही थी - ठसाठस भरी बसों और कारों में। फिर वह कोलाहल भी शान्त हो गया - सड़क भी अपने सूनेपन में लौट गयी। इसी बीच वह अजनबी अन्यता अविश्वसनीय मृदुलता और आत्मीयता के साथ पास ही आ बिराजी। वह वहाँ एक नन्ही-सी पत्ती की तरह अपनी सम्पूर्ण निरीहता अविनश्वरता में विद्यमान थी। हर विचार, हर भावना लुप्त हो गयी। विस्मृति ने लपेट लिया सब कुछ को।

विचित्र बात है - पैसा कितना महत्वपूर्ण हो गया है। देने वाले के लिए भी, लेने वाले के लिए भी। घोर विपन्नों के लिए भी। लोग दिन-रात पैसों की ही बात करते रहते हैं - जो शिष्टाचारवश नहीं करते, वे भी उसी की चिन्ता से घिरे रहते हैं। सत्कर्म करना हो, तो पैसा, राजनीति करनी हो, तो पैसा, मन्दिर के लिए पैसा, और चावल खरीदना हो तो पैसा। पैसा पास में हो, तो परेशान, पैसा न हो तो परेशान। कोई आदमी क्या है, यह इसी पर निर्भर करता है कि उसके पास पैसा कितना है, वह किस पद पर है, कितनी कमाई कर लेता है। यत्र-तत्र-सर्वत्र यही धुन, यही चर्चा। अमीरों की ईर्ष्या, ग़रीबों की ईर्ष्या, जानकारियों की, कपड़े-लत्ते की, कौन कितनी बारीकी हाँक सकता है, इसकी होड़ रात-दिन। पैसे से भी ज़्यादा महिमा और जोड़-तोड़ पद-प्रतिष्ठा की। सन्त के पास पैसा न सही, ऐसी सत्ता है जिसे सिर नवाने क्या अमीर, क्या ग़रीब सभी दौड़े जाते हैं। राजनीतिज्ञ देश का इस्तेमाल करता है; साधु-सन्त देवी-देवताओं का। ऊँचे आसन पर विराजने के बाद वे तुम्हें लोभ-लाभ की निरर्थकता पर और शक्तिमतों की निर्दयता पर प्रवचन पिलाने को हमेशा प्रस्तुत।

कोई भी इस अन्धी होड़ से उबरना नहीं चाहता। दुःख-निवृत्ति का मामला बहुत पेचीदा है। लिखा तो है धर्मग्रन्थों में सब कुछ। परन्तु उनके बावजूद दुःख जहाँ का तहाँ। विचारों के आवरण पर आवरण चढ़े हुए हैं दुःख पर, मगर दुःख को चकमा देना इतना आसान है क्या? दुख की परिक्रमा करते रहने से क्या होगा? तुम्हें उसके गर्भ-गृह तक पहुँचना होगा सीधे एकदम। तभी उसका हल मिलेगा। यह वैसा ही है जैसा कि नदी का पीछा करना उसके स्रोत तक पहुँचने के लिए। उल्टी दिशा में। नदी ही तुम्हें ले जायगी वहाँ, जहाँ से वह निकली थी। देखो, सुनो दृष्टा-भाव से इस सारे दृश्य को। तुम्हें यह यात्रा करनी ही है - चन्द्रमा के लिए नहीं, देवताओं के

लिए नहीं, - केवल केवल अपने लिए। केवल अपनी अन्तर्यात्रा। दुःख का अन्त करने के लिए तीव्रतम भावावेग की ऊर्जा चाहिए; और वह ऊर्जा इन पलायन चेष्टाओं के जरिये नहीं खरीदी जा सकती। पलायन-चेष्टा खत्म करो पूरी तरह, तभी वह तुम्हें साक्षात् अपने सम्मुख विद्यमान मिलेगी। वही है दुःख - निवृत्ति का एकमात्र और अमोघ उपाय।

४ दिसम्बर

वृक्षों की घनी छाया में बड़ा सुकून था। तरह-तरह के पक्षी चहचहाते-पुकारते-गाते ... अपने में मगन थे। शाखाएँ इतनी सुन्दर और सुडौल, कि उन्हें देखना ही अचरज से भर जाना था। उनका विस्तार, उनकी महिमा ऐसी कि आँखों में आँसू उमड़ आये। ... सच में, पृथ्वी पर एक वृक्ष से अधिक सुन्दर कुछ नहीं होता। मरणोपरान्त भी वृक्ष का सौन्दर्य नहीं छीजता। मरणोपरान्त भी - पक्षी उस पर बसेरा करेंगी। उल्लू और तोते उसके तने या उसकी शाख की खोखल में विश्राम पाएँगे। कठफोड़वे आयेंगे - उसमें सूराख करने। इन गिलहरियों को देखो - हमेशा कुछ न कुछ शिकायत करती हुई... और इतनी उत्सुक, जिज्ञासु, चंचल, फुरतीली। उधर उस पेड़ की सबसे ऊँची शाखा पर एक सफ़ेद और लाल चीज़ बैठी है। जाने कितनी तरह की चींटियाँ भी - लाल और काली - लगातार पेड़ पर चढ़ती या उतरती हुई। पर ... अभी तो यह वृक्ष भरपूर जीवन्त और शानदार है। गरमी छू भी नहीं सकती तुम्हें इसकी छाया में। तुम घण्टों बैठे रह सकते हो इस छाया में ... कुछ निहारते-महसूस करते। तुम देख रहे हो इस विशाल को, और अचरज में डूबे जा रहे हो, कि कौन किसे देख रहा है? सब कुछ तो चरमतीव्रता और तेज़स्विता में प्राणवान् है। हर तरफ, जीवन! जीवन! की पुकार है। और, देखने वाला मूक-निश्चेष्ट हो गया है - उस पत्ती की तरह। दिमाग - हाँ दिमाग भी तो - एकदम खामोश हो गया है! सिर्फ़ देखता और सुनता सब कुछ। बिना किसी प्रतिक्रिया के, बिना कुछ भी किये ...।

आदत, वह चाहे जितनी सुविधाजनक हो - संवेदनशीलता की शत्रु है। आदत हमें सुरक्षा कवच सा पहना देती है। कितनी जल्दी सब कुछ एक आदत में ढल जाता है! आदत के बाद बारी आती है फुरसत की। फिर यह फुरसत भी आदत में ढल जाती है।

५ दिसम्बर

वह कोयल, जो उषःकाल से ही लगातार कूक रही थी - कव्वे से छोटी और ज़्यादा साँवली थी। लम्बी पूँछ, और चमकीली लाल-आँखें। वह एक छोटे से खजूर के पेड़ पर आधी छुपी बैठी थी। अपने सुकोमल स्वर

में जाने किसे लगातार पुकारती हुई। वहीं एक छोटे-से वृक्ष पर उसका जोड़ीदार बैठा था। शायद उसी को पुकार रही होगी। वह उससे भी छोटा, उससे कहीं ज़्यादा लचीला, और ज़्यादा छुपा हुआ था। या, कहना चाहिए, कि छुपी हुई थी। क्योंकि तभी अचानक नर कोकिल उड़के आ बैठा अपनी संगिनी के पास, जो कि खुद इस बीच एक खुली शाख पर आ बैठी थी। वे बैठे रहे उसी तरह दोनों। और... लो, इतने में ही दोनों उड़ भी गये।

ध्यान का हर उपक्रम कभी भी पहले जैसा नहीं होता। उसमें एक नयी ही प्राणवायु होती है हर बार। एक नयी विस्फोटक ऊर्जा का उन्मेष। वह आदत नहीं बन सकता कभी भी। सारी आदतें - भले, वे अभी हाल ही में पड़ी हों - पुरानी ही होतीं हैं। वे पुरानी आदतों से ही निकलती हैं और उन्हीं में जुड़ जाती हैं। लेकिन, ध्यान पुराने को तोड़कर उसकी जगह नये को बिठा देना नहीं होता। यह ध्यान बिलकुल नया और विस्फोटक था; वह नया था - पुराने के क्षेत्र में नहीं। उस क्षेत्र में तो वह कभी दाखिल ही नहीं हुआ था। वह नया था - इसलिए, कि उसने पुराने को कभी जाना ही नहीं था। वह अपने-आप में विध्वंसक और विस्फोटक था। विध्वंस कर रहा था, इसीलिए नया था। और ... इसीलिए वह सृजन था।

ध्यान में कोई खिलौना नहीं होता जो तुम्हें रमा सके। या तुम जिसमें रम जाओ। ध्यान सारे खिलौनों, स्वप्न-चित्रों, विचारों और अनुभवों का विनाश है। तुम्हें सच्चे ध्यान की पक्की बुनियाद रखनी होगी। अन्यथा तुम भ्रम के नानाविध रूपों में उलझ जाओगे। ध्यान विशुद्ध निषेध या नकार है। ऐसा नकार, जो प्रतिक्रिया के भीतर से नहीं उपजता। नकारना- और, उस नकार के साथ सचमुच रहना - यही वह निर्विकल्प और निर्व्यक्तिक क्रिया है, जो प्रेम है वस्तुतः।

६ दिसम्बर

एक साँवले चकत्तों वाला पक्षी - लगभग कव्वे जितना। तुम उसे जितनी देर चाहो, निर्विध्न निहार सकते थे। वह बेर खाने में रमा हुआ था - बड़े कायदे से उन्हें चुनता हुआ, जो भारी गुच्छों में लटके हुए थे उस पेड़ पर। इतने में दो और पक्षी - आकर दूसरी शाखा पर झूलने लगे। वे वही कल वाले कोयल-दम्पति थे। कल की तरह मगर वे शोर-गुल नहीं मचा रहे थे - बेर खाने में मशगूल थे। फिर वह गिलहरी भी उनका साथ देने आ पहुँची। तभी एक कव्वा वहाँ आ पहुँचा चीखता हुआ। गिलहरी से यह विध्न झेला नही गया और वह वहाँ से सटक ली। कव्वे ने खुद तो कुछ खाया नहीं, पर ऐसा प्रतीत हुआ कि उसे औरों को खाते देखना भी अच्छा नहीं लगा। बड़ी शीतल सुहावनी सुबह थी और सूर्यदेव धीरे-धीरे पेड़ों के झुरमुट से बाहर निकल रहे थे। लम्बी घनी छायाएँ पसरी हुई थीं धरती पर ... और घास पर ओस की बूँदें झलमला रही थी। छोटे-से तालाब में दो लिली के फूल खिले थे। एकाएक सारे विचार और भाव बिला गये और बस केवल वे दो फूल ही समूची चेतना पर छा गये।

वे तीव्रतम उज्ज्वल ऊर्जा से भरे थे। एक यह मनुष्य ही है, जो सारे सजीव वस्तुओं में सबसे कम सजीव लगता है क्योंकि उसे अपनी खुदगर्जी से ही फुर्सत नहीं मिलती। आस-पास झाँकने की। इन दो फूलों को निहारते . .. पूरी दुनिया ही बदल गयी मेरे लिए। किसी बेहतर अधिक न्यायपूर्ण व्यवस्थाओं में नहीं; बल्कि ऐसी विभूति में - जहाँ दुःख - त्रास की, दुश्चिन्ता और ऊब की छाया भी नहीं पड़ती। सृष्टि इसलिए क्षण भर में रूपान्तरित हो गयी कि वे दो पुष्प वहाँ खिले थे। वह विशुद्ध जाग्रत सौन्दर्य की महिमा थी। चमत्कार अक्षरशः।

हम सभी उस सड़क से अब तक काफ़ी हिल-मिल गये थे। अँधेरा था और सड़क आकाश की आभा से चमक रही थी और रात घिर आयी थी। ध्यान प्रयत्नसाध्य वस्तु नहीं है। हर प्रयत्न विरोध या प्रतिरोध लिये हुए होता है। प्रयत्न और चुनाव हमेशा संघर्ष और द्वन्द्व उपजाते हैं। और तब ध्यान भी एक पलायन में - तथ्य से पलायन की चेष्टा में अवमूल्यित हो जाता है। परन्तु उस जानी-पहचानी सड़क पर ध्यान सहज ही उस 'अन्यता' की दिव्य अनुभूति में परिणत हो गया। पहले से ही शान्त मस्तिष्क को और भी गहरी निःस्तब्धता में निमज्जित करते हुए। वह अजनबी ममेतर वहाँ ऐसे विचर रहा था जैसे कोई बहुत चौड़ी और गहरी नदी दो तीखे ढलानों वाले तटों के बीच बह रही हो। ठीक उसी तरह वह अजनबी आत्मीयता वहाँ विचर रही थी - बिना किसी दिशा और काल के - दिक्कालातीत।

७ दिसम्बर

खिड़की से एक तरूण ताड़वृक्ष और एक दूसरा वृक्ष दिखायी देता है जो बड़े-बड़े लाल पंखुड़ियों वाले फूलों से लदा हुआ है। ताड़ के पत्ते हर दिशा में अजीब बेढंगेपन से हिलते रहते हैं - मगर फूलों में कोई हलचल नहीं होती। दूर पर समुद्र है जिसका गहरा और बेधक घोष सारी रात सुनायी देता रहता है।

ध्यान वह अग्नि है जो सारे काल और दूरी को भस्म कर देती है। विचार सृजनात्मक नहीं हो सकता। यह चीज़ों को एक विन्यास में जमा सकता है : चित्रफलक पर, शब्दों में, पत्थर पर, या एक रॉकेट में : विचार चाहे जितना चमकदार हो, चाहे जितना बारीक, समय की सीमाओं के भीतर ही कैद रहता है : अपना अतिक्रमण नहीं कर सकता; अपना निर्मलीकरण नहीं कर सकता। वह सिर्फ़ खिल सकता है, और ... खिलकर समाप्त हो सकता है। ... अगर स्वयं को अवरुद्ध न कर ले, तो।

६ दिसम्बर

दूर से ही तुम समुद्र को सुन सकते हो - गर्जन-तर्जन करते ... लहर पर लहर .. पर लहर ... एक अन्तहीन सिलसिले में। समुद्र तो शान्त लगता है ऊपर से; किन्तु उसकी लहरें ... उत्तुंग, भयानक ...।

कितने सारे लोग इनकी चपेट में आकर अपना जीवन खो बैठे। उस शाम लहरें कुछ अधिक ही उग्र लग रही थीं - किनारे पर उनके सिर पटकने का शोर कानों को बहरा कर देने वाला था। सूर्य भी प्रचण्ड दाह उत्पन्न कर रहा था। उग्र समुद्र ... और तपा देने वाला सूर्य - दोनों मिलकर धरती को यातना दे रहे थे ... और, लोग दुबले-पतले, दीन-हीन, भूखे थे। यातना ही यातना! सर्वत्र और सब समय!! मृत्यु इतनी आसान, ... जन्म से कहीं अधिक आसान! हर कहीं, हर तरफ उदासीनता और ह्रास। जो सम्पन्न हैं, वे भी जड़ और सुस्त। बस, सिरफ़ पैसा कमाने, या सत्ता और रुतबा कबाड़ने में तेज़।

तुम दुःख से कतरा और छुप सकते हो, पर मृत्यु से नहीं। हर तरह के स्वार्थ हमें हाँकते रहते हैं; हमारे हर काम के पीछे कोई नीयत, कोई उद्देश्य होता है। इसलिए हम प्रेम नहीं कर सकते। न ही हम, जो कुछ कर रहे हैं, उस कर्म से ही प्रेम करते हैं। बिना किसी लिप्सा या तृष्णा या उन्माद के हम न तो कर्म कर सकते हैं, न जी या हो सकते हैं। इस तरह हम अपने अस्तित्व को ही एक निहायत ओछी, सुस्त और निरर्थक चीज़ बना डालते हैं। हमारा हर कर्म किसी लिप्सा से प्रेरित होता है; अनासक्त और स्वाधीन कर्म कभी नहीं।

१० दिसम्बर

चन्द्रमा ताड़-वृक्षों के ऊपर टँगा हुआ सा लग रहा था। कल वह इस जगह नहीं था : शायद बादलों के पीछे छुपा रहा हो। वह एक छोटा-सा टुकड़ा भर था और विशाल ताड़ों के झुरमुट में वह एक चमत्कार के उल्लास की तरह था। बादल उसे घेर-घार कर आँखों की ओट कर देने की फिराक में थे; परन्तु वह वहाँ उनसे बेखबर, बेहद कोमल और कितना समीप लग रहा था! ताड़-वृक्ष मौन, तपस्वी, कठोर लग रहे थे। शाम पत्तियों से बतियाने में मगन थी और समुद्र कहीं दूर पर गरज रहा था। देहाती जन इस साँझ के भव्य सौन्दर्य के प्रति नितान्त उदासीन थे। वे इसके आदी जो हो चुके थे। वे सब कुछ स्वीकार कर लेने के आदी हो चुके थे - अपनी दरिद्रता, भूख, धूल, गन्दगी और घिरते बादलों के - सब कुछ के। मनुष्य सब परिस्थितियों का अभ्यस्त हो जाता है। न हो, तो उसका जीवन और अधिक यन्त्रणामय हो जाये। तो यही बेहतर है - संवेदनाविहीन और जड़ हो जाना - बनिस्बत, और अधिक दुःख-कष्ट आमन्त्रित करने के। इस तरह मौत भी कुछ ज़्यादा आसान हो जाती है। अब आप लाख आर्थिक-मनोवैज्ञानिक कारण ढूँढ़ लीजिये - जमकर बहस कर लीजिये इस परिस्थिति को लेकर; मगर जो तथ्य है नीरंग और नंगा - वह तो बदलने से रहा। आखिर, अमीर हो, चाहे गरीब, सबको जीना है - जिम्मेदारियाँ निभानी हैं। और, इसलिए सुरक्षा इसीमें हैं, कि सब कुछ से ताल-मेल बिठा लिया जाय, आदत डाल ली जाय सब कुछ सहने की। हम प्रेम, डर, मौत ... सबके आदी हो जाते हैं। आदत ही अच्छाई और गुण मान ली जाती है। यहाँ तक, कि पलायन और देवी-देवता भी। आदतों से लदा मन एक उथला, सुस्त, तमोगुणी मन होता है। तो, हुआ करे।

११ दिसम्बर

सूर्योदय विलम्ब से हुआ। तारे अभी उतने ही चमकदार थे और वृक्ष उतने ही विरक्त, उदासीन और अलग-थलग। कोई पक्षी नहीं चहक रहा था - यहाँ तक कि वे छोटे-छोटे उल्लू तक, जो रात भर एक पेड़ से दूसरे पेड़ का चक्कर लगा रहे थे। अजीब-सी निःस्तब्धता छाई हुई थी चहुँओर। बस एक समुद्र-गर्जना को छोड़। पृथ्वी प्रतीक्षा में थी सूर्योदय की, एक और दिन की। ध्यान जारी रहा आया उस निःस्तब्धता के साथ। और वह निःस्तब्धता ही प्रेम थी। वह किसी वस्तु या व्यक्ति का प्रेम नहीं था। उसमें कोई मूर्ति नहीं थी न कोई प्रतीक। न शब्द और न बिम्ब। वह सहज-विशुद्ध प्रेम था - बिना राग, बिना भावुकता का। अपने में सम्पूर्ण, नग्न और तीव्र। निर्मूल, और दिशाहीन। दूर से आता पक्षी का कण्ठस्वर वह प्रेम था। स्वतःपूर्ण और निरपेक्ष। वह कोई भाव नहीं था, जो मुरझा जाता है और क्रूर बन जाता है। ध्यान उस पक्षी का स्वर था, जो उस निःस्तब्धता को सम्बोधित था, और सुदूर समुद्र की गर्जना को। प्रेम केवल अतलान्त रिक्ति और शून्यता में ही सम्भव होता है। ऊषा की हल्की-सी लालिमा क्षितिज पर आभासित होने लगी थी ... और अँधेरे में वृक्ष और भी अधिक काले और उग्र लग रहे थे। ध्यान में कोई दुहराव नहीं होता - जो कि एक आदत का जारी रहना भर है। ध्यान हर ज्ञात वस्तु या अनुभव की मृत्यु है। ... और 'अज्ञात' की खिलावट। नक्षत्र बुझ चुके थे और बादल मानो नींद से जागे रहे थे - सूर्योदय के साथ।

अनुभव स्पष्टता और समझ को नष्ट कर देता है। अनुभव एक ऐन्द्रिक उद्वेलन है। सेंसेशन। अनुभव तरह-तरह की उत्तेज़नाओं का प्रत्युत्तर है। और हर अनुभव हमें घेरे खड़ी दीवालों का और भी ज़्यादा मुटाना है। ज्ञान-यानी जानकारी- जुटाना एक यान्त्रिक प्रक्रिया है और हमारे नित्यप्रति के यान्त्रिक जीवन के लिए आवश्यक भी। पर, यह ज्ञान हमको समय से बाँधने वाला ज्ञान है। महत्वाकांक्षा की क्रूरता ऐसे ही अनुभव का विस्तार है। ताकत और प्रतिष्ठा जिस अनुपात में बढ़ती है, ठीक उसी अनुपात में संवेदना का भोथरापन भी। अनुभव नम्रता को नहीं उपजा सकता, जो कि सारे सद्‌गुणों का सार है। नम्रता में ही सीखना निहित होता है और यह 'सीखना' ज्ञान का संग्रह कदापि नहीं है।

कव्वे की पुकार ने सबेरे की शुरूआत की। और, ... फिर तो चारों ओर पक्षियों का समवेत कलरव गूँजने लगा।

१३ दिसम्बर

आक्षितिज मेघों का विस्तार। काले-काले मेघ वर्षा-जल से आपूरित। उत्तर में वर्षा होने लगी थी और दक्षिण की ओर अग्रसर थी। नदी के पुल के पार महानगर है - भीड़ और कोलाहल भरा, गन्दा, दिखावटी, समृद्ध।

और, वहीं कुछ दूरी पर आगे ढेर सारी मिट्टी की झोपड़ियाँ हैं - जर्जर, ढहती हुईं। उन्हीं के साथ छोटी-छोटी गन्दी दूकानें, एक फैक्टरी छोटी-सी ... और, भीड़-भरी सड़क, जिसके बीचोबीच एक गैया लेटी हुई है। बसें और कारें उसे बचाती हुई आ-जा रही है। इतने में झमाझम बारिश होने लगी और देखते-ही- देखते सड़क पर पानी ही पानी भर गया - गड्ढे जो हैं जगह-जगह। झोपड़े टपक रहे हैं - बसें गरजती हुई भागी जा रही हैं।

सब कुछ नहा रहा है धुल रहा है - इस बारिश में। सारा कलुष इस शहर का। अतीत और वर्तमान, सब कुछ। भविष्य कहीं नही है। हर कदम कालहीन है, और विचार जो कालबद्ध है - एकदम अवरुद्ध हो गया है। वर्षा की हर बूँद नदी है, समुद्र है और बिन-पिघली बरफ है, सुदूर पहाड़ों की। सर्वत्र एक सम्पूर्ण रिक्ति है, और उसीमें सृजन, प्रेम और मृत्यु। परस्पर सर्वथा अविभाज्य।

१५ दिसम्बर

यह एक खूबसूरत शाम थी; डूबते सूरज के इर्द-गिर्द बादल जमा हो गये थे। कुछ भटके मेघ भी थे - रंगोज्ज्वल। और ... अभी अभी उगा चाँद उनके बीच अटक गया था। समुद्र की गर्जना कैसुरीना और ताड़ के झुरमुटों से छनकर आ रही थी - इस कारण उसकी उग्रता भी कुछ कम हो गयी थी। चरमर करती बैलगाड़ियों का एक काफ़िला सा शहर की ओर बढ़ा जा रहा था - जलाऊ लकड़ियों से ठसाठस भरा हुआ। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते गये, सड़क सुनसान होती गयी। अब अँधेरा हो चला था। सूर्यास्त के साथ ही एक अजीब-सी ख़ामोशी पसर जाती है - शोर और धूल के धुल जाने जैसा अनुभव। यह प्रतिक्रिया नहीं है - यह जो बाहर ही नहीं, भीतर भी उमड़ रहा है - यह निर्मल बोध, जो बड़ी मुलायमियत के साथ तुम्हें सब कुछ से, हर किसी से छुड़ा रहा है। जैसे-जैसे अँधेरा छा रहा है, वैसे-वैसे यह बोध अधिकाधिक तीव्र होता जा रहा है। ये देहातीजन हमें पहचानते लगे हैं - वे हमसे बात करना चाहते हैं हमें कुछ ज़मीन बेचना चाहते हैं ताकि हम उनके साथ हिल-मिल जायें। ... और, जैसे-जैसे शाम रात में ढलने लगी, वह 'अन्यता' अपनी आशीष के साथ उतर आयी और मस्तिष्क उन वृक्षों की तरह निःस्पन्द हो गया। एक पत्ती तक हिल-डुल नहीं रही है। सब कुछ तिरोहित हो जाना है - सब कुछ झड़-पुँछ जाना चाहिये। एक बाढ़ की तरह वह उस सूखी धरती को अपने में निमग्न कर दे। वह आशीर्ष हर्षातिरेक लेकर आयी और बनी रही।

१७ दिसम्बर

उषा के आविर्भाव से बहुत पहले ही एक पक्षी की तीखी चीख ने नींद भंग कर दी - क्षण भर के लिए। फिर उस चीख की रोशनी धुँधला गयी एक विचित्र निःस्तब्धता, - भयावह रूप से शक्तिशाली और विनाशक रूप

से जीवन्त। वह इस कदर जीवन्त थी - और, फिर भी तुम भयभीत थे - हिल-डुल भी नहीं रहे थे। देह जम-सी गयी - अचल हो गयी। और मस्तिष्क, जो उस पक्षी की चीख से जग पड़ा था, वह फिर खामोश हो गया, मगर एक तीव्रतर, सघनतर संवेदनशीलता के साथ। ध्यान कभी भी समय में नहीं होता। समय कभी भी बुनियादी रूपान्तरण घटित नहीं कर सकता। वह कुछ सुधार ला सकता है, जो फिर और सुधार-बदलाव माँगते है। बाकी सारे सुधारों की तरह। ध्यान जो काल में से उपजता है, हमेशा बन्धनकारी होता है; उसमें कोई आज़ादी नहीं होती; और बगैर आज़ादी के विकल्प और संघर्ष का दुश्चक्र जारी रहेगा हमेशा। लाइलाज, असाध्य दुश्चक्र।

१८ दिसम्बर

ऊँचे पर्वतों के बीच-नंगी शिलाओं के बीच -जहाँ एक भी वृक्ष या लता-गुल्म नहीं, वहाँ एक छोटी-सी नदी- सिर्फ़ जलधारा कहना चाहिए उसे - वह उमगती हुई उतर रही थी - दुर्भेघ चट्टानों के बीच से। जैसे ही वह धार नीचे उतरी, वह झरना बन गयी ... और फिर और नीचे उतर आयी घाटी में। और अब उसके स्वर में शक्ति थी, आवेग था। उसे लम्बी राह तय करती है - कई-कई कस्बों, जंगलों घाटियों और मैदानों को पार करना है। अब वह एक उद्दाम वेगवती नदी बनने जा रही थी - अपने तटबन्धों को छलछलाती, स्वयं को अधिकाधिक निर्मल करती, ... चट्टानों के ऊपर कूदती-फाँदती ... जाने कितनी दूरियाँ पार करके समुद्र की ओर प्रवहमान होती। पर, महत्त्व इसका नहीं था कि वह समुद्र में मिलने जा रही है। महत्त्व था उसके एक विशाल नदी बन जाने का - इतनी गहरी, इतनी चौड़ी, इतनी गरिमामयी नदी! निस्सन्देह वह अदृश्य हो जाएगी एक महासागर में - जो अभी यहाँ से हज़ार मील दूर होगा। परन्तु अब से तब तक वह अद्‌भुत जीवनी-शक्ति, सौन्दर्य और असीम हर्ष से भरी रहेगी। कोई उसके उद्दाम वेग को नहीं रोक सकता। कारखाने और बड़े से बड़े बाँध भी नहीं। यह एक चमत्कारी नदी है - इस कदर अदम्य, उन्मुक्त, सर्वव्यापिनी - अपने तटों पर जाने कितने सारे नगरों को बसाये हुए। सारा जीवन इसके तटों पर पसरा हुआ है : हरे-भरे विशाल खेत, जंगल, अकेले सुनसान महल, मृत्यु, प्रेम और विनाश ... सब कुछ। बड़े-बड़े पुल भी बने हैं इस नदी के ऊपर - कई जगह। एक से एक सुन्दर, उपयोगी। कई नदियाँ भी कई जगह मिलती जाती है इसीमें। परन्तु यह सारी नदियों की माँ है - छोटी-बड़ी, सबकी। वह सदानीरा है और आज शाम उसका दर्शन अद्‌भुत रोमांचकारी आशीर्वाद था।

वह नन्ही-सी जलधार उन सुदूर पर्वतों में - उन दुर्गम शिलाओं के बीच - जो उसकी जन्मभूमि है - जहाँ इसका महिमामय जीवन आरम्भ हुआ था। ध्यान इस नदी की तरह है। फ़र्क बस, इतना ही, कि ध्यान का कोई आरम्भ या सुनिश्चित उद्‌गम-स्थल नहीं होता। वह आरम्भ हुआ और उसका अन्त उसका आरम्भ था। कोई हेतु, कोई कारण नहीं था उसके प्रकट होने का। और, उसका स्पन्दन ही उसका नवीकरण था। वह सदैव

नया था, नया है और नया रहेगा। उसने कुछ भी संचय-संग्रह नहीं किया, जो वृद्ध हो। वह कभी मैला नहीं हुआ क्योंकि उसकी जड़ें समय में नहीं थीं। ध्यान करना अच्छा है; मगर उसके लिए प्रयत्न करना नहीं। अनायास एक नन्हीं धार की तरह आरम्भ होकर वह देश-काल से परे पहुँच जाता है, जहाँ विचार भावना प्रवेश ही नहीं कर सकते; जहाँ स्वयं अनुभव भी नहीं होता।

१६ दिसम्बर

वह एक सुन्दर सुहावनी सुबह थी। उषःकाल अभी दूर था। थोड़े से वृक्ष और झाड़ियाँ जो घर के चारों ओर हैं - वे मानों रातों-रात एक जंगल में तब्दील हो गये थे और अपने भीतर जाने कितने साँपों और जंगली जानवरों को प्रश्रय दिये हुए थे। हज़ारों छायाओं वाली चाँदनी इस अहसास को और गहरा रही थी। और, .. . अचानक उन वृक्षों के बीच और उनके पार एक गीत गूँज उठा - भक्ति का संगीत। आवाज़ बड़ी समृद्ध थी। मानो गायक अपना हृदय ही उँड़ेले दे रहा हो उस गायन में। उसे सुनते हुए तुम उस स्वर-लहरी पर आरूढ़ जाने कब उस स्वर से एकजान हो गये थे और फिर उससे भी परे चले गये थे - विचार और अनुभव, दोनों से परे। फिर एक दूसरा स्वर गूँजने लगा - वह वाद्य का स्वर था, कण्ठस्वर नहीं। बहुत धीमा, मगर सुस्पष्ट।

२५ दिसम्बर

नदी यहाँ पर खूब चौड़ी और शानदार हो गयी है। वह गहरी भी है, विस्तृत भी - एक झील की तरह निःस्पन्द। थोड़ी-सी नौकाएँ हैं उस पर - अधिकतर मछुवारों की। और एक बहुत बड़ी नौका, जिसका पाल फटा हुआ है, वह रेत ढोकर ले जा रही है नगर की ओर। सबसे सुन्दर है - पूरब की ओर जल का प्रसार ... और उसके दूसरी तरफ का घाट। नदी यहाँ एक विशाल सरोवर की तरह लगती है। उसकी सौन्दर्य-राशि आकाश से होड़ कर रही हो मानो। यह एक समतल क्षेत्र है और आकाश धरती को भर देता है और, क्षितिज वृक्षों के पार बहुत दूर-दूर लगता है। वृक्ष उस दूसरे घाट पर अधिक हैं। अभी हाल ही में गेहूँ बोया गया है - खेत खूब विस्तार में फैले हुए हैं - दूर-दूर तक। वर्षा ऋतु में यह नदी खूब ऊपर आ जाती है और अपने साथ खूब रेत-मिट्टी बहा लाती है। जब जलस्तर नीचे चला जाता है, वर्षा-ऋतु के बाद, तब जाड़े की बुआयी होती है। फिलहाल नदी का विशाल तट मोहक हरीतिमा का गलीचा बना हुआ है। नदी के इस पार पेड़ों का झुरमुट एक अभेद्य अरण्य जैसा लगता है, किन्तु उसमें जगह-जगह लोगों के घर टँके हुए हैं। परन्तु एक महाकाय वृक्ष - खुली-पसरी जड़ों वाला-इस किनारे की शोभा है। उसके नीचे एक छोटा-सा श्वेत मन्दिर है; लेकिन उसमें बसे देवता उस जल-प्रवाह की तरह हैं, जो मन्दिर के पार्श्व से गुज़र रहा है। बस वह वृक्ष ही यथावत् अपने स्थान

पर जमा हुआ है : उसकी लम्बी-लम्बी पत्तियाँ इस कदर सघन हैं कि पक्षी उस पार से नित्य आकर रात्रि-विश्राम के लिए उसका आश्रय लेते हैं। वह बाकी सारे वृक्षों के ऊपर तना खड़ा है और चाहे टहलते हुए जितनी भी दूर चले जाओ, वह कभी भी आँखों से ओझल नहीं होता। बराबर तुम्हारे दृष्टि-पथ पर विराजमान रहा आता है। उसमें सौन्दर्य की दिव्य विभूति है - वह भव्यता, वह गरिमा जो सच्चे आत्म-वान् एकाकीपन से उपजती है। किन्तु वे सारे गाँव भीड़ भरे, छोटे-छोटे गन्दे घरों से पटे हुए हैं और मानवजीव अपने चारों ओर की धरती को गँदलाने में ज़रा भी नहीं हिचकते।

उस प्रशान्त गरिमामय एकान्त में वह दिव्य 'अन्य' सहसा आविर्भूत हुआ और ध्यान जैसे अपना अर्थ ही खो बैठा। वह एक बहुत ही ऊँची लहर की तरह बहुत दूर से आकर पूरे वेग से तट पर आ टूटा। कैसी भी कोई भी कल्पना उसकी प्रचण्डता को - उस महाशक्ति को नहीं छू सकती। उसे 'अनुभव' कहना उसकी महिमा को घटाना है। केवल कच्चे लोग ही अनुभव के पीछे पड़ते हैं, और उसका बखान करते हैं। स्मृति भी उसे अपने जाल में नहीं पकड़ सकती। वह एक अकथनीय ज्वलन्त कौंध थी, जिसमें काल और अकाल-अनन्त दोनों एक साथ निगल लिये गये थे - बिना कोई भी अवशेष छोड़े। ध्यान मन को सम्पूर्णतः खाली कर देना है : कुछ पाने-ग्रहण करने के लिए नहीं, बल्कि बिना किसी चाह या माँग के अपने सारे आवरणों का लोप हो जाने देने के लिए। ध्यान वस्तुतः मन को 'ज्ञात' के चेतन-अचेतन दोनों ही कोषों से रिक्त कर देना है। नकार ही सार है स्वातन्त्र्य का। और खोज या उपलब्धि का दावा ही सबसे बड़ा बन्धन।

३० दिसम्बर

दो कव्वे बुरी तरह आपस में लड़ रहे थे। वे बहुत ही उग्र और हिंसक रुख अपनाये हुए थे एक-दूसरे के प्रति। दोनों की लड़ायी जमीन पर ही हो रही थी। परन्तु एक थोड़ी अधिक सुविधाजनक स्थिति में था। खिड़की से दोनों को डाँटते-फटकारने का प्रयास बिलकुल ही विफल रहा। लगा, अब तो इनमें से एक की मौत होनी ही है। कि इतने में उधर से गुज़रता एक और कव्वा उनके बीच आ कूदा और उन दोनों से भी कहीं ज़्यादा उग्रता का प्रदर्शन करते हुए उसने बीच-बचाव का उपक्रम किया। और, लो, इतने में और भी कुछ कव्वे इस दृश्य में आ जुटे। पंखों और चोंचो की भयानक भिड़न्त थी वह। अन्ततः सबके सब एकबारगी और एक साथ वहाँ से उड़ लिये और सब शान्त हो गया। अभी पूरी तरह उजाला नहीं हुआ था। अब तोतों की सभा जुटी - उनका कलरव आरम्भ हुआ। इमली के खोखल से प्रगट होते हुए उन्हें हर कोई देख सकता था। भयानक शीतलहर चल रही है इन दिनों। दो सुनहरे हरे रंग के पाखी तो ठण्ड के मारे अपनी जान ही गँवा बैठे थे - एक नर, एक मादा। दोनों लगभग एक साथ ही दिवंगत हुए। अद्‌भुत सुन्दर थे उनके रंगीन पंख। रंग तो अभी भी उतने ही

विलक्षण सुन्दर थे - किन्तु जीवन समाप्त हो चुका था। इस तरह रंग हृदय से कहीं ज़्यादा टिकाऊ साबित हुआ - रंग, जो कालातीत भी है और पीड़ातीत भी।

किन्तु विचार-चिन्तन कभी भी दुःख-दर्द की समस्या को नहीं सुलझा सकता। दुःख-दर्द की क्यों, ज़िन्दगी की किसी भी समस्या को। विचार यान्त्रिक होता है; दुःख यान्त्रिक नहीं होता। दुःख उतनी ही विलक्षण सत्ता है, जितनी प्रेम। दुःख का अन्त 'ज्ञात' से स्वतन्त्र होने में ही सम्भव है।

३१ दिसम्बर

कोई तेईस नौकाएँ मछुवारों की इस वक़्त नदी में मौजूद थीं। हर नौका में दो या तीन लोग। नदी का विस्तार यहाँ सबसे अधिक है और ये नौकाएँ खेल में मगन बच्चों की तरह लग रही थीं। वे बहुत ही ग़रीब लोग थे - फटे-पुराने चिथड़े लिपटे थे उनके तन पर। किन्तु इस वक़्त वे मस्ती में थे। तमाम चिन्ताओं और पीड़ाओं से मुक्त। नदी खूब चमक रही थी। कव्वे नदी पार से इसी तरफ को उड़ के आ रहे थे - अपने आश्रयदाता वृक्षों के पास।

१ जनवरी

घुमावदार छोटी-सी नदी इस बड़ी नदी से आकर मिलती है यहाँ। वह शहर के एक धुर गन्दे इलाके से आती है और यहाँ पहुँचते उसमें इतनी गन्दगी भर जाती है कि, बेचारी एकदम पस्त पड़ चुकी लगती है। दोनों के संगम पर एक कामचलाऊ पुल बना हुआ है। बाँस और रस्सी का। आर-पार आते जाते लोग आपस में यहाँ टकराएँ नहीं, यह असम्भव है। इतना व्यस्त और भीड़ भरा पुल शायद ही कहीं और हो। गाँव वाले सुबह अपने खेतों की उपज और दूध वगैरह लेकर शहर आते हैं और फिर शाम को थके-माँदे रोजाना के उपयोग की चीज़ें शहर से ढोकर इसी पुल से अपने घरों को वापस लौटते हैं। वे हमेशा गन्दे चिथड़ों में लिपटे, बीमार... फिर भी असीम धैर्य के साथ इस रास्ते पर चलते हुए दीखते हैं। उनके पास अपनी परिस्थिति से विद्रोह करने की ऊर्जा नहीं है, न सारे निकम्मे राजनीतिज्ञों को इस मुल्क से बाहर खदेड़ने की। मगर, मौका मिलने की देर है। वे स्वयं भी इन्हीं राजनीतिज्ञों का अनुसरण करते हुए उतने ही मक्कार और शोषक जन्तुओं में परिणत हो सकते है जो हर सम्भव हथकण्डे अपनाते हुए अपनी कुर्सियों से चिपके रहते हैं। उस ताकत झूठ, और लाइलाज भ्रष्टाचार के बूते-जो अपने ही देशवासियों को नष्ट करने में लगी रहती है। हम उसी पुल को पाल कर रहे थे - एक विशालकाय भैंस की बगल में चलते हुए और ढेर सारी साइकिलें और पैदल गाँववाले भी हमारे साथ उसी

पुल से गुज़र रहे थे। लगता था, पुल अभी इसी क्षण चरमराकर गिर जाएगा। पर, जाने कैसे हम सभी सकुशल पार हो गये और हमारी साथिन उस भैंस को भी कोई फ़र्क नहीं पड़ा।

बढ़िया शाम थी - शीतल और शान्त। ऊपर आकाश भी शान्त था। कोई क्षितिज नहीं था। अन्तहीन फैलाव चपटी धरती का उस विस्तृत आकाश में घुल-मिल गया था। कोई हलचल नहीं थी इस खामोश फिज़ाँ में। यह शान्ति तुमने उत्पन्न नहीं की थी। इसे लाने में तुम्हारा कोई योगदान नहीं था। न तुम्हारे तरह-तरह की जुगत भिड़ाने वाले दिमाग का। यह शान्ति वहाँ थी और तुम उससे अलग नहीं थे, कि उसका विश्लेषण विवेचन करने में जुट जाओ। केवल वह शान्ति वहाँ थी। और, कोई भी, कुछ भी नहीं।

२ जनवरी

गाँव के लड़के नदी तट पर पतंग उड़ा रहे थे, वे उल्लासित होकर अपने फेफड़ों का पूरा ज़ोर लगाकर चीख-चिल्ला रहे थे - अपने हर्षातिरेक की उत्तेज़ना में। उनका उत्साह संक्रामक था क्योंकि कई सारे सयाने और बुज़ुर्ग जो उन्हें देख रहे थे ऊपर से, वे भी उनके खेल में पूरी तरह भागीदार थे - उन्हें उकसाते, बढ़ावा देते हुए। लग रहा था यह पूरे गाँव का सन्ध्याकालीन मनोरंजन है। यहाँ तक, कि भूखे हड़ियल कुत्ते भी इस खेल का मज़ा ले रहे थे। बच्चे, किशोर सभी अधनंगे, फटेहाल, क्षीणकाय ... मगर ऊर्जा से भरपूर। भारी थैले लादे ग्रामीण पथिक भी इस दृश्य का अनिवार्य अंग बने हुए थे। उनका धैर्य और सहनशक्ति असीम थी और, वह होनी ही थी क्योंकि मृत्यु वहाँ इस कदर सन्निकट थी और उसी तरह जीवन की दुस्सह यन्त्रणाएँ भी। सब कुछ वहाँ एकत्र था - एक ही समय में। जन्म, मृत्यु, सेक्स, ग़रीबी, भूखे पेट, उत्तेज़ना, आँसू ... सब कुछ। उनके पास एक जगह थी - पेड़ों के झुरमुट तले, तट से काफ़ी ऊपर एक खण्डहर हो चुके मन्दिर से बहुत दूर नहीं - जहाँ वे अपने मृतकों को दफ़नाते हैं। नन्हें शिशु थे कई सारे, जो जाने कितनी बार भूखे-अधभूखे रहने की यातना को जानेंगे। किन्तु यह नदी सदैव उनके साथ रही आयेगी। यह नदी सब कुछ है उनके लिए। वे अक्सर इसमें नहातें हैं, अपने मैले-कुचैले कपड़े धोते हैं और अपने दुबले हड़ियल शरीरों को भी। और वे इसकी पूजा करते हैं, इसे फूल चढ़ाते हैं। नदी उनके हर्ष-विषाद दोनों से उदासीन बहती रहती है। वह इतनी गहरी है, उसमें इतनी शक्ति है - वह जीवन्त और जोखिम भरी भी है। परन्तु अभी वह एकदम शान्त और निस्तंरग है। आकाश में उड़ते पक्षी की छाया नदी पर पड़ रही है। ये पक्षी बहुत ऊँची उड़ान नहीं भरते। वे पहले नदी से सिर्फ़ सौ फीट ऊपर उड़ते हैं; फिर थोड़ा ऊँचे जाकर फिर नीचे आते हैं और लगभग सौ फीट की उड़ान भरके वापस लौट आते हैं - अँधेरा घनीभूत हो जाये, इसके पहले ही। कुछ छोटे जल-पाखी भी हैं - अपनी पूँछ ऊपर-नीचे फटकारते हुए। उनकी उड़ने की रफ़्तार काफ़ी तेज़ है। उनसे कुछ बड़े आकर के पक्षी भी हैं - साँवले-भूरे रंग

के, जो तट के ऊपर ही ऊपर उड़ान भर लेते हैं। किन्तु सबसे बड़ा चमत्कार नदी के ऊपर का विस्तीर्ण आकाश है - इस कदर विस्तृत, असीम-अनन्त सा - बिना क्षितिज का आकाश। साँझ का आलोक बेहद कोमल और स्वच्छ है। दिन भर चमकती नदी अब आकाश की प्रभा बन गयी है- स्वप्निल - सम्मोहक, और स्वयं अपने ही सौन्दर्य और प्रेम में खोई हुई। इस सुकोमल प्रकाश में सारी वस्तुएँ अपना अस्तित्व खो देतीं-सी : वह हृदय, जो क्रन्दन कर रहा था, वह दिमाग, जो बहुत चातुर्य दिखा रहा था। हर्ष और विषाद दोनों विलुप्त हो चुके थे। शेष रह गया था केवल आलोक - पारदर्शी, विनम्र, और चराचर जगत् को थपकी देता, सहलाता हुआ। वह विशुद्ध-निरा आलोक था; विचार और भावना की उसमें कोई हिस्सेदारी नहीं थी। विचार और भावना कभी प्रकाश नहीं दे सकते थे। वे वहाँ थे भी नहीं। वहाँ केवल आलोक था। और एकदम निरभ्र आकाश। तुम इस प्रकाश को देख ही नहीं सकते जब तक तुम ध्यान के कालातीत स्पन्दनों को नहीं जानते। विचार-मात्र का अन्त ही यह स्पन्दन उपजा सकता है। प्रेम का मार्ग विचार या भावना का मार्ग नहीं है।

मस्तिष्क पूर्णतः शान्त-निश्चेष्ट हो गया था। किन्तु बेहद जीवन्त और द्रष्टा-साक्षी पक्का-पूरा।

३ जनवरी

एक ऐसी सड़क पर पैदल अकेले घूमना, जो हज़ारों बरसों से तीर्थ यात्रियों द्वारा पैदल नापी जाती रही हो, कैसा विचित्र अनुभव होता है! जिन्होंने इस रोमांच को जाना नहीं कभी - वे केवल इसकी कल्पना ही कर सकते हैं। इस रास्ते के किनारे बड़े प्राचीन वृक्षों की कतार है - इमली और आम के वृक्ष। और यह बहुत से गाँवों से गुजरती हैं। गेहूँ के हरे-भरे खेत ... प्राचीन कुँए, मन्दिर ... और उनमें सूखते देवता! धरती ऐसी चपटी-जैसे हथेली - ठेठ क्षितिज तक पसरी हुई। इतने मोड़, इतने घुमाव आते हैं कि कुछ ही क्षणों में लगने लगे कि आपने कम्पास की सारी दिशाएँ छान लीं। किस कदर खुला हुआ और मैत्रीपूर्ण पथ है यह! - जैसे, संसार में कम-बहुत ही कम होंगे। उनमें से कुछ का स्मरण हो रहा है अभी चलते हुए। किन्तु ... अभी तो यही कहना होगा कि यह पथ निराला-अद्वितीय पथ है : किसी और पथ जैसा नहीं। रास्ते में साँड़ दिखा एक - बड़ी बेफिक्री के साथ पकी-पकाई खेती को चरता हुआ। फिर बन्दर दीखे। फिर तोते। चलते-चलते मन जाने कहाँ खो गया! एकदम निर्विचार। सिर पर अविश्वसनीय चमत्कार-सा आकाश। चँदोवे सा तना हुआ। इस पथ पर विचरते हुए मन में कहीं कोई भाव नहीं, विचार नहीं ... केवल सौन्दर्य! असीम-अपार सौन्दर्य, जो धरती और आकाश में, प्रत्येक पेड़-पत्ते और घास पर बिखरा हुआ है। सब कुछ उसी से छाया हुआ है .... और, तुम भी उसी के अंग हो - अविच्छेद्य। वह वहाँ पसरा हुआ है सर्वत्र ... मौन, निश्शब्द। क्योंकि तुम नहीं हो, नहीं रह गये हो कहीं भी। तुम अब चुपचाप पीछे मुड़ गये हो - जिधर से आये थे, उधर को ही वापस चलने लगे हो। सूर्यास्त

की फीकी पड़ती रोशनी में।

प्रत्येक अनुभव एक अपनी छाप छोड़ जाता है और ऐसी हर छाप अनुभव को विकृत कर देती है। इसलिए, कि ... ऐसा कोई अनुभव नहीं, जो पहले नहीं हुआ हो। सब कुछ बेहद प्राचीन है यहाँ; कुछ भी नया नहीं। परन्तु ... नहीं! ऐसा नहीं है। सारे अनुभवों की तमाम छापें धुल-पुंछ जाती है; अतीत का गोदाम यह मस्तिष्क पूर्णतया शान्त और निःस्तब्ध हो जाता है - बगैर किसी भी प्रतिक्रिया के। मगर बेहद जीता-जागता, संवेदनपूर्ण। तभी तो वह अतीत से पूरी तरह खाली, मुक्त हो जाता है और फिर से एकदम नया और ताज़ा हो उठता है।

वह वहाँ था - वह अनन्त, विशाल - जिसका कोई भी अतीत या भविष्य नहीं। वह वहाँ था - साक्षात्। बिना वर्तमान को महसूस किये। वह कमरे में व्याप्त हो गया - उसका अनन्त अमाप, और अकथनीय विस्तार।
....

५ जनवरी

सूरज पेड़ों के झुरमुट के पीछे से उगता है और समूचे नगर पर छा जाता है ... और, वृक्षों के अन्तराल, और नगर ... सब कुछ जीवन है; सब कुछ समस्त काल है। नदी उनके बीचोबीच प्रवहमान है - गहरी जीती-जागती और प्रशान्त नदी! कई छोटी-छोटी नावें नदी के ऊपर और नीचे तैर रही हें। कुछ बड़ी और पालदार नौकाएँ भी है, जो काष्ठ, बालुका, कटे-छँटे पत्थर ढोकर ले जा रही हैं। कभी-कभी नर-नारियों को भी - जो अपने गाँव वापस लौट रहे हैं - दुबले-पतले साँवले लोग - जो बहुत ही प्रसन्नचित्त, आपस में बतियाते हुए, नाव खेते जा रहे हैं मस्ती में। वे मैले-कुचैले चिथड़ों में लिपटे लोग हैं जिन्हें कभी पेट भर खाना भी नसीब नहीं होता ... और जिनके कई-कई बच्चे हैं। वे पढ़-लिख नहीं सकते - निरक्षर हैं एकदम। उनके पास मन बहलाने के कोई साधन नहीं हैं - सिनेमा आदि। परन्तु वे लोकगीतों, भजन-कीर्तनों और पौराणिक कथाओं से मन बहला लेते हैं बखूबी। वे सभी बहुत ही अकिंचन दीन-हीन लोग हैं और उनका जीवन बेहद-बेहद कठोर और कष्टपूर्ण जीवन है। रोग-व्याधि और मृत्यु उनके चारों और व्याप्त है - इस धरती और इस नदी की तरह। और उस शाम स्वैलो पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड वहाँ नदी को लगभग छूते हुए उड़ रहे थे - और नदी का पानी बुझती हुई आग के रंग का था। हर चीज़ इस कदर जीवन्त ... और विलक्षण तीव्र ऊर्जा से भरी हुई ... चार-पाँच छोटे-छोटे, मगर मोटे से कुत्ते अपनी भूखी-प्यासी माँ के इर्द-गिर्द खेलने-कूदने में मस्त थे। कव्वों के कई झुण्ड अपने बसेरों की ओर लौट रहे थे। उसी तरह तोते भी सदा की तरह चीखते-चहचहाते हुए। एक रेलगाड़ी पुल को पार कर रही थी और उसका तुमुल कोलाहल नदी के आर-पार हम तक पहुँच रहा था। और एक स्त्री नदी के ठण्डे जल में नहा रही थी। हर शै जीने के लिए संघर्षरत थी - अपने प्राणों की रक्षा करने किसी तरह .

.. और फिर चुपचाप मर जाने के लिए। परन्तु सूर्योदय और सूर्यास्त के बीच काल समस्त जीवन को निगल रहा था : समय - वर्तमान और अतीत - मनुष्य के हृदय को लगातार कुतर रहा था। मनुष्य काल में अपना अस्तित्व धारण किये था और इसलिए दुःख को जान रहा था।

किन्तु वे ग्रामीणजन - नदी की बगल वाले तंग रास्ते से गुज़रते हुए ...। पीछे चलता आदमी अपने आगे चलते हुए आदमी का अभिन्न अंग लग रहा था। कोई आठ जने थे - और, जो सबसे पीछे चल रहा था, वह बहुत बूढ़ा था और लगातार खाँस रहा था - गला खँखार रहा था ... और बाकी जने चुपचाप चल रहे थे अपने रास्तो पर। आगे चलता हुआ आदमी अपने पीछे आ रहे लोगों के प्रति चेतन था। वे सब थके-माँदे, गर सहज-शान्त लोग थे, सब के सब - यहाँ तक, कि प्रसन्न भी। आगे चलता आदमी अपने पीछे आ रहे लोगों की उपस्थिति से उतना ही बाखबर और चैतन्य था, जितना नदी के प्रवाह से। कोई केन्द्र नहीं था उसके देखने - महसूस करने का। ये सब शब्द और विचार से जुड़ी चीज़ें हैं। वहाँ उसमें कोई सोच-विचार नहीं था। सिर्फ़ जीवन्त सत्ताएँ थी। वे सब तेज़-तेज़ डग भर रहे थे। वे नदी के साथ बह रहे थे, पक्षियों के साथ उड़ रहे थे और उतने ही खुले और फैले थे, जितना आकाश। यह तथ्य था, महज कल्पना-जल्पना नहीं। कल्पना निहायत बोदी और उथली चीज़ है, और तथ्य ज्वलन्त यथार्थ। वे नौ प्राणी अनादि काल से उस अनादि पथ पर गतिमान् थे; वे कहीं को नहीं जा रहे थे, कहीं से नहीं आ रहे थे। वह एक अन्तहीन जुलूस का जीवन था। काल और पहचान-अस्मिता सब गुम हो गये थे - विचित्र ढंग से। जब वह सबसे अगला आदमी मुड़ा वापस चलने के लिए, वे सबके सब ग्रामीणजन - खासकर वह वृद्ध, जो उसके क़रीब था - ठीक उसके पीछे - उसने ऐसे अभिवादन किया उसका - जैसे युग-युगो की गाढ़ी मैत्री हो दोनों की। अँधेरा घिर रहा थ। पक्षी अपने नीड़ों में वापस लौट चुके थे ; उस लम्बे पुल पर रोशनियाँ झलमला रही थीं और वृक्ष भी अपने में लौट रहे थे। दूर कहीं पर मन्दिर की घण्टियाँ बज रही थीं।

७ जनवरी

छोटी-सी नहर - कोई एक फीट चौड़ी - जो गेहूँ के हरे खेतों से गुज़रती है। उससे लगी पगडण्डी - जिस पर काफ़ी दूर तक टहला जा सकता है - बिना एक भी मनुष्य से टकराये। उस शाम की खामोशी खासुलखास थी। एक तगड़ा बड़ी चमकीली आँखों वाला पक्षी नहर में मज़े से जलपान कर रहा था। वह भौंकने वाला गुस्सैल नहीं था। तुम उसके एकदम पास जा सकते थे बिना डाँट खाये उसकी। बस उसने थोड़ा अचरज से तुम्हें देखा और तुमने उसे दुलार भरी नजरों से। वह मोटा-तगड़ा, मस्त था और बड़ा ही ख़ूबसूरत। वह बस इन्तज़ार में रहा कि तुम क्या करने वाले हो। और तुमने कुछ नहीं किया, तो वह इत्मीनान से फुर्र हो गया वहाँ से - बिना

ज़रा भी आवाज़ किये। तुम्हें उस पक्षी में, जितने भी पक्षी आज तक इस दुनिया में अस्तित्व में आये होंगे - उन सबका इकट्ठा एक जगह दर्शन हुआ। यह था करिश्मा उस विस्फोट का। कोई सोचा-समझा, पूर्वनियोजित विस्फोट नहीं था वह। वह बस अचानक घटित हो गया इस कदर तीव्रता और त्वरा के साथ, कि काल जहाँ का तहाँ ठहर गया - स्तम्भित हो गया। पर ... तुम, उस पगडण्डी पर आगे बढ़ लिये - उस महावृक्ष के पास से गुज़रते हुए, जो एक मन्दिर का प्रतीक बन चुका था क्योंकि वहाँ बाकायदा, फूल चढ़ाए गये थे - एक यूँ ही रंग दी गयी मूरत पर .... और, वह मन्दिर किसी और चीज़ का प्रतीक था और, वह कुछ और भी एक विशाल प्रतीक था। शब्द और प्रतीक झण्डे की तरह भयावह रूप से महत्व पा लेते हैं। प्रतीक वह भस्मीभूत चीज़ थी, जो दिमाग़ को खुराक पहुँचाती है, और वह दिमाग भी बंजर था और विचार उसी कचरे से उत्पन्न हुआ था। वह चतुराई और सूझ-बूझ से भरा था - जैसे कि वे सभी मरूस्थली चीज़ें हुआ करती हैं जो 'न कुछ' से उपजा करती हैं। किन्तु, वह वृक्ष महामहिम था - पत्तों से भरा-पूरा - अनेकानेक पक्षियों का शरणस्थल; वृक्ष के तले की भूमि झाड़-बुहार के स्वच्छ रक्खी गयी थी; एक मिट्टी का चबूतरा भी उन्होंने वृक्ष के चारों और बना रक्खा था, जिस पर मूर्ति प्रतिष्ठित की गयी थी - वह मूर्ति जो वृक्ष के तने पर पीठ टिकाये हुए थी। पत्ते सड़-गल कर झर जाने वाले थे, पर वह मूर्ति नही। मूर्ति बनी-बची रहेगी - मनों को नष्ट करती हुई।

८ जनवरी

प्रातः सूर्य नदी को जगमगा रहा था - आँखों को चौंधियाता हुआ। एक मछुआरे की नाव उस 'सुनहले पथ' को पार कर रही थी और उस पार के तट पर झीना कुहरा टंगा था। यह नदी कभी भी निश्चल नहीं रह पाती : कोई न कोई हलचल होती ही रहती है उसमें हमेशा : अगणित पगों का नृत्य ... और आज की सुबह बेहद जीवन्त थी - सामने के वृक्षों-लता-गुल्मों को एकदम भारी और सुस्त बना देती हुई। बस, अपवादस्वरूप उन पक्षियों को छोड़कर, जो निरन्तर कलरव-मग्न थे, और, उन तोतों को भी - जो उधर से रह-रह कर चीखते हुए उड़े जा रहे थे। ये सारे के सारे तोते उस घर की बगल में खड़े इमली के पेड़ पर डेरा डाले हुए हैं। सारा दिन वे इसी तरह आवागमन करते रहेंगे अपनी बेचैन उड़ानों के साथ। बहुत तेज़ और मुखर होती है उनकी उड़ाने और, तुम पत्तो के उस झुरमुट पर आँखें गड़ाओ तो बमुश्किल दर्शन होंगे उनके। उतने तड़के भी नदी आकाश के आलोक की छुअन भर से जग गयी थी ... और ध्यान केवल मन की विशालता को ही पैना करता जा रहा था। मन कभी भी नहीं सोता, कभी भी पूरी तरह बिन-जगा नहीं होता। मन के टुकड़े इधर-उधर पड़े थे जो दुःख और द्वन्द्व की धार पर निरन्तर पैने किये जा रहे थे। साथ ही, अभ्यस्तियों और हल्की आत्मतुष्टियों के कारण सुस्त और जड़ भी हो गये थे। हर सुख-सन्तुष्टि का कतरा मन पर लालसा की छाप छोड़ जाता था।

पर ये अँधेरे क्षेत्र मन की सम्पूर्ण सत्ता के खुलने-खिलने के लिए तनिक भी अवकाश नहीं छोड़ते थे। अल्पकालिक सन्तुष्टि की वेदी पर विशालता की बलि चढ़ जाती थी। जो तात्कालिक है, वह विचार का समय है, और विचार कभी किसी गुत्थी को नहीं सुलझा सकता। निहायत टुच्ची-मशीनी बातों को छोड़कर। ध्यान मशीनी मामला नहीं है। वह कोई नाव नहीं है जो तुम्हें तुरन्त उस पार पहुँचा दे। वहाँ कोई किनारा नहीं होता; न कहीं पहुँचना। और ... प्रेम की ही तरह उसका कोई उद्देश्य, कोई सोचा-समझा स्वार्थ नहीं होता। वह एक अन्तहीन हलचल है, जो समय में भले चलती हो, परन्तु समय की सम्पत्ति नहीं है। समय का - यानी तत्काल का सारा क्रिया-कर्म दुःख की जन्मभूमि है ; उस पर कुछ भी नहीं उगता - सिवा दुःख-द्वन्द्व के। परन्तु ध्यान इस भूमि की भरपूर और गहरी चेतना है। और वह अपनी निर्विकल्प सत्ता में किसी चीज़ को जड़ नहीं पकड़ने देती - चाहे वह जितनी भी सुखद या दुःखद हो। ध्यान अनुभव की मृत्यु है। और ... तभी वह स्पष्टता आती है जिसकी स्वाधीनता 'देखने' में - यानी, विशुद्ध देखने में निहित होती है। ध्यान वह विलक्षण आनन्द है, जिसे किसी हाट में नहीं खरीदा जा सकता। उसका कोई गुरू या कोई शिष्य नहीं हो सकता। सारा गुरूत्व, सारी गुरूभक्ति और उसकी सारी चर्या को तुरन्त-तत्काल झर जाना होगा - जैसे एक पत्ती झर जाती है चुपचाप।

वह असीम - अप्रमेय वहाँ विद्यमान था - उस छोटी-सी जगह को - और ब्रह्माण्ड को आपूरित करता हुआ। वह ऐसे आविर्भूत हुआ जैसे एक समीर का झोंका नदी के ऊपर से गुज़रता हुआ आता है। पर, विचार उसे झेल नहीं सकता था। और, अतीत, या काल स्वयं उसकी माप लेने - करने में सर्वदा-सर्वथा अक्षम था।

६ जनवरी

नदी के पार धुँआ उठ रहा था - एक सीधे स्तम्भ की रचना करता हुआ। नित्य की सहज गतिविधि, जो आकाश में पहुँचकर विस्फोटित होती थी। हवा एकदम चुप-निःस्पन्द थी; नदी भी निस्तरंग। और पेड़ों की भी हर पत्ती निःस्पन्द। बस कुल जमा कुछ तोते ही इधर-उधर शोर करते उड़े जा रहे थें यहाँ तक, कि मछुआरे की नाव भी पानी को नहीं हिला पा रही थी। सभी कुछ विजड़ित हो गया लगता है - सिवा उस धूम्रवलय के। यद्यपि वह धूम्रवलय सीधा ऊपर को उठा जा रहा था, उसमें एक उल्लसित स्फूर्ति थी - और क्रियाशील स्वतन्त्रता। यह एक सुहावना दिन था - आकाश निरभ्र, ... और सहस्र शिशिरों के आलोक से परिपूर्ण, 'वह' हर पल तुम्हारे साथ था। एक दिव्य सुगन्ध की तरह वह नितान्त अप्रत्याशित जगहों में भी साथ रहा आया। वह ऐसा प्रकाश था, जिसकी कोई छाया नहीं पड़ती और, जो तुम्हारी हस्ती के हर कोने-अँतरे में रम गया था। तुम हर वस्तु के आर-पार देख रहे थे - दीवाल के उस तरफ के पेड़ों के आर पार, स्वयं तुम्हारी अपनी सत्ता के आर-पार। तुम्हारा 'स्व' उतना ही पारदर्शी था, जितना आकाश, और उतना ही खुला-विस्तीर्ण। चरम भावावेश! पर ऐसा,

जो कभी मुरझा या मर नहीं सकेगा। एक अपूर्व आलोक था वह, जो हर वस्तु को उघाड़े दे रहा था, हर वस्तु को वेध्य और वध्य बनाता हुआ, ... और जिसकी एकमात्र सुरक्षा थी - प्रेम। केवल, केवल प्रेम। तुम वह नहीं हो सकते थे जो तुम थे। तुम जलकर छार हो चुके थे। बिना राख का एक कण तक नहीं छोड़े। अपूर्व अप्रत्याशित रूप से सृष्टि में और कुछ था ही नहीं - सिवाय, सिवाय उस 'आलोक' के।

१२ जनवरी

एक छोटी-सी बालिका बाग में एक खम्भे के सहारे खड़ी। वह गन्दगी में लिथड़ी हुई थी, उसके बाल हफ़्तों से धुले नहीं थे। वे धूल से सने, बिना कंघी किये ; कपड़े फटे हुए थे और कब से नहीं धुले थे। उसकी गरदन के गिर्द एक लम्बा चीथड़ा लिपटा हुआ था और वह उन लोगों को देख रही थी, जो बरामदे में बैठे चाय पी रहे थे ; उसका यह देखना पूर्णतः उदासीन और विरक्त था; बिना किसी भाव के, बिना किसी कुतूहल या सोच-विचार के - उस दृश्य के बारे में, जो उसकी आँख सामने घट रहा था। उसकी आँखें यों ही उधर जमी थीं नीचे उस समूह पर। ... और वे तोते या बत्तखें, जो उसके इतने पास थे - वे भी उसका ध्यान बिलकुल नहीं खींच रहे थे। वह भूखी तो नहीं लग रही थी। शायद वह यहीं के नौकर-चाकरों में से किसी की बेटी थीं क्योंकि वह उस परिवेश से खासी परिचित लग रही थी। वह ऐसे, इस अंदाज में खड़ी थी, जैसे वह पूर्ण विकसित युवा महिला हो - आत्मविश्वास से भरी, और सारे दृश्य से अलग-थलग, एकाकी और विरक्त-सी। नदी और पेड़ों की पृष्ठभूमि में उसे देखते हुए तुम्हें एकाएक महसूस हुआ कि तुम उस चाय-पार्टी को नितान्त निर्भाव और निर्विचार मुद्रा में देख रहे हो- सब कुछ से उदासीन। और, ... जब वह वहाँ से निकल कर दूर उस नदी-किनारे खड़े वृक्ष के निकट पहुँची, तो तुम्हें लगा, यह तुम ही हो; वह नहीं। जो चले गये, वे भी तुम हो। जो बैठा है वहाँ सख्त खुरदरी जमीन पर, वह भी तुम हो। यह तुम हो, जिसने झुक कर वह सूखी टहनी उठायी और नदी-किनारे फेंक दी। यह तुम ही हो - वह अकेली, मुस्कानविहीन, सदा अवहेलित बालिका। तभी तुम उठे और घर के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगे। और ... क्या ही विचित्र और विस्मयकारी घटना! ... तुम ही वे बत्तखें थे, तुम ही वह गिलहरी थे, जो दौड़कर पेड़ पर जा चढ़ी थी अभी-अभी। और तुम ही वह बिना नहाया मैला-कुचैला शोफ़र हो, ... और वह नदी भी; ... जो बही जा रही है चुपचाप, उधर वहाँ। प्रेम दुःख नहीं है; न ही वह राग-द्वेष का बना है; किन्तु वह जोखिम भरा अवश्य है क्योंकि वह सब कुछ ढहा सकता है। वह उस हर चीज़ को नष्ट कर देता है जो मनुष्य ने अपने इर्द-गिर्द बना-जमा रक्खी है। सिवाय ईंटों को छोड़कर। प्रेम मन्दिर नहीं बना सकता; न सड़े-गले समाज को सुधार सकता है; वह कुछ नहीं कर सकता। हर कम्प्युटर, हर मशीन चीज़ों को बदल सकती है और मनुष्य के लिए फ़ुरसत पैदा कर सकती है, जो फ़ुरसत फिर एक नयी

समस्या पैदा कर देगी - पहले से ही इकट्टी समस्याओं में वृद्धि करती हुई। प्रेम में कोई समस्या नहीं है; और इसीलिये वह इतनी सर्व-संहारक और खतरनाक है। मनुष्य समस्याओं में ही जीता है, बिना उन्हें ओढ़े वह समझ ही नहीं पाता, क्या करे। इसी कारण उसकी समस्याओं का कोई अन्त नहीं होता। एक को सुलझाता है, तो दूसरी आकर खड़ी हो जाती है। मृत्यु, वृद्धावस्था, और व्याधियाँ ... और ऐसी समस्याओं का अम्बार, ... जिन्हें कोई संगणक नहीं हल कर सकता। यह वह विनाश नहीं है, जो प्रेम लाता है; न वह मृत्यु जो प्रेम ही लाता है। वह राख की ढेरी है - एक ऐसी आग से उपजी, जिसे आदमी बड़े जतन से बनाता है और तमाम सारी उसकी बनायी हुई स्वचालित मशीनें दिन-रात बेरोक चलती रहती हैं। प्रेम, मृत्यु और सृजन परस्पर अविच्छेद्य है। तुम एक को स्वीकारो और दूसरे को नकार दो - यह नामुमकिन है। तुम प्रेम को किसी हाट में या चर्च में नहीं खरीद सकते : वहाँ तो उसका मिलना और भी ज़्यादा कठिन है। परन्तु, यदि तुम यह रात-दिन की भाग-दौड़, आपा-धापी छोड़ दो - समस्याओं का रोना भी, - तो शायद वह, अकस्मात्-अयाचित ऐसे वक़्त प्रकट हो जाये, जब तुम कहीं और व्यस्त हो।

वही 'अज्ञात' है; और हर चीज़, जो तुम्हें 'ज्ञात' है उसे खुद को भस्म कर देना होगा - बिना राख तक छोड़े। तुम्हें अपना अतीत भी - वह चाहे समृद्ध हो, चाहे दरिद्र, - उसे भी उठाकर उसी तरह परे फेंक देना होगा जैसे उस लड़की ने वह टहनी उठाकर तट से दूर फेंक दी थी। 'ज्ञात' का भस्मीकरण ही 'अज्ञात' की क्रियाशीलता है। दूर कहीं बाँसुरी बज रही है - कुछ बेसुरी-सी, और, सूर्यास्त होने को है - एक बहुत बड़ा लाल गोला शहर की दीवालों के पीछे दिखायी दे रहा है। और, नदी का रंग धीमी आग जैसा है और सब दूर से पक्षी उड़े चले आ रहे हैं - रात्रि-विश्राम के लिए ....

१३ जनवरी

सूर्योदय होने ही वाला था और, हर पक्षी जगता प्रतीत हो रहा था .... उनके कलरव के ऊपर कव्वों की काँव-काँव अलग ही गूँजने लगी थी। वे बहुत सारे थे। उधर, तोतों ने भी अपना अलग ही सुर अलापना शुरू कर दिया। एक पत्ता भी नहीं हिल रहा था कहीं, ... और, नदी ... चाँदी जैसी चमक धारण करती हुई यहाँ से वहाँ तक फैली अपने दिगन्तव्यापी विस्तार और गहरायी में बही जा रही थी। रात्रि ने नदी के साथ कुछ कर दिया था। तभी तो वह कल की अपेक्षा आज कहीं अधिक सम्पन्न और समृद्ध लग रही थी - उस धरती से एकजान, - जिस पर वह प्रवहमान थी। उसमें ऐसी तीव्र-तेज़स्वी ऊर्जा थी जो अपनी पावनता में सर्वस्वहारी - सर्वसंहारी थी। उस पार का तट अभी सोया पड़ा था : वृक्ष और गेहूँ के दूर-दूर तक फैले खेत अभी भी शान्त और रहस्यमय लग रहे थे। दूर कहीं किसी मन्दिर की घण्टी बज रही थी - सिर्फ़ घण्टी ...; और कोई संगीत

नहीं। सब कुछ अब जगने की तैयारी में था। सूर्य वृक्षों के पत्तों पर पग धरते हुए आये और देखते-देखते उन्होंने नदी के आर-पार एक स्वर्णिम पथ निर्मित कर दिया। यह एक अनन्तरमणीय प्रातःकाल था और उसकी सुन्दरता अक्षुण्ण, टिकी रहने वाली थी। स्मृति में नहीं - स्मृति एक बहुत ही उथली चीज़ है; स्मृति एक मृत वस्तु है, स्मृति एक बहुत ही उथली चीज़ है; स्मृति एक मृत वस्तु है, स्मृति कभी भी सौन्दर्य या प्रेम को धारण नहीं कर सकती। वह उन्हें नष्ट कर देती है। वह निरी यान्त्रिक चीज़ है - बेशक, उपयोगी; परन्तु सौन्दर्य का स्मृति से कुछ भी लेना-देना नहीं। सौन्दर्य चिर नूतन होता है : पर उस नूतन का पुरातन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जो कि कालबद्ध चीज़ है।

१४ जनवरी

चन्द्रमा अभी किशोर ही था। फिर भी छायाएँ उत्पन्न करने लायक काफ़ी उजाला था उसका। बहुत सारी छायाएँ थी और वे बिलकुल शान्त-निश्चल पड़ी हुई थीं। उस तंग रास्ते के इर्द-गिर्द हर छाया दूसरी छाया से बतिया रही थी। हर इमली, हर आम अब रात्रि-विश्राम की प्रतीक्षा में थे एक छोटा-सा उलूक टेलीग्राम के तार पर बैठा था और जैसे ही तुम उस के पास पहुँचे, वह चुपचाप पंख पसार कर अन्तर्धान हो गया। ग्वाले शहर में दूध पहुँचाने के बाद अपनी साइकिल खड़खड़ाते हुए वापस लौट रहे थे। वे अपने साथियों से बतियाते जा रहे थे ज़ोर-ज़ोर से। पर उनके शोर के बावजूद खुले देहात का मौन और आकाश की विशालता निर्विघ्न थी। उस शाम कुछ भी, कोई भी चीज़ उस विशाल मौन को विघ्न नहीं पहुँचा सकती थी। यहाँ तक कि मालगाड़ी तक - जो लोहे के पुल को पार कर रही थी। हरे-भरे खेतों से होकर एक पगडण्डी जाती है और ... जब तुम उस पर चल रहे थे, - सारे मानवी चेहरों और आँसुओं से दूर ..., अचानक तुम चौकन्ने हो गये - तुम्हें लगा, तुम्हें कुछ हो रहा है। तुम्हें पता है, यह कोई कल्पना नहीं है, न ही कोई स्मृति विगत के किसी खट्टे-मीठे अनुभव की। तुम्हें पता है यह उनमें से कुछ भी नहीं है। तुम इन शंकाओं से भी खूब परिचित हो। उन्हें परे धकेलते हुए तुम उसके प्रति चैतन्य हो गये जो तुम्हारे भीतर घट रहा है। वह वहाँ साक्षात् उपस्थित है - धरती-आकाश और उनकी हर वस्तु को भरता हुआ। तुम और वह छोटा-सा ग्रामवासी-जो चुपचाप एक शब्द तक उचारे बिना तुम्हारी बगल से गुज़र गया - दोनों उसी उपस्थिति से बने हो, उसी के हो। उस अकाल-बेला में वहाँ केवल वह 'विशाल' विद्यमान है। सारी ध्यानलग्न संवेदनशीलता भी चुक गयी - केवल वह, केवलमात्र वह अविश्वसनीय पावनता ही वहाँ शेष है। वह महाशक्ति ही पावनता है - सर्वथा अभेद्य और अगम्य। परन्तु ... वह वहाँ विद्यमान है। सब कुछ निः स्पन्द, ठहरा हुआ है। कहीं कोई हलचल नहीं। और रेल की सीटी तक उस निःस्तब्धता में डूब गयी है। वह तुम्हारे साथ चलती रही जब तक तुम वापस अपने कमरे के एकान्त में प्रविष्ट नहीं हो गये, और, वह वहाँ भी तुम्हारे साथ रही आयी है क्योंकि उसने कभी तुम्हें छोड़ा ही नहीं था।

१६ जनवरी

बुरी तरह लदे-फँदे ऊँट के साथ हमने उस छोटी-सी नदी पर बने नये पुल को पार किया। उस बूढ़े-चरमराते पुल की जगह अब यह नया पुल बन गया था। खासा मज़बूत, ... और ऊँट को भी उस पर चलने में कोई ऐतराज नहीं हुआ। हम सब पुल पर से नदी पार किये और ... कई सारे ग्रामवासी नीचे से। खासा धूल-भरा रास्ता था, जिस पर ऊँट के पैरों की तगड़ी छाप पड़ी। ऊँट पर अनाज के भारी-भारी बोरे लदे हुए थे और उसे इससे ज़्यादा तेज़ नहीं चलाया जा सकता था - हालाँकि ऊँट का मालिक ऊँट के साथ खासी जबर्दस्ती करता रहा था। एक रास्ता और है जो दाँयी तरफ मुड़ जाता है - पीली सरसों और फूली हुई मटर, और घने गेहूँ के खेतों को पार करता हुआ। यह रास्ता ज़्यादा चलन में नहीं है, इसलिए उस पर टहलना बहुत अच्छा लगता है। सरसों में हल्की-सी गन्ध थी, मटर में उससे तेज़ ... और गेहूँ की बालियाँ, जो अभी एकदम नयी ही आयी थीं - उनकी भी अपनी गन्ध थी, और इन तीनों गन्धों का मिश्रण शाम की हवा को सुवासित किये था। बड़ी सुहावनी शाम थी। लग रहा था जैसे हम देश या काल में नहीं हैं - कहीं अन्यत्र हैं, जिसे मापा नहीं जा सकता। इक्का-दुक्का ग्रामीण ही कभी रास्ते में मिला होगा। तुम बहुत दूर चले गये थे किसी अज्ञात विश्व में - जिसका कोई रिश्ता हमारे 'ज्ञात' विश्व के साथ नहीं प्रतीत होता था। यह कोई वैसी वस्तु नहीं, जिसका अनुभव किया जा सके। सारा ही अनुभव 'ज्ञात' के क्षेत्र से ही बँधा होता है। तुम बहुत दूर चले गये थे, परन्तु वे वृक्ष, वे पीले सरसों के फूल, गेहूँ की बालियाँ इतने पास अपने थे - तुम्हारे विचारों से भी ज़्यादा पास, ... और अविश्वसनीय रूप से जीवन्त! मृत्यु, सृजन और प्रेम वहाँ थे, और तुम उसका एक अंश ... । वे अलग नहीं थे एक दूसरे से। वे अविच्छेद्य थे - परस्पर सम्बद्ध। और यह रिश्ता शब्द और कर्म का रिश्ता नहीं था। वृक्ष, अग्नि और आँसू सच्चे थे - अनिवार्य तथ्य। किन्तु वे ज्ञात के क्षेत्र की गतिविधियाँ थीं। पर, तुम्हें बहुत दूर जाना है, और ... फिर भी, बहुत पास रहना है।

बाइसिकिल पर सवार व्यक्ति गा रहा था। दूध के खाली कनस्तर जो साइकिल में उसके पीछे बँधे थे - खड़खड़ा रहे थे। वह किसी से बात करने को उत्सुक था ... और बगल से गुज़रते हुए उसने हिचकिचाते हुए कुछ कहा ... और फिर अपने रास्ते चला गया। चन्द्रमा ऊपर आ गया था - रात की गन्ध गहराने लगी थी। ... और, सड़क के मोड़ के पार ही नदी थी। वह जगमगा रही थी मानो उसके भीतर हज़ारों मोमबत्तियाँ जल रही हों। छोटी-सी नदी भी नक्षत्रों से डबाडब भरी थी।

२० जनवरी

उषःकाल अभी दूर था, आसमान तारों से जगमग ...। नदी पर हल्का कोहरा था, और उस पार का तट थोड़ा-थोड़ा दिखने लगा था। रेल धड़धड़ाती हुई पुल पार कर रही थी - वह मालगाड़ी थी। उस विशाल नीरवता

ने उस शोर को भी सोख लिया। कुछ भी उस नीरवता को भंग नहीं कर सकता था, जो वहाँ व्याप्त थी। वह एक अभेद्य सन्नाटा था। पेड़ घने अँधेरे में नींद में डूबे हुए थे। अभी ध्यान इस सब की चेतना से, ... और उस चेतना के भी अतिक्रमण से - स्वयं काल के भी अतिक्रमण से जुड़ा था। काल की गतिविधि ही विचार है जो कभी भी काल से स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उषा के अवतरण का संकेत मिल चुका था - नक्षत्र अपनी चमक उत्तरोत्तर खो रहे थे और सुबह होने ही वाली थी। फिर भी वह विशाल नीरवता अभी यथावत् कायम थी और... वह सदैव वहाँ बनी रहेगी- पक्षियों के कलरव और मनुष्य द्वारा उपजाये गये सारे तुमुल कोलाहल कलह के बावजूद..।

२१ जनवरी

शिशिर अपने चरम पर था। हड्डियों को ठिठुरा देने वाली ठण्ड में निर्धन दीन-हीन लोगों की दुर्दशा की कोई सीमा नहीं थी। एक ओर जनसंख्या का विस्फोट। दूसरी ओर ठण्ड से मरते लोग। रोज़ का दृश्य है यह, इन काँपती-ठिठुरती मानव-मूर्तियों का। चिथड़ों में लिपटे मनुष्य! ओढ़ने को कुछ भी नहीं उनके पास। एक वृद्धा सिर से पाँव तक ठण्ड से काँप रही - अपने घुटनों को बाँहों से घेरे ... । दाँत बज रहे थे उसके मारे ठण्ड के। जमुना किनारे एक युवती फटा चीथड़ा धो रही थी और वहीं उसके पास एक बूढ़ा बुरी तरह खाँस रहा था। बेहाल था वह खाँसी से, और बुरी तरह हाँफ़ रहा था। रोज सुनायी देता था आज इतने लोग ठण्ड से मर गये। ... लाल गुलाब और पीली पैंजी अपने रंगों में दमक रहे थे - पूरा बगीचा रंगों में सराबोर था। रंग ही ईश्वर था और ठण्ड ईश्वर की भी पहुँच से बाहर। ठण्ड भी सर्वव्यापी थी और रंग भी और तुम दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते थे। आसमान हल्का नीला था - एक वर्षाहीन शीतऋतु का नीलापन। किन्तु वह नीला सब रंगों का नीलापन था। तुम उसे देखते थे और एकजान हो जाते थे उससे। नगर के सारे कोलाहल मद्धिम पड़ जाते थे किन्तु रंग अपनी अविनश्वरता में कायम रहे आते थे।

दुःख को भी सम्भ्रान्त बना डाला है आदमी ने। हज़ारों व्याख्याएँ कर डाली हैं उसकी। दुःख को मानवीय गुणवत्ता और सम्बोधि के माध्यम की तरह प्रतिष्ठित कर दिया गया है। सर्वत्र उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की जाती है, या उससे पलायन के नुस्खे बताये जाते हैं। किन्तु दुःख की जड़ें आत्मपीड़न-आत्मदया में होती हैं - अपनी अन्तहीन स्मृतियों के साथ। बीते हुए कल की मृत चीज़ों के बीच। पर यह बीता हुआ कल हमेशा महत्वपूर्ण हो जाता है। इसी की यन्त्रचर्या जीवन को अर्थ देती प्रतीत होती है : इसलिए, कि वह 'ज्ञात' की समृद्धि है, जानी-पहचानी चीज़ों की दौलत है। विचार मात्र का उत्स इसी बीते हुए कल में है। ये बीते हुए कल ही मनुष्य के दुख भरे जीवन को अर्थ देते लगते हैं। जब तक मनुष्य अपने मन को इस बीते हुए कल से, उसे झाड़-पोंछकर उससे मुक्त नहीं होता, दुःख का अन्त नहीं होगा। उसे तुम विचार से नहीं धो सकते क्योंकि विचार बीते हुए

कल की ही पुनरावृत्ति या निरन्तरता है। सारे विचारों, अवधारणाओं, आदर्शों का भी कुलकुलान निचोड़ यही है। केवल इस सारी प्रक्रिया की आत्मालोचनात्मक सचेतनता ही मानव-मन को दुःख से मुक्ति दिला सकती है। इस जटिल 'तथ्य' को बिना फैसले के, बिना रायजनी के देख पाना ही दुःख का अन्त कर सकता है। सब बातों का सारांश यही कि 'ज्ञात' का अन्त होना चाहिए अनायास। तभी अज्ञात की सत्ता उसकी जगह ले सकती है।

२२ जनवरी

उसने अपने व्यक्तित्व को खूब चमका रक्खा था। वह दर्पण में अपनी प्रतिच्छवि को निहार कर उसे चौकस चुस्त बनाये रखती थी। उसके कई बच्चे थे और उसके बाल भी सफ़ेद हो चले थे। उसके पास पैसा था और एक सुरूचिपूर्ण शालीनता और आभिजात्य भी। उसकी कार भी उसी की तरह चकाचक और चमाचम थी। बड़ी दक्षता के साथ, सड़कों के सारे मोड़ खूबसूरती से पार करते हुए, ... अपनी रफ़्तार कायम रखते हुए वह गन्तव्य तक पहुँचती थी। यह बेहतरीन सुरक्षा और व्यवस्था उसके दैनिक जीवन की, उसका आत्मविश्वास बनाए रखती थी। वह एक ठण्डी सुबह थी; जो थोड़ा-सा कुहरा छाया हुआ था, वह सूर्योदय के साथ ही बिला चुका था। सब कुछ अपनी जगह शालीनता के साथ कायम था।

मनुष्य का मस्तिष्क सदा-सर्वदा किसी न किसी काम में व्यस्त, उलझा रहता है। वह चाहे जितना सतही और ऊपर से देखने पर चाहे जितना महत्त्वपूर्ण लगता हो, बन्दर की तरह वह हमेशा चंचल और अस्थिर ही रहता आता है। एक डाल से दूसरी डाल पर कूदता-फाँदता .... वह चकर-चकर करता रहता है। रिक्त होना, ... पूरी तरह खाली कर देना अपने मन को, इस मर्कट-क्रीड़ा से - किस कदर डरावनी चीज़ है - जैसी कि हम उसे समझते हैं। पर वह पूर्णतः अनिवार्य है - मन के लिए - अपने को असंलग्न रखना, खाली कर देना! क्योंकि, तभी तो वह 'अज्ञात' गहराइयों में प्रवेश करने में समर्थ हो सकता है। मानवजीव की अधिकतर व्यस्तताएँ, अधिकतर क्रियाएँ एकदम सतही होती हैं। एक विषयासक्त और दलदल में फँसा हुआ मन कभी भी अपनी ही गहरायी में प्रविष्ट नहीं हो सकता; अपने ही अपरिचित-अनभ्यस्त प्रदेशों में नहीं विचर सकता। यह खालीपन-यह उलझाव रहित खालीपन ही मस्तिष्क को अवकाश (स्पेस) प्रदान करता है - और, इस अवकाश में काल प्रवेश नहीं कर सकता। इसी खालीपन, इसी असली आत्म-वान् शून्य में से ही सच्चा सृजन सम्भव होता है, जिसकी लगन, जिसका प्रेम ही मृत्यु है।

२३ जनवरी

पेड़ नंगे हो चुके थे - हर पत्ता झर चुका था। यहाँ तक, कि नाजुक टहनियाँ तक टूट और बिखर रहीं थीं। शीत उनकी सहनशक्ति से ज़्यादा, बहुत ज़्यादा भारी पड़ रहा था। कुछ दूसरे पेड़ भी थे, जिनकी पत्तियाँ

अभी झरी नहीं थीं। तो भी, उनकी हरियाली टिक नहीं पा रही थी। कुछ तो उनमें से भूरी पड़ चुकी थीं। यह एक असाधारण और अभूतपूर्व ढंग से शीतग्रस्त शिशिर ऋतु थी। हिमालय की निचली पर्वतश्रेणियों पर भारी हिमपात हुआ था। कई-कई फुट मोटी बर्फ़ जम चुकी थी उन पर और कुछ ही मील दूर, नीचे मैदानों पर उसकी ठिठुरन व्याप चुकी थी। हर जगह धरती पर पाला पड़ चुका था और फूलों का खिलना ही बन्द हो गया था। थोड़े से, गिनती के गुलाब ही बचे थे जिनका रंग उस छोटे से बगीचे में अभी भी खिला हुआ था। और, पीले पैंजी फूलों का भी। किन्तु सड़कों पर, सार्वजनिक स्थानों पर फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटे लोग ही सिर अैर मुँह ढाँपे हुए दिखायी पड़ते थे। उनमें अधिकतर तो रोजाना मज़दूरी करने वाले ही होते, परन्तु शाम को जब दिनभर के कठोर श्रम के उपरान्त वे लौट रहे होते अपने घरों की - घर क्या, झुग्गी-झोपड़ों की ओर, तो वे हँसते-बतियाते आपस में एक दूसरे को छेड़ते-गुदगुदाते होते। ये वे मानव-जीव थे, जो बड़ी-बड़ी इमारतें और कार्यालय निर्माण करते हैं -जहाँ वे न तो कभी रहेंगे, न जहाँ कभी उन्हें काम करने का मौका नसीब होगा। सारे संभ्रान्त लोग अपनी आलीशान कारों में सवार होकर वहाँ जाते हैं और ये सर्वहारा लोग उन पर - यानी अपनी ही बनायी इमारतों पर एक नज़र तक नहीं डालते। सूरज ऐसी ही किसी आलीशान इमारत के पीछे डूब रहा था। अलग-अलग देशों के झण्डे जो लगे थे वहाँ, बिलकुल भी नहीं हिल रहे थे - हवा इस कदर ठहरी हुई, ... स्तम्भित थी; और, पूरे दिन कोहरा जमा रहा था। वे झण्डे भी थक गये थे। वे थे क्या आखिरकार? रंगीन चिथड़े ही न? मगर क्या आन-बान-शान थी उनकी? .... कुछ कव्वे एक गड्ढे के पास इकट्ठा हो गये थे पानी पीने। आसमान धीरे-धीरे धुँधला रहा था - रात के लिए प्रस्तुत हो रहा था।

हर विचार, हर भाव बिला गया था और मस्तिष्क पूर्णतः निश्चेष्ट हो चुका था। आधीरात के भी बाद की घड़ी रही होगी यह; और, कहीं कोई आवाज़ नहीं। कड़ाके की सरदी थी, और चाँदनी एक खिड़की से छनके कमरे के भीतर आ रही थी : सामने की दीवार पर उसने एक छायाकृति बुन दी थी। मस्तिष्क पूरी तरह सचेत था : बगैर किसी प्रतिक्रिया के सब कुछ को देखता ...। एक भी हरकत नहीं थी उसकी, अपनी ओर से - वह केवल मात्र साक्षी था। किन्तु संवेदनहीन नहीं; न ही स्मृति की गिरफ़्त में कदापि ...। और ... अकस्मात् वह अगम-अज्ञेय ... वह 'विशाल' अवतरित हुआ - न केवल कमरे में, तथा कमरे के बाहर भी, बल्कि, एकदम गहरे - अतलान्त गहरे में भी - उन प्रदेशों में - जो कभी मन की, मानस की गहरायी थी। विचार का सीमान्त होता है - जो हर तरह की प्रतिक्रियाओं से निर्मित होता है और हर उद्देश्य, हर कामना उसे आकार देती है - जैसा कि हर भावावेग के साथ होता है। सारा का सारा अनुभव-अनुभव मात्र अतीत से जुड़ा होता है और सारी अवगति, सारा भान 'ज्ञात' विश्व से। किन्तु उस विराट् ने कोई छाप नहीं छोड़ी। वह वहाँ साक्षात् विद्यमान था - सुस्पष्ट, शक्तिशाली, अभेद्य और अगम्य, जिसकी तीव्रता ही वह 'अग्नि' थी, जो कोई राख नहीं छोड़ती। वह अपने साथ चरम आनन्दानुभूति भी लेकर आया था, और .... उसने भी कोई स्मृति नहीं छोड़ी। क्योंकि

उसको अनुभव करने वाला दिमाग ही बिला चुका था। वह सहज ही वहाँ था - अवतरित होने और फिर अन्तर्धान हो जाने के लिए; पर, उसका अनुसरण नहीं किया जा सकता था; न ही, आवाहन।

अतीत और अज्ञात अज्ञेय किसी भी बिन्दु पर नहीं मिलते। वे कैसी भी चेष्टा और कर्म से साथ नहीं लाये जा सकते। कोई ऐसा सेतु भी नहीं, जिसे पार करके उस तक पहुँच सकें : कोई ऐसी राह नहीं, जो वहाँ ले जा सके। ये दो सत्ताएँ कभी नहीं मिली हैं आपस में; और कभी नहीं मिलेंगी। अतीत को उस 'अज्ञात' सत्ता के प्रति पूर्णतः समर्पित और निःशेष हो जाना होता है - ताकि उसका आविर्भाव हो सके।

और ... अन्त में

अनुवादक की ओर से

जे. कृष्णमूर्ति (१८९५-१९८६) अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में अपने पाठकों-प्रशंसकों के लिए पूरे पारदर्शी खुलेपन के बावजूद एक पहेली बने रहे हैं। एक ओर वे हमारे इस 'खूंखार-सिनिक संशयवादी' युग में बुद्ध की 'महाकरूणा' के अवतार और प्रत्यक्ष वस्तु-पाठ सरीखे लगते रहे हैं, और दूसरी ओर हम सामान्य मानव जीवों को रास आने वाले सारे परम्परागत आदर्शों को प्रश्नांकित करते हुए, बल्कि उन्हे निर्ममतापूर्वक नकारते हुए वे हमें मानो एक बियाबान में पटक देते प्रतीत होते हैं। हमारी असाध्य व्याधियों का उनका सुझाया उपचार टी.एस. एलियट के 'दि शार्प कम्पैशन ऑफ द हीलर्स नाइफ़' की तरह एक ओर हमें रामबाण की तरह लुभाता और आश्वस्त करता प्रतीत होता है, और दूसरी ओर अपनी आत्यन्तिक और अभूतपूर्व रहस्यमयता में स्वयं हमारी व्याधि से भी अधिक दुर्गम-दुस्साध्य लगने लगता है। उनके कथनानुसार आज की तारीख में जो मानव-निर्मित प्रलयकाल सरीखी विपदाएँ हमारे सामने मुँह बाये खड़ी हैं - चाहे सभ्यताओं के असमाधेय संघर्ष की; चाहे स्वयं मानवीय जीवन-चर्या के एक विश्वव्यापी यन्त्रचर्या द्वारा पूरी तरह विस्थापित-उन्मूलित हो जाने की; चाहे, पर्यावरण के अन्तहीन प्रदूषण की, चाहे सारी मजहबी और विचारधारायी मान्यताओं और मतवादों के पूरी तरह निरर्थक-अप्रांसगिक हो जाने की इन सारी विडम्बनाओं से उबरने का और कोई उपाय नहीं बचा है - सिवाय स्वयं इस मानवीय चेतना नाम की चीज के ही आमूलचूल रूपान्तरण के। यह रूपान्तरण या 'म्यूटेशन' (कृष्णमूर्ति का प्रिय शब्द) ही इस सामूहिक आत्मघात से, निस्सारता के इस सर्वग्रासी आतंक से हमें उबार सकता है। मानव जाति से कृष्णमूर्ति की यह माँग कइयों को एक असम्भव माँग लग सकती है। श्री अरविन्द की तरह वे इसे 'इवोल्यूशन' से भी नहीं जोड़ते। उनका कहना है, कि विकासवादी विकास जितना हो सकता था, हो चुका; अब मनुष्य को विकास नहीं, आमूलचूल रूपान्तरण-अर्थात् 'म्युटेशन' चाहिए। कैसा क्या होगा यह म्यूटेशन? क्या श्री अरविन्द के 'अतिमानस का अवतरण' जैसा? लगता नहीं- क्योंकि कृष्णमूर्ति के दर्शन में इस तरह के यूटोपियन

विचारों या विश्वासों के, यहाँ तक कि अनुभवों तक के, लिए बिलकुल भी गुंजाइश नहीं दीखती। उनकी दृष्टि में यह सब आत्मछलना है, भ्रान्ति है। तब फिर सवाल उठता है कि उनको अभीष्ट रूपान्तरण या 'म्युटेशन' का आधार क्या है? क्या वैसा कुछ उनके अपने जीवनानुभव में घटित हुआ है।

परन्तु कृष्णमूर्ति कहीं भी अपने 'अनुभवों' का हवाला नहीं देते। उनके लिए 'विचार' की तरह 'अनुभव' भी संदिग्ध चीज़ों की ही कोटि में आता है। वे अकेले ऐसे दार्शनिक हैं, जो 'सत्य' की बजाय 'तथ्य' पर ही एकाग्र होने की ज़रूरत को हर कहीं और हर सन्दर्भ में रेखांकित करते हैं। वे हमें हर तरह के बुद्धिजीवियों को-उनमें भी वैज्ञानिकों और धर्माचार्यों को-विशेष रूप से, लगातार बहस के लिए आमन्त्रित करते हैं। इतना ही नहीं, वे उनकी श्रद्धा और बौद्धिक सराहना से भी संतुष्ट नहीं होते : उल्टे, अपनी तथ्याग्रही टेक के चलते वे कभी-कभी उसे भी जोखम में डालने से नहीं हिचकते। उनके लिए हिंसा (वायलेंस) ही तथ्य है, 'अहिंसा' नहीं। हालांकि श्री अरविन्द का उल्लेख भी उनके यहाँ कहीं नहीं दीखता, परन्तु, जिस तरह महात्मा गांधी की 'अहिंसा' उनके लिए अप्रासंगिक ठहरती है, उसी तरह, हमें लगता है, कि श्री अरविन्द का 'पूर्णयोग' नामक दर्शन भी उन्हें 'म्युटेशन' की उनकी अपनी माँग के अनुसार कदापि स्वीकार्य नहीं लगता। तब फिर उनकी माँग का और उनकी आस्था का औचित्य और प्रेरणास्रोत कहाँ है, क्या है-हमारी यह प्रश्नाकुलता स्वयं उन्हें भले ही व्यर्थ और अप्रासंगिक लगे, हमें कैसे लगेगी? हमारी हालत तो बकौल तुलसीदास, लगभग वैसी ही रही आती है जैसी गरूड़ के सामने कागभुशुण्डि की? ... 'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता' ....। तब फिर हम इस संशय का, इस निस्सहाय अकेलेपन की यन्त्रणा का क्या करें जिसमें यह हमारे आधुनिक ऋषि हमें बारम्बार झोंक देते हैं और कहीं किसी आसान सहारे की गुंजाइश ही नहीं रहने देते? 'गुरू' सम्बोधन से भी उन्हें घोर वितृष्णा है : परम्परागत धर्मगुरूओं से ही नहीं, पाश्चात्य जगत् में धूम मचा देने वाले महेश योगी सरीखे गुरू और उनका ट्रांसेंडेंटल मैडिटेशन भी उनकी दृष्टि में नितान्त हास्यास्पद और निरर्थक ही ठहरते हैं। 'ध्यान' यानी 'मैडिटेशन' कृष्णमूर्ति के यहाँ महत्वपूर्ण है, पर यह वह ध्यान नहीं जिसके बारे में सुनने के हम अभ्यस्त हैं।

तो फिर वह क्या है? 'क्वेश्वनिंग कृष्णमूर्ति' नाम की बड़ी रोचक संवादों की पुस्तक में एक संवाद प्रख्यात बौद्ध ध्यान-गुरू छोग्याम ट्रंग्पा रिनपोछे के साथ भी शामिल है जिसका शीर्षक ही है 'ध्यान क्या है?' कृष्णमूर्ति के लिए ध्यान परम्परागत अभ्यास और वैराग्य वाला ध्यान नहीं है। वह निस्संग-निर्वैयक्तिक अन्तरावलोकन यानी 'ऑब्जर्वेशन' है। कृष्णमूर्ति के लिए सारी समस्याओं की समस्या मानव-जीवन में सर्वत्र व्याप्त अव्यवस्था, संघर्ष और द्वन्द्व की है, और इस द्वन्द्व की जड़ है - 'मैं'। वे प्रश्न उठाते हैं कि क्या बिना इस 'मैं' को बीच में लाये यह आत्मावलोकन या आत्मनिरीक्षण सम्भव है? पारम्परिक ध्यान-योगी तो यही कहेगा कि 'नहीं है,' क्योंकि 'मैं' तो रहेगा ही। यानी इस 'मैं' से छुटकारा पाने के लिए भी अभ्यास आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसका मतलब क्या निकला? 'मैं' से पीछा छुड़ाने का अभ्यास 'मैं' पर ही तो बल देना हुआ। तो फिर कैसी उलटबाँसी

है यह? अभ्यास द्वारा ही अभ्यास पर विजय पाने की लालसा। तब फिर यह एक दुश्चक्र में फँसना ही नहीं, तो और क्या है? कृष्णमूर्ति साफ़ कहते हैं यहाँ, कि यह 'मैं' को ही, यानी 'अहं' को ही सूक्ष्म ढंग से पालना-पोसना है : उसे ईश्वर के यानी परम आत्मा के समकक्ष बिठा देना है - जो कि निहायत वाहियात बात है। कृष्णमूर्ति यहाँ 'एब्सर्डिटी' शब्द का इस्तेमाल करते हैं। कहते हैं- 'इस प्रकार परम्परागत ध्यान 'पद्धति' या प्रक्रिया' साधक मनुष्य को उसके अतीत के ही पिंजरे में क़ैद किये रखती है - व्यक्तिगत 'अनुभव' के माध्यम से उसे-यानी उसके व्यक्तित्व को ही यानी अहंभाव को ही महिमा-मण्डित करती हुई। परन्तु, कृष्णमूर्ति यहाँ पूरे ज़ोर से अपनी इस मूल प्रतीति को दोहराते हैं कि .... 'यथार्थ कोई व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है। तुम समुद्र की विशलता को व्यक्तिगत रूप से अनुभव नहीं कर सकते। वह वहाँ विद्यमान है, ताकि तुम उसे देख सको। परन्तु वह तुम्हारा समुद्र कदापि नहीं है।'

तो क्या यह सम्भव है- 'मैं' को बीच में लाये बिना मनुष्य-जीवन की घनघोर अराजकता को देख पाना? बिना इस 'मेरा-तुम्हारा' वाले विभाजन के? यह विभाजन ही कृष्णमूर्ति के लिए सारे संघर्ष और द्वन्द्व का मूल है। इस संघर्ष और द्वन्द्व को मिटाये बिना कुछ नहीं हो सकता - कोई सार्थक रूपान्तरण जीवन का घटित नहीं हो सकता। वह द्वन्द्व तभी खत्म होगा जब मनुष्य को 'मैं' के बिना ही जीवन-जगत् को देखना - उसका 'अवलोकन' करना आ जाएगा।

कृष्णमूर्ति आगे कहते हैं- 'हम मानव जीवों के साथ सबसे बड़ी दिक्कत - दिक्कत क्या, त्रासदी - यह है कि हम कभी भी किसी वृक्ष को, या किसी पक्षी को बिना इस तरह के विभाजन और पृथक्करण के देख ही नहीं पाते। और, चूँकि हमने कभी किसी वृक्ष या पक्षी को समग्रतः नही देखा, इसलिए हम स्वयं अपने को भी समग्रतः नहीं देख पाते।' उस घोर अव्यवस्था के संत्रास को हम देख ही नहीं पाते जिसमें हम अहर्निश जीते चले जाते हैं। क्यों? इसलिए, कि हमारे भीतर यह मिथ्या धारणा जड़ पकड़े हुए है कि हमारा ही एक अंश पूर्णतः व्यवस्थित है जो इस अव्यवस्था को देखने और दूर करने में समर्थ है। हम उस अंश को 'आत्मा' या 'उच्चतर' 'स्व' का नाम देते हैं। फिर उसी के बूते ईश्वर का, तमाम देवी-देवताओं और उनके ऊपर एक परमात्मा का भी आविष्कार कर लेते हैं और उससे यह प्रार्थना और अपेक्षा करते हैं कि वह सारी अव्यवस्था को व्यवस्था में बदल देगा। जबकि दुर्दान्त सच्चाई या तथ्य यह है कि जहाँ 'मैं' है, वहाँ अराजक अव्यवस्था और अनर्थ होना अवश्यम्भावी है: क्योंकि यदि 'मैं' इस जगत् को यानी अन्तर्जगत्-बर्हिजगत् दोनों को 'मैं' के माध्यम से ही देख रहा है तो इसमें विभाजन ही नहीं, संघर्ष भी अनिवार्य है। और, इस तरह तो मनुष्य के कष्टों का कभी कोई अन्त ही नहीं होगा। कृष्णमूर्ति के शब्दों में 'इस यथार्थ को, तथ्य को समग्रता में देख पाना ही असली ध्यान है। यह ध्यान अभ्यास नहीं माँगता। तुम्हें सिर्फ इतना ही करना है कि तुम्हारे भीतर-बाहर जो कुछ भी घट रहा है आठों याम-उसके प्रति तुम पूर्णतया चेतन और जागरूक हो जाओ।'

कृष्णमूर्ति की यह माँग - यह अन्तर्दृष्टि पहली बार तभी समझ में आयी, जब इस नोटबुक में दर्ज उनके दैनिक अन्तरावलोकनों से गुज़रना हुआ। उनके जीवनव्यापी चिन्तन, संवाद और शिक्षण का स्रोत क्या है, कहाँ है, इसका भी कुछ आभास हुआ। स्वयं कृष्णमूर्ति कहीं भी अपनी इस 'नोट बुक' का बखान तो क्या, उल्लेख तक नहीं करते। उनके जीवन-दर्शन में व्यक्ति को, व्यक्तित्व को, यहाँ तक कि 'अनुभव' जिसे कहा जाता है, उस तक को कोई महत्व नहीं दिया गया है। क्यों नहीं दिया गया - यह उनकी ऊपर कही गयी बातों से पता चलता है। पर उसकी पृष्ठभूमि और असली मर्म तो इस नोटबुक में दर्ज दैनिक घटना-क्रम से उजागर होता है, जो बारम्बार दुहरायी जाकर भी इन पृष्ठों में नित्य-नूतन यथार्थ की तरह प्रगट होती हैं। वे विचार नहीं, घटनाएँ हैं, तथ्य हैं। 'सार', 'सौन्दर्य' और 'सृजन' ये तीन शब्द उनके यहाँ कैसे और क्यों महत्वपूर्ण हो जाते हैं, यह भी इस घटना-क्रम के विवरणों से यानी तथ्यों से ही उजागर होता है। यहाँ जो दैनिक आविर्भाव होता है उस वस्तु का, उस घटना का, जिसे वे कभी 'विशाल' कभी 'आशीर्वाद' या 'कृपा', और कभी 'अन्य' और कभी 'ममेतर' का नाम देते हैं, उसी से हमें लग उठता है कि कृष्णमूर्ति की जीवनानुभूति और मूल्य-चेतना का स्रोत और सार इसी में निहित है। पहली बार लगता है कि हम यहाँ एक असंदिग्ध आधार और टिकाव पा सकते हैं - जहाँ 'चेतना का रूपान्तरण' कोई सुदूर अलौकिक रहस्यानुभूति या अनुकरणीय आदर्श नहीं, बल्कि एक ज्वलन्त-जीवन्त तथ्य की तरह यानी आध्यात्मिक यथार्थ की तरह हमारे सिर पर चढ़कर बोलता है। पर आध्यात्मिक या धार्मिक उसे न भी कहें तो भी उसकी गुणवत्ता, सारमत्ता में कोई फर्क नहीं पड़ता। तो, क्या वह घटना-क्रम, जिसे कृष्णमूर्ति 'प्रोसेस' का नाम देते हैं, और क्या वह दैनिक चमत्कारिक 'तथ्य' जिसे वे कहीं 'बेनेडिक्शन' और कहीं 'दि अदर; या 'विशाल' कहके पुकारते हैं, वही है वह सिद्धि, जिसके लिए 'सिद्धि' नाम भी न केवल छोटा बल्कि अनर्गल प्रतीत होने लगता है। मगर जो हमारे भी सिर पर चढ़के बोलती है और सारी तथाकथित जानी-मानी सिद्धियों को तुच्छ और निस्सार करार देने के बाद भी अपने में अक्षत-अनाहत बनी रहती है। क्योंकि उसकी भरपूर कीमत चुकायी गयी है। भले, निर्वैयक्तिकता के पक्षधर और नम्रता को सर्वाधिक बुनियादी गुण मानने वाले कृष्णमूर्ति के लिए चेतना के जोखम या 'एडवेंचर' सरीखी उक्तियों का कोई अर्थ न हो, इस 'नोटबुक' का जो पहला प्रभाव किसी भी संवेदनशील पाठक पर पड़ता है, वह ऐसे गहरे जोखम और एडवेंचर का ही पड़ता है। कृष्णमूर्ति के समस्त कृतित्व में इस 'नोटबुक' का अपना एक विलक्षण स्थान इसलिए भी तो है ही, कि वह हमें स्वयं उनकी चेतना के रूपान्तरण को स्वायत्त करने के लिए प्रामाणिक तथ्य सुलभ करती है - सहज, अनायास और बिना किसी तरह की फलासक्ति के।

यह आत्मकथ्य नहीं है ; उससे नितान्त भिन्न, और फिर भी अक्षरशः एक जीती-जागती आत्मा की कथा है - तमाम आत्मकथाओं से विलक्षण, अभूतपूर्व और अभूतपश्चात्। गौर करने की बात है कि कृष्णमूर्ति यहाँ कहीं भी योग की बात नहीं करते - जहाँ भी ऐसा कोई सन्दर्भ आता है बातचीत में, वे सर्वथा

निस्संग-उदासीन-निर्लिप्त भाव आख़्तियार कर लेते हैं। परन्तु तब फिर इस नोटबुक पर छायी हुई वह तथ्यात्मकता, जिसे उन्होंने 'प्रोसेस' नाम दिया है, और दूसरी ओर वह उससे भिन्न और स्वतन्त्र प्रतीत होने वाली 'अन्यता' क्या है? प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या? यह दैनन्दिनी आप अपना प्रमाण है - उस सारवत्ता के असन्दिग्ध तथ्य का, जो कृष्णमूर्ति के समस्त जीवन-कार्य की, उनकी शिक्षाओं की भी पृष्ठभूमि में कार्यरत प्रेरणा का जीवन्त स्रोत और दस्तावेज है।

इस नोटबुक की दूसरी उतनी ही विलक्षण विशेषता है 'प्रकृति' के साथ कृष्णमूर्ति की अन्तरंगता। इस 'प्रकृति' में उनका परिवेश पूरी तरह मूर्तिमान् होता है- पेड़ पौधे, पहाड़ियाँ, नदी, समुद्र, खेत, आकाश, मेघमालाएँ और नक्षत्र ही नहीं, बल्कि वह जीवन्त मानवीय परिदृश्य भी, जिसे वे अचूक संवेदनशीलता के साथ यथावत् दर्ज करते चलते हैं अनायास। इसे यों भी समझ सकते हैं, कि कृष्णमूर्ति की यह नोटबुक 'प्रकृति' और 'पुरूष' दोनों के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की प्रामाणिक अनुभूतियों का भी जीवन्त दस्तावेज है, जिससे तुलनीय, कोई भी पारम्परिक अथवा आधुनिक उदाहरण ढूँढना दुष्कर है। मात्र एक उदाहरण, १ दिसम्बर १९६१ की प्रविष्टि का पर्याप्त होगा। इस द्विविध विलक्षणता को उजागर देख पाने के लिए। उसे यहाँ उद्धृत करना यों तो अनावश्यक है, क्योंकि वह तो यहाँ है ही। पर उसे इस वक्तव्य के ज़रूरी हिस्से की तरह इस ख़ास सन्दर्भ में भी रेखांकित किया जा सकता है। ...

'.... सड़क पार होती रही ... खजूर के पेड़ों, धानखेतों, झोपड़ों इत्यादि से गुज़रती रही .... और अकस्मात् हमेशा की तरह, अयाचित-अप्रत्याशित ढंग से वह 'अन्यता' वहाँ ऐसी अपरम्पार पावनता और शक्ति के साथ प्रकट हो गयी, जिसे किसी भी विचारधारा का पागलपन कभी भी सूत्रबद्ध नहीं कर सकता। ... वह वहाँ साक्षात् प्रकट थी - वह सर्वथा नित्य-नूतन अन्यता; और तुम्हारा अन्तःकरण एक अनूठे आनन्दातिरेक का निरन्तर विस्फोट था। ... दिमाग पूरी तरह चुप और निश्चेष्ट था, किन्तु पूर्णतः संवेदनशील और साक्षी भी - उस सब का, जो वहाँ घटित हो रहा था। वह सीधे शून्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता था क्योंकि आखिर वह था तो दिमाग ही - काल का क़ैदी। किन्तु काल तो खुद ही ठहर गया था, इसीलिए दिमाग भी निश्चल हो गया था-एकदम खामोश-निःस्तब्ध। बिना किसी अभीप्सा या आग्रह के। और यह सम्पूर्णता-समग्रता हर जगह प्रविष्ट हो गयी। बाकी सारी चीज़ों की अपनी स्पेस, अपनी जगह है, परन्तु इसकी नहीं। इसलिए इसे उस तरह थाहा और पाया नहीं जा सकता। तुम कुछ भी कर लो, इसके लिए जगह नहीं निकाल सकते। यह न तो बाज़ार में सुलभ हो सकती है, न किसी मन्दिर या मठ में। वह सब कुछ जो तुम्हारा जाना-पहचाना है, उसे पूरी तरह ध्वस्त कर देना पड़ेगा ... तभी यह अज्ञात सत्ता इधर से गुज़र सकेगी। ... बहरहाल, वह वहाँ थी। और सौन्दर्य भी।' आगे इसी सिलसिले में कृष्णमूर्ति यह भी कहते हैं कि ... 'म्युटेशन,' अर्थात् सम्पूर्ण क्रान्ति तभी सम्भव है, जब हर तथाकथित परिवर्तन, यानी समय का हर विन्यास झूठ ही है, इस तथ्य को आर-पार और साफ़-साफ़ देख

लिया जाता है। तभी, उस झूठ के सम्पूर्ण परित्याग के भीतर से ही वह रूपान्तरण, वह 'म्युटेशन' घटित होता है।

अन्त में, सारांश यही, कि 'यह नोट बुक' बीजग्रन्थ है कृष्णमूर्ति के जीवन-कार्य को, उनके जीवन व्यापी लोकशिक्षण को प्रेरित और आलोकित करने वाला। जो किसी भी कारण या टिप्पणी की अपेक्षा से मुक्त उनके जीवन-दर्शन का स्वतः प्रमाण, स्वतःस्फूर्त आधार और प्रेरणास्रोत है। कहने की जरूरत नहीं, कि यही प्रतीति इस अनुवाद के अध्यवसाय की प्रेरणा बनी। आशा है हिन्दी समाज इससे लाभान्वित होगा। अनुवादक का प्रेम-परिश्रम भी तभी सार्थक होगा।

रमेशचन्द्र शाह

दो समीक्षाएँ

मिथलेश शरण चौबे

लिखकर कहते हैं

> आज कुछ है, कोई चीज ज़रूर है जो तीखे यथार्थ-बोध से अधिक कुछ की माँग करती है ताकि जो कुछ कवि के कवि होने में निहित है वह हो सके, यह मनुष्य से सीधे नंगे-बदन साक्षात्कार की खोज है और यह खोज निर्णय लेने की एक आन्तरिक ज़िम्मेदारी के साथ रचना प्रक्रिया के खतरों के साथ ही कोई साहित्यिक महत्त्व की खोज हो सकती है।
>
> रघुवीर सहाय

हर समय की अपनी त्रासदियाँ होती हैं, इस अर्थ में हमारे हिस्से हमारे समय की भयावहता का सामना करना घट रहा है, जैसे कुछ मनुष्य हमेशा ही थोपे जा रहे चलन के विरुद्ध मुखर होते हैं, वैसे ही वर्तमान में भी हैं, भले ही वे अत्यल्पसंख्यक हैं। इस सबके बीच ही निरन्तर साहित्य रचा जाता है और उसमें भी मनुष्यत्त्व की प्रतिष्ठा की आकांक्षा अपनी-अपनी तरह से लेखक व्यक्त करते हैं। कुछ लोग दोनों भूमिकाओं का निर्वाह कर रहे होते हैं। उनके लेखन में तो अपने समय की विद्रूपताओं, हाशिए पर ठेल दिए गए समाजों के साथ बरती जाती असहिष्णुता, प्रमुख आसन्न संकटों के प्रति उदासीनता आदि पर तीव्र प्रतिरोध के स्वर मिलते ही हैं। सार्वजनिक वक्तव्यों, आये दिन होती हिंस्र आक्रामक घटनाओं पर सक्रिय कार्यावाहियों के द्वारा भी उनका अनिवार्य नागरिक हस्तक्षेप प्रकट होता है। हालाँकि बहुसंख्यक समाज जिस तरह अपने समय की क्रूरताओं को सहजता से लेता है, वह ऐसे हस्तक्षेपों से कोई इत्तेफाक नहीं रखता। उसे यह सक्रिय प्रतिरोध बौद्धिकों का एक बेमानी उपक्रम ही लगता है।

ठीक इसी जगह यह सवाल उठता है कि आखिर फिर साहित्य क्यों ? या हमने यह मान लिया है कि साहित्य में तो आप सवाल उठाते रहें, क्रूरताओं पर अफ़सोस करें और बेहतर का स्वप्न रचें लेकिन सामाजिक क्रियाशीलता में ऐसा कुछ न करें जो इनका प्रत्यक्ष प्रतिकार जान पड़े। यह दोहरापन ही क्या हमारा सार्वजनिक चरित्र नहीं बन गया है ? तब तो यह भी स्पष्ट है कि साहित्य की भूमिका किताब में दर्ज होना ही है या फिर

किसी सम्भावित डर के चलते सत्ताओं और उनके अन्ध अनुकर्त्ताओं ने ऐसी दुर्व्याख्या का प्रसार कर साहित्य से उसके होने की अर्थवत्ता को ही छीन लेने का सुनियोजित काम शुरू कर दिया है। इसे दूसरे शब्दों में इस तरह भी कहा जा सकता है कि हमने किसी पवित्र स्थल में बैठकर थोड़ी देर प्रार्थना करने के बाद अपने समय की सारी कुरूपताओं पर आँख बन्द कर लेने की वैधता हासिल कर ली है।

लेकिन साहित्य इन डरों से शंकित सत्ताओं से भी नहीं डरता। वह भले ही कोई फौरी व फौज़ी किस्म की निर्णायक कार्यवाही नहीं कर सकता हो लेकिन उसकी सजग-सक्रिय उपस्थिति ही क्रूरताओं का निपट प्रतिरोध है। साहित्यकार को इस कर्म का अनिवार्यतः निर्वाह करना होता है कि उसके रचे हुए साहित्य से समाज में सरलीकृत और सामान्यीकृत मान ली गयी कठोरताओं का संवरण मिल सके। प्रतिरोध में असमर्थ मनुष्य भी अपने होने की आस्था उसमें पा सकें। साहित्य क्रूरताओं का मुखर प्रतिपक्ष बना रहे।

कवि-कथाकार-प्रवचनकर्ता ध्रुव शुक्ल के सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर से प्रकाशित नये कविता संग्रह **सुनो भारत** पढ़ते हुए इस तरह की बहुत सारी बातें विचार में आती हैं। ध्रुव की कविता वैसे भी अपनी मुखरता से ही ध्यानाकृष्ट करती है, इस संग्रह में यह मुखरता कुछ ज़्यादा ही मुखरित हुई है। संग्रह के शीर्षक से ही मुखर मुद्रा की आहट सुनायी पड़ती है। इस मुखरता का भाव एक-सा नहीं है। जैसे-जैसे कविताएँ पढ़ते जाते हैं, चिन्ता, अफ़सोस, विलाप, छटपटाहट, निरर्थकता बोध, विफलता और रचना संघर्ष जैसी बहुविध ध्वनियों-सी प्रकट होती हैं। स्मृति और कल्पना के कवि का यह वर्तमान सम्बोधित रूप यदि ध्यानाकर्षित करता है तो सिर्फ़ इसलिए नहीं कि वह यथार्थ की कुरूपताओं की शल्य क्रिया कर हमें किंचित चौंकाते हुए एक भिन्न काव्यास्वाद का अनुभव कराता है, बल्कि इसलिए कि वह टुकड़ों-टुकड़ों में व्यक्त होते यथार्थ की प्रचलित काव्य चेष्टा के बरक्स हमारे समय को समग्रता से उसकी समूची वंचनाओं के साथ प्रतिकृत कर रहा है -

\- - - -

कवि हमारे समय की ऊपरी चमक-दमक पर केन्द्रित जीवन शैली में मनुष्य होने की सुगन्ध न होने, दिखावट की तत्परता में आन्तरिक सौन्दर्य के लोप होने पर गहरा अफ़सोस व्यक्त करता है, यह क्रम बढ़ते-बढ़ते इतना ज़्यादा भयावह हो चुका है कि हमारी चीजें, हमारे रिश्ते, हमारे प्रतिमान भी ढह गये हैं स्मृति भी छीज रही है। हमने अपनी करतूतों से जो दुनिया बना ली है, वह अब हमारे ही लायक नहीं रही-

दुःख से ही घर छा लेते थे
कभी अकेले गा लेते थे
दुख गाने लायक नहीं बचा

इसी स्थिति से एक व्यर्थपन का बोध आता है-

जिस जीवन को नहीं जानते
उस जीवन को जीते हैं
जिस जीवन से भर सकते हैं
उस जीवन से रीते हैं
जिस जीवन में सूख रहे हैं
उस जीवन को पीते हैं
जिस जीवन से हार गये हैं
उससे भी गये-बीते हैं

यह समय हमारी आपसदारी में आयी विरलता और अविश्वास का तो साक्ष्य है ही, सामजिकता के प्रतिमानों के पतन का भी प्रमाण है, ज़ाहिर है कि राजनीति भी इसी मूल्यहीनता का पल्लवन है, राजनैतिक दलों का काम 'दुर्नीति पर चलें, नीति पर चर्चा बनाये रखें' (श्रीकान्त वर्मा) से बहुत आगे पहुँच चुका है। वे साधारण मनुष्य के विचार से पूरी तरह मुक्त हैं, उनमें से कुछ श्रेष्ठता प्रदर्शन के लिए हिंसा और दुर्व्याख्याओं को आसान अस्त्रों की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं :

कोई एक सूखती जाती नदी है
जिसमें डुबकी लेते हुए
फिसलती जा रही है कोई भीड़
नदी के कीचड़ में
धँसते जा रहे हैं लोग
बुदबुदा रहे हैं कोई मन्त्र
भाजपा भाकपा इंका राकपा
जपा सपा लोजपा बसपा
कोई नहीं सुनता, सब बेवफा

कवि का अफ़सोस यह नहीं है कि राजनीति इतनी ग़ैरजवाबदेह और मनुष्यता विरोधी होती जा रही है, वह जिन हाथों में पल रही है, उसका यह चरित्र स्वाभाविक ही है असली अफ़सोस देश की उस बहुसंख्यक आबादी से है जिसकी वोट देने के अलावा कोई सहभागिता राजनीति से नहीं है और वही राजनीति को केन्द्रीय मान लेने की आत्मसमर्पित निरुपाय स्थिति में सहजता से आ चुका है, राजनेताओं के विभाजनकारी अस्त्रों को अपने पक्ष में होने की रुग्ण मनोदशा से नहीं उबरना उसकी नियति बन चुकी है-

बदल गये हैं बीज देश के
बिलख रहे हैं यहाँ किसान
हुनरमन्द असहाय देश के
दो रोटी में अटकी जान

अकड़ रहे देश के नेता
पकड़े परदेशी का हाथ
देश बँट गया जात-पाँत में
कोई नहीं है सबके साथ

दरअसल जनता को भ्रमों, सार्थक जनहितैषी के बजाए बेमानी लोकप्रिय योजनाओं, वैश्विक चमक आदि के दिखावे से लुभाने की कोशिशें राजनैतिक दल करते ही हैं, वे भावनात्मक कुचक्रों और जाति-धर्म-वर्ग-भाषा आदि की संकीर्णता के सहारे अपने पक्ष में उनका अचूक इस्तेमाल भी करते है, वास्तविक और बुनियादी समस्याओं की भीषणता को तमाम सहयोगी माध्यमों से ढँकते-झुठलाते हुए आम मनुष्य के विवेक को निष्क्रिय बना देना उनका सबसे कारगर अस्त्र हैः ध्रुव एक सुन्दर कविता में, एक सुन्दर-से प्रतीक से हमारे इस्तेमाल होने से बचने का आग्रह करते हैं :

आप बाँस के बीज
सम्भलकर रखिए
कोई कहीं आपको बो दे
जब ऊँचाई मिले आपको

अपना झण्डा पो दे
बनें किसी की छड़ी आप
पड़ें किसी को
कोई बिचारा रो दे

जनता को भीड़ में तब्दील कर अपने मतलब का माहौल निर्मित करने का खेल जब इन दिनों इतना ज़्यादा बढ़ चुका है कि सोशल मीडिया में गालियाँ और राष्ट्रद्रोही के आक्षेप सामान्य हो चले हैं, यह कविता बिना लाग लपेट अपनी निजता को हर हालत में बचाने की कवि सदिच्छा व्यक्त करती है, आखिरकार यही वह बुनियादी जगह है जिसमें ही तमाम सम्भावनाएँ हैं, स्वतन्त्र विवेक की यही प्रस्तावना हमें राजनीति के नाम पर बहुधा होती रहती दुर्नीति से बचा सकती है। हम अपनी जरूरतों, समस्याओं, निराकरण के रास्तों और प्राथमिकताओं को खुद ही तय नहीं कर पाये तो जिन्हें हम निर्णय की जवाबदेही सौंपने चुनते हैं, वे कैसे सही चुने जायेंगे-

अपने नाप के प्रतिनिधि
अगर चुने जाएँ
तो सबके काम आ सकती है
संसद भी

सामाज की विवेकहीनता और राजनीति की ग़ैरजिम्मेदारी का असर हमारे पूरे जीवन पर भयानक रूप से पड़ता है। हम तात्कालिकता में जीने वाले, आत्मकेन्द्रित, अपने आसन्न स्वार्थ के लिए अन्य मनुष्यों के हितों की अनदेखी करने वाले, समस्त जड़-चेतन के सहकार की पारम्परिक सम्यक दृष्टि से च्युत ऐसी दौड़ की भीड़ में तेज़ी से बदल रहे हैं कि हमारा वर्तमान तो इस सबसे अस्थिर-अशान्त-निरर्थक है ही, भविष्य के लिए भी हम एक कुरूप दुनिया की प्रस्तावना बन रहे हैं। प्रकृति के प्रति हमारा उपभोगी और अदूरदर्शी व्यवहार कवि को विचलित करता है, 'हम मनुष्यों ने अपनी अकेले की झूठी सत्ता का दम्भ इतना ज़्यादा बढ़ने दिया है कि जिन चीज़ों के बिना हमारा होना,बचे रहना ही सम्भव नहीं वे ही हमारी ज़्यादितियों की सबसे अधिक शिकार हैं। वृक्षों और पानी के स्रोतों को बचाने के मानवीय कर्म के बजाए हमने तथाकथित दिखावे की उन्नति के आधुनिक प्रतीकों के लिए उन्हें निरन्तर नष्ट किया है। हमने पक्षियों-जानवरों की दुनिया का इस कदर अतिक्रमण किया कि उनकी अनेक प्रजातियाँ ही विलुप्त हो गयीं।'

एक वृक्ष था कभी यहाँ जो सूख गया
बरन-बरन के पंछी उस पर बसते थे
भेद-भाव से भरी हुई इस बस्ती में
आपस में विश्वास नहीं करता कोई
सूख गयी जो यहाँ कभी थी एक नदी
नौकाएँ चलती सब पार उतरते थे
मरे हुए पानी में डूबी आँखों से
बात जोहते रहते हैं बरसात की

हम अपने जीवन की प्रकृति से गहरी सम्बद्धता का जीवनदायी सच नकारने की कुचेष्टा लगातार कर रहे हैं, पानी, वृक्ष, गाय आदि पर अपनी कुछ कविताओं में कवि न केवल हमारे समय का कुरूप सच ही प्रकट करता हैं बल्कि प्रकृति से मनुष्य के अविभाज्य रिश्ते के पुनर्स्मरण से हमें आगाह भी करते हैं। कवि इस रिश्ते की सघनता को यादकर आनेवाली पीढ़ी के लिए प्रकृति से आत्मीय रिश्ते के निर्वाह की प्रार्थना कर हममें पुनर्विचार की सम्भावना ही ढूँढ रहा है :

जितना जीवन आये मेरे बाद
उसके समर्थन में
घूमती रहे पृथ्वी
उसके पक्ष में
बहती रहें हवाएँ
उसे मार्ग दिखाता रहे सूर्य
उस पर छाया रहे पूरा आकाश
अपनी नौका लेकर
जब वह जाए नदी किनारे
उसे पार उतारने के लिए
जल उसका समर्थन करे

यह समय अपनी जिन अच्छी-बुरी बातों के लिए याद रहेगा, उनमें से 'चुप रह जाना' उल्लेखनीय है। यह अपनी कायरता, चतुराई, किसी की सहायता नहीं करने की निजी क्रूर रणनीति हो सकती है- परिदृश्य में उभरते वर्चस्व के आतंक पर निरुपाय होना भी है 'बड़े-बड़े झूठ इतने शोरगुल के साथ प्रचारित किये जाते हैं कि लगता है अपने छोटे-से सच का अनसुना रह जाना ही नियति है, कुछ चुप्पियाँ इसलिए भी होती हैं। कवि इस समय को 'भेद खोलने का समय' मानता हैं जिसमें खुले आम बोलना ही चाहिए। उसे इस बात की चिन्ता है कि नहीं बोलने से न केवल हमारी बोलियाँ ही मिटती जा रही हैं बल्कि आतंक की आवाजें ज़्यादा सुनायी देने लगी हैं। कवि का अभिव्यक्ति पर इतना ज़्यादा भरोसा और आग्रह है कि उसके बहुत सारे तरीकों की विविध व्यंजनाओं पर ही एक सुन्दर कविता यहाँ मौजूद है- 'बोलचाल'।

हम सब व्यक्त होने की छटपटाहट से भरे रहते हैं। हमारे हर्ष और शोक, उलाहने और सलाहें, चिंताएँ और मजबूरियाँ, प्रेम और ईर्ष्या ये सब चुप्पियों की खोह से बाहर आने की आतुर, ललक से भरे होते हैं। इन्हें व्यक्त करते ही हम अकेले नहीं रह जाते, हमारी सामाजिक अन्तःक्रिया की धुरी बहुधा हमारी अभिव्यक्ति ही होती है। हम स्वतन्त्र व जागरूक मनुष्य तभी बने रह सकते हैं जब हम बोलने के इन प्रारूपों से निरन्तर और दो-टूक व्यक्त हो पाते हैं-

बोल-बोलकर सब कहते
कुछ लिखकर कहते हैं
कुछ कहते रहते मन ही मन
कुछ दिखकर कहते हैं
कुछ बहकर कहते हैं
कुछ भरकर कहते हैं
कुछ रहते हैं गुपचुप
ज़रा ठहरकर कहते हैं

कुछ कहते हैं बेहतर
कुछ कमतर कहते हैं
जब कहते हैं रमकर
फिर जमकर कहते हैं

ऐसा कोई नहीं
कि जिसको कहने को न हो
इसके-उसके साथ कहीं
कुछ सहने को न हो

वे कविताएँ जिनमें समय की आसन्न चिन्ताएँ ज़्यादा मुखरित होती हैं, कवि के लिए सम्भवतः अधिक मुश्किल रहती हैं। एक तरफ जीवन यथार्थ की कठोरताएँ तो दूसरी तरफ कविता के विन्यास की विनम्रता। कविता इस निर्वाह में बहुधा बहुत कमतर कविता रह जाती है। विचार और नारेबाजी इन कविताओं के अन्तिम निहितार्थ होते हैं। 'सुनो भारत' की कविताओं का तेवर तो वही है लेकिन इस उल्लेखनीय आशंका से मुक्त भी। इन कविताओं को पढ़ते हुए यह आभास लगातार होता है कि कोई इन्हें खुद ही गा रहा है, आत्मप्रलाप की तरह, इनमें सुनाने की व्यग्रता नहीं है, खुद गुनने, अफ़सोस करने और अपनी जीवन लय से उसकी संगति बिठाने की व्यग्रता है। दूसरों पर निर्णय देने की अधीरता के बजाए खुद की जवाबदेही पर प्रश्नांकन है। इसीलिये कविता की लय को पकड़ती जीवन लय तथा जीवन लय को प्रतिकृत करती कविता यहाँ सम्भव हो सकी है। 'सुनो भारत' में एक सम्बोधन कवि का खुद के लिए भी है।

ध्रुव शुक्ल की इन कविताओं को हमारे समय के अनिवार्य हस्तक्षेप की तरह तो पढ़ा ही जाना चाहिए, इसलिए भी इन्हें पढ़ा जाना ज़रूरी है ताकि हम जान सकें कि प्रत्यक्ष के सम्बोधन में भी समृद्ध कविता सम्भव हो सकती है।

भिन्नता के अर्थ में

प्रस्ताव :

हिंदी की बहुसंख्यक युवा कविता इस कदर यथार्थ आग्रही है कि उसमें स्मृति और कल्पना जैसे कविता के सबसे भरोसेमन्द, उर्वर और अन्यों को सहयात्री मानने व बनाने वाले सृजनात्मक प्रत्यय लगभग नदारद हैं। स्मृति और कल्पना की न्यूनता में क्या श्रेष्ठ सृजनात्मक कर्म सम्भव है ? अपने समय में घटित का सूक्ष्म, सघन व संवेदनशील वर्णन तो कुछ पत्रकार और ब्लॉगर ज़्यादा निपटता से करते हैं। उनके गद्य और हिन्दी कविता में क्या फ़र्क की उम्मीद नहीं करना चाहिए। कविता इतनी कमज़ोर कैसे हो सकती है कि वह सीमित शब्दों से बनी पंक्तियों का समुच्चय बनकर रह जाए। वह ख़बर की तरह सिर्फ़ तात्कालिक ही हमें अपने में शामिल कर

सके। कविता की ज़िन्दगी इतनी छोटी, फिर वह कविता कैसे ?

क्या कविता सिर्फ़ कुछ व्यक्त करने की छटपटाहट ही हो पाती है ? तब तो भाषणों में, रोज़मर्रा में घटित के हर्ष-भरे या दारुण वर्णनों में और कविता में कोई बुनियादी फ़र्क नहीं है।

रोज़मर्रा के जीवन व्यवहार में बरते जाने वाली भाषा, उसके शब्द यदि कविता में भी उसी सामान्य अर्थ के वाहक रहें, किन्हीं नये व भिन्न अर्थों को सम्भव न कर सकें, तो फिर कविता की ये झंझट क्यों ?

भाषा और अनुभव, स्मृति और कल्पना, विचार और कलात्मकता – इन सभी की भिन्नता और इन सबको व्यक्त करने की भिन्नता की उम्मीद क्या किसी सृजनात्मक चेष्टा से नहीं की जानी चाहिए ? सब कुछ पहले ही कहा जा चुका है, इस अर्थ में हम भले ही मौलिक न हों, लेकिन कहे जा चुके को फिर कहते हुए, हमारा फिर से कहना, क्या एक भिन्नता की माँग नहीं करता ?

सारी सृजनात्मक कलाओं के बारे में, उनकी संरचना, सूक्ष्मता, कौशल, संधान, रियाज़, अनुभव, नवता, परम्परा और व्याप्ति आदि सभी कुछ भाषा में बताया जाता है। भले ही समग्रता से सम्भव न हो लेकिन बहुत हद तक भाषाएँ अन्य कलाओं को व्यक्त करती हैं। भाषा का अनुभव अपनी इस व्याप्ति के कारण कुछ ज़्यादा ही विस्तृत हो पाता है। यदि कवि अन्य कलाओं का रसिक हो या भाषा की इस समृद्धि को समझ रहा हो, तो अन्ततः उसे ही भाषा के अनुभव का विस्तार मिल सकता है। इन दिनों की अधिकांश कविताएँ इस बात का असंदिग्ध साक्ष्य हैं कि कवि साहित्य के परिसर से बाहर भाषा का विस्तार देखने नहीं जाते।

हम सभी अन्यों से सीखते हैं, हमारे पास जो उपलब्ध है, जैसे- परम्परा, समकाल। इनमें जो कुछ भी हमारी रुचि या आग्रहों के ज़्यादा नज़दीक होता है, या यूँ कहें कि हम जिनके ज़्यादा नज़दीक होते हैं, उनका अनायास ही हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव न केवल हमेशा सकारात्मक होता है, न नकारात्मक। यदि इस प्रभाव से हम श्रेष्ठता की कोटियाँ अर्जित कर सकें, तो यह सकारात्मक हो सकेगा। यदि हमने दूसरों की तरह व्यक्त होने को अपना लिया है तो यह हमारी सृजनात्मक सम्भावना को बेहद कमज़ोर, अनाकर्षक और अनुल्लेखनीय बना देगा। क्या यह सम्भव है कि कोई नया अपने से पहले के सृजनधर्मियों से सीख तो रहा हो लेकिन उसके किसी भी रचनात्मक उपक्रम पर पूर्ववर्तियों की वैसी छाप न हो जो उसके निजत्व को खरोंच दे? यह गहन अध्यवसाय और सहज सृजनाकांक्षा से ही सम्भव है।

पाठ :

स्मृति, काव्य संग्रह 'थरथराहट' की कविताओं की प्रमुख काव्य शक्ति है। इन कविताओं में हम अन्य समयों की उल्लेखनीय आवाजाही पाते हैं। इतिहास और मिथकों तक की आवाजाही वर्तमान के प्रति अधिक सजगता,

संवेदना और चिन्ता प्रकट करती है। इस कवायद में अपने समय की अपर्याप्तता का छिछला दुख नहीं, अपने समय को सही व्याख्यायित करने का नैतिक उपक्रम शामिल है। जैसे वाल्मीकि छूटे हुए, खोए हुए, छिपे हुए को निराला में राम की शक्तिपूजा लिखकर, अपनी प्रतीक्षा की थकान थोड़ी कम महसूस कर, पाते हैं। या फिर अश्वत्थामा का भागना, हमारे भागने और समय के बीतने की अफ़सोसजनक, प्रश्नाकुल और न्यूनताबोध से सामना करती निपट सच्चाई है :

ऐसा ही होता है
समय में भागता अश्वत्थामा
भूल जाएगा कि वह क्यों भागता है
भागना ही बच जाएगा, सब ख़त्म हो जाएगा

स्मृतियों का यह संसार परम्परा, साहित्य, इतिहास, कलाओं, प्रश्नों, भिन्नताओं, महापुरुषों, सफल-विफल योद्धाओं, परिवार, रिश्तों-पिता, ताऊ, ताई, माँ आदि का समुच्चय है।

इन कविताओं में कवि का व्यक्त होना एक ज़िम्मेदार मनुष्य का समूची नैतिकता के साथ, कई समयों की उपस्थिति में अपने समय को जानना, प्रश्नांकित करना, उसकी क्रूरताओं के लिए भागीदारी स्वीकार करना, सुन्दर के स्वप्न और सृजनाकांक्षा की पीड़ा को एक साथ जी लेने जैसा लगता है। इन कविताओं में कहे गये से ज़्यादा की सम्भावना का पाठकीय सुख तो मौजूद है ही, साथ ही एक विचार प्रक्रिया का नैरन्तर्य भी सघन रूप से चलता है-

इस दुनिया में सत्य से छुटकारे की आड़ में
भागना ही सत्य की गरिमा है
...
क्योंकि मैं समझ नहीं पाता कि जीवन की
अर्थहीनता सहते हुए भी रोज़मर्रे की निराशा क्यों तोड़ देती है

भाषिक चिन्ता इन कविताओं का अनूठा स्वर है। आमतौर पर जिन कविताओं में भाषा पर विलाप होता है, उन्हीं में भाषा का बर्ताव उन चिन्ताओं से कोई इत्तेफ़ाक नहीं रखता। यहाँ सिर्फ़ लिखा नहीं गया, उसका निर्वाह भी है। शब्द प्रचलित अर्थों से मुक्त होने का साहस करते हैं। अन्य शब्दों से जुड़कर नये अर्थों को व्यक्त कर पाते हैं। उनकी अन्विति काव्याभास को संगति दे पाती है। कवि की भाषिक चिन्ता-व्यक्त करने से शुरू होकर, विचार करने, भाषा के माध्यम से हैसियत अर्जित करने और स्वतन्त्रता के प्रश्नों तक फैलती है :

खुद की पैरवी करते हुए
हम थक गये हैं
अपनी भाषा की कीमत पर
विद्वान बनने की कोशिश करते हुए भी

भाषा के प्रति सजगता और उसमें अपनी विचार प्रक्रिया के अन्योनाश्रयी रिश्ते की सघनता को कविताओं में मिलती सूक्तियाँ चरितार्थ करती हैं। भाषा और विचार की आत्मीय, पारदर्शी और काव्योचित जुगलबन्दी को प्रकट करती ये सूक्तियाँ कवि की विशेष उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं और कविकर्म की सार्थकता का प्रमाण भी :

हमें क्यों इच्छाएँ इतनी अधिक मिलीं
और कौशल इतना कम
...
आत्ममोह कलम से धार छीन लेता है
...
कविता वह समय है
जिसे इतिहास देख भले ले
पर दोहरा नहीं सकता
...
मानवीय होना सही होने से ज़्यादा ज़रूरी था
...
समय का विषाद जब वापस आता है
लिखना कायरता का क़स्बा लगता है
जीने से बचकर जीना
...
परिवार हममें
ऐसा गुँथ जाता है
जैसे गरीबी में भूख

इनमें प्रतीक, उपमा, रूपक भी बनते और बनते-बनते अधूरे से रह जाते हैं। यही बनना और कुछ शेष छोड़ देना कवि का मुहावरा है।

कलाओं को प्रत्यक्ष सम्बोधित व अप्रत्यक्ष ध्वनित दोनों ही तरह की कविताएँ, काव्य पंक्तियाँ इस संग्रह में मौजूद हैं जिनमें क्रूरता की परिणति से लेकर आत्मावलोकन तक को विस्तार मिला है–

बड़े उस्ताद विनम्रता से पीछे हो गये
फैयाज़ खां टूटी कब्र को समेटते हुए
लाचार हो गये
...
वह रास्ता लम्बा नहीं था
दो क़दम का था
बस आश्चर्य के साथ तय करना था
...
जब हम हर क्षेत्र में
प्राचीनत्व को ख़त्म कर रहे हैं तो
शुक्र है कि समय का एक अंश
मंसूर की आवाज़ तले महफूज़ है

कला से निकटता न केवल भाषिक अनुभवों का विस्तार करती है बल्कि नये अनुभवों के लिए नयी भाषिक संरचनाओं की निर्मिति भी सम्भव कराती है।

इन कविताओं को पढ़कर यदि कवि की परम्परा या उस पर प्रभावों के बारे में विचार करना हो तो यह आसान नहीं लगता। किसी के परिवार-कुटुम्ब में ही उसी विधा के एकाधिक सयाने सृजनधर्मी हों तो रचनाकार के समक्ष आसान मुश्किलें व मुश्किलों की आसानी दोनों ही तेज़ी से घटित होती हैं। स्वतः स्फूर्त सृजनात्मकता आवश्यक सीख लेकर अपना मार्ग बनाती है। साही, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश, अशोक वाजपेयी इन सभी के काव्य से 'कविता अनिवार्य सीख' जैसे कवि ने अर्जित की है लेकिन प्रभाव की स्थिति से पहले वे सब, कवि को अकेला छोड़ गये।

डाण्डी, विध्वंस की शताब्दी, तथास्तु, वाल्मीकि, शोकगीत कविताएँ समय के विस्तार, प्रश्नाकुलता, अफ़सोस, नियतिबोध, व्यर्थपन, मृत्युबोध, निरुपायता को उनके होने की निपटता के साथ व्यक्त करती हैं। गाँधी की दृष्टि और खिन्नता, वाल्मीकि की प्रतीक्षा और थकान, जीवन से ज़्यादा मृत्यु से आक्रान्त अभिमन्यु और इन सबको इनके होने की तरह ही अपने निकट महसूस करते कवि का आत्मालाप, इन कविताओं को फिर-फिर

पढ़े जाने के लिए आकृष्ट करता है-

मैं उसी से बना हूँ
जो ढह जाता है
...
मैं वह कीड़ा हूँ
जो बार-बार दीवार पर
चढ़कर गिर जाता है
...
विचार उग नहीं पाते
सपने थक जाते हैं

ये पंक्तियाँ कविकर्म और काव्य प्रक्रिया के सहज, स्वाभाविक और काव्योत्सुक होने का संकेत तो ज़ाहिर करती ही हैं, बेचैन प्रश्नाकुलता से भरे एक नैतिक मनुष्य के होने का भी आभास कराती हैं; जो स्मृति और भाषा, विचार और भाषा, नैतिकता और भाषा, मनुष्य और भाषा, कलात्मक और भाषा जैसे सहज युग्मों का युग्म ही प्रतिकृत करना चाह रहा है, जिसकी आकांक्षा में सिर्फ़ इतना ही है-

मुझे भ्रम दो कि किसी कविता से

संरचना हो सकती है नक्षत्रों की

ढेर सारी अच्छी और कमज़ोर कविताओं के निरन्तर प्रकाशन के समय भी हमें कुछ और कविताओं की दरकार रहती है। हमारा रसिकाग्रह कविताओं को पढ़ने से लेकर उसके अर्थों व संरचना में, उसमें व्यक्त निजी व सार्वजनिक में, उसकी भाषिक गरिमा व काव्य कौशल में, उसकी कल्पना में, स्मृति में, विन्यास में, विचार में, लय में, ठहराव में, तनाव में, अनाश्वस्ति की नाउम्मीदी में; कुछ ऐसा पाना चाहता है जो अब तक के अनुभव से न केवल भिन्न हो बल्कि कविता से हमारे रिश्ते को किंचित यकीन के रिश्ते की ओर ले जाने का आभास कराये। इस अर्थ में कवि आस्तीक वाजपेयी का पहला कविता संग्रह 'थरथराहट' सचमुच हममें थरथराहट पैदा करता है, भिन्नता के इस अर्थ में इसे ज़रूर पढ़ा जाना चाहिए।

लेखक परिचय

वागीश शुक्ल – हिन्दी के सबसे गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक और उपन्यासकार। इनकी दो पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। यह टीका निराला की इस महत्वकांक्षी कविता को भारतीय साहित्य की देशी और मार्गी परम्परा के परिवेश में अवस्थित कर उसकी अर्थ समृद्धि को सहज उद्घाटित करती है। वागीश जी ने ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की विस्तृत टीका लिख रखी है, जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं जिसके कुछ अंश समास- छः और पन्द्रह में प्रकाशित हुए हैं। आप इन दिनों बस्ती (उ.प्र.) में रहते हैं।

अमित दत्ता - देश के सम्भवतः सबसे अधिक कल्पनाशील और गहन फ़िल्मकार। पुणे के भारतीय फ़िल्म एवं टेलीविजन संस्थान के स्नातक। कला, इतिहास और सिनेमा माध्यम की वैकल्पिक सम्भावनाओं को लेकर कई फ़िल्में बनायी हैं जिनमें क्रमशः, नैनसुख, चित्रशाला, गीतगोविन्द, रामखिन्द, पूर्ण/अपूर्ण, आदमी की औरत एवं अन्य कहानियाँ, सातवाँ रास्ता और अज्ञात शिल्पी प्रमुख हैं। अमित की फ़िल्मों को कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले हैं जिनमें मुम्बई अन्तर्राष्ट्रीय में सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म का गोल्डन कोंच पुरस्कार और चार राष्ट्रीय रजत कमल पुरस्कार शामिल हैं। इनकी फ़िल्में अनेक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोहों और कला संग्रहालयों में दिखायी जाती रही हैं। इनकी फ़िल्मों का पुनरावलोकी समारोह पेरिस, बर्कले, केलिफोर्निया, ओबरहाउजेन, लुगानो (स्विट्ज़रलैण्ड) आदि स्थानों के प्रतिष्ठित समारोहों में हुए हैं। इनके उपन्यास कालजयी कमबख़्त को कृष्ण बलदेव वैद पुरस्कार मिला है। इनकी अँग्रेज़ी में लिखी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'खुद से कई सवाल' प्रकाशित 'इनविज़िबल वेब' इनकी नवीनतम पुस्तक है। पालमपुर (हिमाचल प्रदेश) में रहते हैं।

ख़ालिद जावेद – बरेली में कई साल तक दर्शन शास्त्र पढ़ाते रहे। फिर उर्दू में एम.ए., पीएच.डी. और इन दिनों जामिया मिल्लिया इस्लामिया में उर्दू के एसोसिएट प्रोफेसर हैं। ख़ालिद जावेद के दो कहानी संग्रह 'बुरे मौसम में' और 'आख़िरी दावत' और दो उपन्यास 'मौत की क़िताब' और 'नेमक ख़ाना' प्रकाशित हैं।

रामशंकर द्विवेदी – अनुवादक और समीक्षक। बांग्ला की श्रेष्ठ कृतियों का ४५ वर्षों से बांग्ला से हिन्दी में

निरन्तर अनुवाद। रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के सौन्दर्य बोध पर 'साहित्य और सौन्दर्य बोध' पुस्तक प्रकाशित। समास के पिछले कुछ अंकों में आपके किये अनुराधा महापात्र, जीवनानन्द दास आदि के अनुवाद प्रकाशित। महाश्वेता देवी के उपन्यास 'झाँसी की रानी' और सुनील गंगोपाध्याय की आत्मकथा 'अधूरा सफ़र' के अनुवाद। आप उरई (उ.प्र.) में रहते हैं।

रिज़वानुल हक़ – उर्दू के अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न युवा कथाकार। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली में अध्ययन। कहानी-संग्रह 'बाज़ार में तालिब' प्रकाशित। शोधकार्य 'उर्दू फ़िक्शन और सिनेमा' भी प्रकाशित। शमीम हनफ़ी के कई लेखों का उर्दू से हिन्दी में और कुछ कहानियों का अँग्रेज़ी से उर्दू में अनुवाद। उर्दू का अध यापन। भोपाल में रहते हैं।

मिथिलेश शरण चौबे – हिन्दी के युवा कवि और आलोचक। कुँवर नारायण पर आलोचना पुस्तक 'कुँवर नारायण का रचना संसार' प्रकाशित और कविता संग्रह 'लौटने के लिए जाना' हाल ही में प्रकाशित हुआ है। आपको 'मीरा सम्मान' और 'रमेश दत्त दुबे युवा रचनाकार सम्मान' मिले हैं। कई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और लेख प्रकाशित हुए हैं। 'समास' में सम्पादन सहयोग करते रहे हैं।

कुमार शहानी – भारत के महानतम् फ़िल्मकारों में गिने जाते हैं। सिनेमा पर गहरा विचार किया है। 'माया दर्पण', 'तरंग', 'कस्बा', 'भावान्तरण', 'चार अध्याय' इनकी प्रसिद्ध फ़िल्में हैं, जो भारत और विश्व के सिनेमा में कालजयी कृतियाँ मानी जाती हैं। कुमार संसार के बड़े सिनेमा-अध्यापक के रूप में सहज ही स्वीकृत हैं। इनकी फ़िल्मों को राष्ट्रीय पुरस्कार समेत कई भारतीय और 'प्रिंस क्लाउस' समेत कई अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हैं। 'समास' में प्रकाशित कुमार की यह कविता हिन्दी में उनकी चौथी कविता है। इन दिनों दिल्ली में रहते हैं।

ध्रुव शुक्ल – हिन्दी के कवि, कथाकार, उपन्यासकार और टिप्पणीकार। ध्रुव के कई कविता संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कतिवा वही कहानी' और 'एक बून्द का बादल' प्रमुख हैं। इनके दो उपन्यास 'उसी शहर में' और 'अमर टॉकीज', एक कहानी संग्रह 'हिचकी', सामयिक विषयों पर टिप्पणियों का संग्रह, 'एक नागरिक की डायरी', महात्मा गाँधी की प्रसिद्ध पुस्तक, 'हिन्द स्वराज' पर केन्द्रित सुदीर्घ निबन्ध, 'पूज्य पिता के सहज सत्य' आदि प्रकाशित हुए हैं। ध्रुव ने विख्यात रंग निर्देशक ब.व. कारन्त द्वारा निर्देशित कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में बुन्देली गीत लिखे हैं। ध्रुव को अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए है। हिन्दी साहित्य की पत्रिका, 'पूर्वग्रह' में सम्पादन सहयोग और 'साक्षात्कार' का सम्पादन किया है। आप भोपाल में रहते हैं।

पूनम अरोड़ा – हिन्दी की प्रतिभाशाली युवा कवि। आप कहानियाँ भी लिखती हैं। आपकी दो कहानियों 'आदि संगीत' और 'एक नूर से सब जग उपजे' को हरियाणा साहित्य अकादेमी का युवा पुरस्कार मिला है। एक पुरस्कृत कहानी 'नवम्बर की नीली रातें' वाणी प्रकाशन से प्रकाशित किताब में संग्रहीत हुई है। फ़रीदाबाद में रहती हैं।

मोतीलाल शास्त्री – आचार्य मधुसूदन ओझा के शिष्य श्री मोतीलाल शास्त्री संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान रहे हैं। आपने वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों पर अद्वितीय टीकाएँ लिखी हैं। आपने प्रचुर मात्रा में अपना लेखन अधिकतर संस्कृत भाषा में ही किया है। आपका केवल बीस प्रतिशत लेखन हिन्दी में है। आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल की प्रेरणा से आपने १९५३ में नयी दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के सम्मुख पाँच व्याख्यान दिये थे, उनमें से पहला व्याख्यान समास के इस अंक में प्रकाशित है। आप जयपुर में रहते थे।

जय गोस्वामी – बांग्ला के प्रसिद्ध कवि, निबन्धकार और कहानीकार। आप 'देश' पत्रिका के सम्पादकीय विभाग में कार्यरत थे। आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। आपकी कविताओं के अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए हैं।

मोनालिसा जेना – ओड़िया भाषा की विख्यात कवि। आपकी कई कविता पुस्तकें प्रकाशित हैं।

दुष्यन्त – आप हिन्दी के कवि हैं। मुम्बई में रहते हैं। आपने मोनालिसा जेना का ओड़िया से हिन्दी में अनुवाद किया है जिसकी पुस्तक भी प्रकाशित हैं।

किशोर कुमार जैन – पत्रकार एवं अनुवादक। असमिया से हिन्दी में अनुवाद करते रहे हैं। समास में कई अनुवाद प्रकाशित। गुवहाटी, आसाम में रहते हैं।

जे. कृष्णमूर्ति – बीसवीं सदी के महत्वपूर्ण विचारक।

रश्मि रामानी – सिन्धी की विख्यात कवि और अनुवादक। आपकी कई पुस्तकें सिन्धी और हिन्दी में प्रकाशित हैं। इन्दौर में रहती हैं।

रमेशचन्द्र शाह – हिन्दी वरिष्ठ निबन्धकार, कवि, उपन्यासकार एवं आलोचक। श्री शाह ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लेखन किया है। अज्ञेय साहित्य के मान्य विशेषज्ञ। इन्हें देश के कई प्रतिष्ठित सम्मान प्राप्त हुए हैं। भोपाल में रहते हैं।